१६८८ में सारी दुनिया महान रूसी लेखक और शिक्षा-शास्त्री लेव निकोलायेविच तोलस्तोय का १६०वां जन्मदिन (१८२८-१६१०) मनायेगी। साठ वर्ष के अथक सृजनात्मक श्रम के फलस्वरूप तोलस्तोय ने विराट साहित्यिक और शिक्षाशास्त्रीय विरासत की रचना की। बच्चों के मानसिक जगत के प्रगाढ़ जानकार, पालन और शिक्षा के क्षेत्र में निर्भय नवप्रवर्तक तथा बालोपयोगी पुस्तकों के रचयिता एवं संकलनकर्ता तोलस्तोय रूस के शिक्षा-जगत में एक मानवतावादी अध्यापक और प्रगतिशील शिक्षाशास्त्र, जिसका प्रमुख उद्देश्य बच्चों की सक्रियता तथा सृजनात्मक कार्य का विकास करना था, के अडिग पक्षपोषक के रूप में सामने आये।

उनके लेखों से संलग्न प्रस्तावना तथा टिप्पणियों में उनके शिक्षाशास्त्रीय दृष्टिकोण और पालन व शिक्षा संबंधी समस्याओं पर प्रकाश डाला गया है।

प्रगति प्रकाशन • मास्को

लेव तोलस्तोय शिक्षाशास्त्रीय रचनाएं

लेव तोलस्तोय
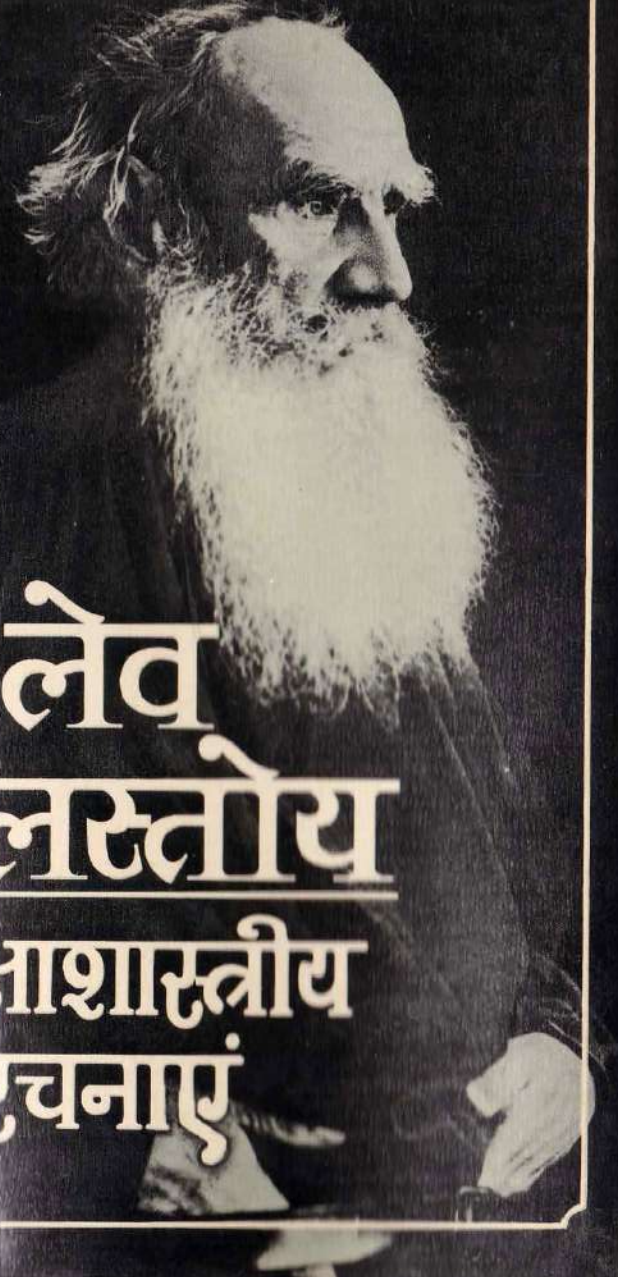
शिक्षाशास्त्रीय रचनाएं

लेव तोलस्तोय

शिक्षाशास्त्रीय रचनाएं

प्रगति प्रकाशन • मास्को

पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस (प्रा.) लिमिटेड
५ ई, रानी झांसी रोड, नई दिल्ली-११००५५

राजस्थान पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस (प्रा) लि.
चमेलीवाला मार्केट, एम.आई. रोड, जयपुर-302001

अनुवादक: बुद्धिप्रसाद भट्ट

संपादन और भूमिका: स० फ़० येगोरोव (डी० एस-सी०, शिक्षाशास्त्र)
संकलनकर्त्री: न० व० कुद्र्यावत्सेवा

Л. Н. Толстой
ПЕДАГОГИЧЕСКИЕ СОЧИНЕНИЯ
на языке хинди

L.N. Tolstoy
PEDAGOGICAL WORKS
In Hindi

सोवियत संघ में मुद्रित

T $\frac{4302000000-390}{014(01)-87}$ 361–87

विषय-सूची

लेव तोलस्तोय के शिक्षाशास्त्रीय विचार

महान रूसी साहित्यकार लेव निकोलायेविच तोलस्तोय (१८२८-१९१०) सारे विश्व में अपने उपन्यासों, नाटकों तथा कहानियों के लिए जाने जाते हैं, जो विश्व की बहुत सी भाषाओं में प्रकाशित होते हैं और समस्त मानव संस्कृति की अमर निधि माने जाते हैं। महान साहित्यकार की कलात्मक रचनाएं कोई डेढ़ सौ वर्षों से मानवजाति को उद्वेलित करती आ रही हैं।

इसमें आश्चर्य की कोई बात है भी नहीं। तोलस्तोय ने अपनी रचनाओं में शाश्वत, सबसे गूढ़ और मानव जीवन को सभी कालों में झकझोरनेवाले प्रश्न उठाये थे। रूपविधान की दृष्टि से अत्यंत परिष्कृत और अंतर्वस्तु की दृष्टि से बहुत समृद्ध लेव तोलस्तोय की रचनाएं आज भी हमारी कल्पना पर छाकर हमें अपने अस्तित्व के बारे में, आज के जीवन में मनुष्य के प्रयोजन के बारे में सोचने को विवश करती हैं।

किंतु विश्व साहित्य में यह तथ्य अपेक्षाकृत कम ज्ञात है कि लेव तोलस्तोय एक बड़े शिक्षा-सिद्धांतकार और बच्चों के शिक्षण तथा पालन के क्षेत्र में नये विचारों, नयी पद्धतियों के प्रवर्तक भी थे। गहन चिंतन, जीवनीय प्रेक्षणों और अथक सृजनात्मक श्रम ने महान विचारक को गंभीर शिक्षाशास्त्रीय निष्कर्षों पर पहुंचाया था।

तोलस्तोय के कृतित्व के कतिपय अध्येताओं का सोचना था कि उनका शैक्षिक कार्यकलाप एक अमीर रूसी जमींदार के अल्पकालीन शौक़ या कहें, तो "सनक" के अलावा और कुछ न था। मगर इस तरह के विचार वास्तविकता से तनिक भी मेल नहीं खाते। उन्होंने

अपने जीवन के बहुत वर्ष शिक्षा और पालन के क्षेत्र में अथक तलाशों में व्यतीत किये थे। जैसे उनकी साहित्यिक रचनाएं मानवजाति के कलात्मक विकास में उत्कर्ष की परिचायक थीं, वैसे ही उनकी शिक्षाशास्त्रीय रचनाएं पालन, शिक्षा और शिक्षण के विज्ञान में अनुपम योगदान का प्रतीक बनीं।

लेव तोलस्तोय की शिक्षाशास्त्रीय रचनाओं के संबंध में यह सदा याद रखा जाना चाहिए कि वह अपनी इन रचनाओं को साहित्यिक रचनाओं से अधिक मूल्यवान मानते थे, और यह बात उन्होंने बहुत बार कही थी। वह किस हद तक सही थे, इसका निर्णय आनेवाली पीढ़ियों को करना है। किंतु एक बात निर्विवाद है: उनके साहित्यिक और शिक्षाशास्त्रीय कृतित्व आपस में घनिष्ठ रूप से जुड़े हुए हैं। मनुष्य के मानस और आत्मा की गति में पैठ पाने की अपनी अनुपम योग्यता की बदौलत तोलस्तोय शैक्षिक प्रक्रियाओं का बहुमुखी अध्ययन कर सके और मनुष्य के स्वतंत्र तथा सर्वांगीण विकास के नये तरीक़े तथा साधन बता सके। तोलस्तोय के लेखों, पत्रों तथा डायरियों और उनके बारे में समकालीनों के संस्मरणों का अध्ययन करके हमारा यह विश्वास और दृढ़ बन जाता है कि तोलस्तोय रूसी तथा विश्व साहित्य के दिग्गज ही नहीं थे, बल्कि वह रूस और विदेशों की शिक्षाप्रणालियों के दूरदर्शी अध्येता भी थे। एक देहाती स्कूल के, जिसकी स्थापना उन्होंने स्वयं की थी, अध्यापक के रूप में उनका सारा व्यावहारिक कार्यकलाप उनकी सैद्धांतिक तलाशों का प्रमाण प्रस्तुत करता था।

शिक्षाशास्त्र के क्षेत्र में लेव तोलस्तोय के प्रथम क़दमों के बारे में दुर्भाग्यवश अधिक दस्तावेज़ी साक्ष्य उपलब्ध नहीं हैं। किंतु इतना असंदिग्ध है कि सार्वजनिक शिक्षा को बदलने तथा सुधारने की आकांक्षा उनके मन में युवावस्था में ही पैदा हो गयी थी। इसका पता उनकी एक आरंभिक, काफ़ी हद तक आत्मकथात्मक कहानी 'एक ज़मींदार की भोर' से चलता है। इस कहानी का मुख्य पात्र विश्वविद्यालय का विद्यार्थी नेख़्ल्यूदोव है। वह अपनी विश्वविद्यालय की पढ़ाई बीच में ही छोड़ देता है, क्योंकि उसे लगता है कि उसके जीवन की राह, उसके भावी कार्यकलाप की दिशा कुछ और ही होनी चाहिए। वह इस निष्कर्ष पर पहुंचता है कि आदमी के जीवन का लक्ष्य यह होना चाहिए कि वह जिन लोगों के बीच रहता है, उनका भला करे। उसकी मान्यता

बनती है कि व्यक्तिगत ख़ुशहाली तब तक असंभव है जब तक रूस का सबसे बहुसंख्यक वर्ग – किसान समुदाय – अज्ञान के अंधकार में डूबा हुआ है।

'एक ज़मींदार की भोर' का नायक नेख़्ल्यूदोव मानता है कि किसानों के बच्चों की शिक्षा और नैतिक विकास हर शिक्षित व्यक्ति के लिए सर्वोपरि कार्य होना चाहिए। परिणामस्वरूप, वह अपना जीवन इस साधारण, संवेदनशील तथा अभी भ्रष्ट न हुए वर्ग के लिए काम करने, उसे ग़रीबी से छुटकारा दिलाने, सुख-संतोष प्रदान करने, शिक्षित बनाने, अज्ञान और अंधविश्वास से जनित दोषों को दूर करने, उसमें नैतिक गुणों का विकास करने, नेकी से प्रेम करना सिखाने के ध्येय को समर्पित करने का निर्णय करता है। नेख़्ल्यूदोव ने जब ये योजनाएं बनायी थीं, उसकी आयु तब १९ वर्ष थी। लगभग इसी उम्र में (४० के दशक के अंत में) स्वयं लेखक ने भी अपने गांव यास्नाया पोल्याना में स्कूल की स्थापना की थी।

स्कूल चलाने का प्रयोग अधिक समय जारी न रहा। १८५१ के वसंत में लेव तोलस्तोय को सैनिक सेवा के लिए चले जाना पड़ा। आरंभ में वह काकेशिया में रहे और फिर सेवास्तोपोल की रक्षा में भाग लिया। यहां की सामरिक कार्रवाइयां 'सेवास्तोपोल की कहानियां' का आधार बनीं, जिन्होंने एक प्रतिभाशाली लेखक के रूप में तोलस्तोय का सिक्का जमा दिया और उन्हें साहित्यकारों की पंक्ति में सम्मानित स्थान दिला दिया। किंतु इस सार्विक मान्यता और ख्याति के बावजूद वह अपने कैशोर्य काल में बने विश्वासों और संकल्पों से डिगे नहीं। सेना से सेवानिवृत्त होते ही उन्होंने यास्नाया पोल्याना में शिक्षा का कार्य पुनः आरंभ कर दिया।

लेव तोलस्तोय के सृजन जीवन के आरंभ में उनके साहित्यिक और शैक्षिक कार्यकलाप के बीच वैसी खाई न थी, जैसी तोलस्तोय विषयक कुछ साहित्यमीमांसीय रचनाओं के लेखक बताते हैं। इतना ही याद करना काफ़ी होगा कि तत्कालीन रूस के प्रगतिशील शिक्षाशास्त्रियों ने यह मांग पेश करने की कोशिश की थी कि अगर शिक्षाशास्त्र मनुष्य को सभी पहलुओं से शिक्षित करना चाहता है, तो पहले उसे मनुष्य को सभी पहलुओं से जानना होगा। शिक्षाशास्त्र के इस आधारभूत सिद्धांत की छाप लेव तोलस्तोय की १८५२-५७ में लिखी गयी रचनात्र-

थी – 'बाल्यावस्था', 'कैशोर्य' और 'नवयौवन' – में सर्वत्र देखी जा सकती है। इन लघु उपन्यासों में लेखक ने अद्भुत कौशल और मनोवैज्ञानिक प्रत्यायकता के साथ और क्रमबद्ध ढंग से बच्चे, किशोर और नवयुवक के अंतर्जगत का, उसकी जटिल, प्रायः औरों से छिपी हुई, सूक्ष्म संवेदनाओं का उद्घाटन किया। इन्हीं रचनाओं में तोलस्तोय ने बच्चे के व्यक्तित्व की परवाह तथा इज़्ज़त करने से संबंधित अपने मानवतावादी विचार को पूर्ण स्पष्टता के साथ प्रतिपादित किया था। यह विचार बाद में अध्यापक के तौर पर लेव तोलस्तोय के सारे कार्यकलाप का मूलमंत्र बना रहा।

स्कूल में काम करते हुए लेव तोलस्तोय ने बहुत शीघ्र ही अनुभव कर लिया कि बच्चों को सिखाना आसान और मामूली काम नहीं है, कि इसके लिए कैसी भी शिक्षा – यहां तक कि विश्वविद्यालयी शिक्षा भी – पर्याप्त नहीं होगी, क्योंकि सफल अध्यापक होने के लिए विशेष प्रशिक्षण आवश्यक है। जब उन्हें पहले परिणामों से संतोष नहीं हुआ, तो वह शिक्षाशास्त्रीय साहित्य की ओर उन्मुख हुए और कतिपय पश्चिमी यूरोपीय देशों के अग्रणी शिक्षाशास्त्रियों तथा विद्वानों से संपर्क करने लगे। १८५७ में तोलस्तोय अपनी प्रथम विदेश यात्रा पर रवाना हुए और जर्मनी, फ़्रांस, स्विट्ज़रलैंड तथा इटली का दौरा किया। वहां उन्होंने पश्चिमी यूरोपीय संस्कृति, साहित्य, कला और रंगमंच का तो अध्ययन किया ही, साथ ही इन देशों की शिक्षा संस्थाओं एवं उनके कार्य का प्रत्यक्ष परिचय भी पाया।

लेव तोलस्तोय का महान शैक्षिक कार्यकलाप ३१ वर्ष की अवस्था में, १८५९ में आरंभ हुआ और कुछ अंतरालों के साथ उनके लगभग अंतिम दिनों तक जारी रहा। प्रथम दृष्टि में लग सकता है कि शिक्षा के क्षेत्र में उनके व्यावहारिक क़दमों का कोई ख़ास महत्त्व न था : उनके स्कूली कार्यकलाप का पैमाना छोटा था और उस ज़माने के लिए वह लाक्षणिक भी न था। फिर भी अगर हम तोलस्तोय की शिक्षाशास्त्रीय मान्यताओं पर १९वीं शती के मध्य के रूस की सामान्य स्थिति के संदर्भ में ग़ौर करें, तो इस कार्यकलाप का वास्तविक महत्व उजागर हो जायेगा।

लेव तोलस्तोय के विश्वदृष्टिकोण और उनकी शिक्षा तथा पालन संबंधी धारणाओं का निर्माण एक ऐसे युग में हुआ था, जो रूस के

राजनीतिक और आर्थिक जीवन में एक महत्त्वपूर्ण चरण था। देश उस समय सामंती राजतंत्र से बुर्जुआ राजतंत्र की ओर संक्रमण कर रहा था।

गत शती के सातवें दशक से पहले रूस औद्योगिक विकास के मामले में बहुत सारे यूरोपीय राज्यों की तुलना में काफ़ी अधिक पिछड़ा हुआ था। उत्पादक शक्तियों के विकास में, पूंजीवाद के मार्ग पर आगे बढ़ने में मुख्य बाधा भूदास प्रथा थी।

भूदास प्रथा के मुताबिक उस काल के किसान ज़मींदारों की संपत्ति थे, उनकी ज़मीन छोड़कर अन्यत्र नहीं जा सकते थे, पूर्ण रूप से उनपर आश्रित थे और प्रशासन तथा न्याय से संबंधित उनके आदेश मानने को विवश थे। किसानों की असह्य स्थिति के कारण देश में जब-तब किसान विद्रोह भड़कते रहते थे, जिनमें भूदास प्रथा के ख़ात्मे की मांग की जाती थी। इन विद्रोहों तथा जनवादी शक्तियों के आह्वानों से डरकर और अर्थव्यवस्था के जर्जर रूपों को आगे भी बनाये रखने में अपने को असमर्थ पाकर ज़ारशाही सरकार १८६१ में भूदास प्रथा की समाप्ति की घोषणा करने को बाध्य हुई। किंतु इसमें भी मुख्य रूप से सामंतों के हितों को ध्यान में रखा गया था। भूमि पर ज़मींदारों का स्वामित्व बना रहा। किसानों के लिए ज़मींदारों से भूमि पाने के लिए उसका मुआवज़ा देना अनिवार्य था। इससे पहले भूमि के एवज में उन्हें ज़मींदार के यहां तरह-तरह की बेगारें करनी पड़ती थीं और साथ ही लगान भी देना पड़ता था।

भूदास प्रथा के उन्मूलन के बाद उत्पन्न स्थिति का वर्णन करते हुए व्ला० इ० लेनिन ने लिखा था, "१८६१ के बाद पुराना पितृसत्तात्मक रूस विश्व पूंजीवाद के प्रभाव से बड़ी तेज़ी से ढहने लगा। किसानों को भरपेट खाना नहीं मिल रहा था, वे पहले से भी बड़ी तादाद में मर रहे थे, तबाह हो रहे थे, ज़मीन छोड़कर शहर भाग रहे थे। उजड़े हुए किसानों के 'सस्ते श्रम' की बदौलत बड़ी तेज़ी से रेलमार्गों, फ़ैक्टरियों और कारख़ानों का निर्माण हो रहा था। रूस में बड़ी वित्तीय पूंजी, बड़े पैमाने का व्यापार तथा उद्योग बढ़ रहे थे।"*

* व्ला० इ० लेनिन, पहली रूसी क्रांति, १९०५-१९०७, में सामाजिक जनवाद का भूमि-संबंधी कार्यक्रम, १९०७।

पुराने रूस के सभी पुराने आधारों का यह द्रुत, भीषण और तीव्र ध्वंस ही कलाकार तोलस्तोय की रचनाओं और विचारक तोलस्तोय की मान्यताओं में व्यक्त हुआ था।

लेव तोलस्तोय के विश्वदृष्टिकोण के बारे में बहुत पुस्तकें और लेख लिखे गये थे। किंतु उनका पहला सच्चा वैज्ञानिक विश्लेषण विश्व सर्वहारा के नेता ब्ला० इ० लेनिन ने ही किया।

तोलस्तोय के बारे में लेनिन के लेख इस प्रतिभाशाली रूसी लेखक के लिए अगाध प्रेम की भावना का प्रदर्शन करते हैं। लेनिन लिखते हैं कि तोलस्तोय ने "अत्यंत सशक्त ढंग से, आत्मविश्वास और ईमानदारी के साथ ऐसे बहुत सारे सवाल उठाये, जो वर्तमान राजनीतिक और सामाजिक व्यवस्था की बुनियादी विशेषताओं से संबंध रखते हैं।"*

तोलस्तोय के प्रबोधनात्मक विचारों की सही समझ पाने के लिए लेनिन के लेख बुनियादी महत्व रखते हैं, क्योंकि उनमें साहित्यकार के कृतित्व के सबसे मुख्य, सबसे महत्वपूर्ण तत्त्व का सबसे पहले १९वीं शती के अंत – २०वीं शती के आरंभ के रूस के मुक्ति आंदोलन के दृष्टिकोण से विवेचन दिया गया है। ब्ला० इ० लेनिन ने तोलस्तोय की वास्तविक महत्ता को उद्घाटित करते हुए लिखा कि उन्होंने "उन विचारों तथा मनःस्थितियों को अभिव्यक्ति प्रदान की, जो रूस में बुर्जुआ क्रांति के आरंभ होने तक रूस के लाखों, करोड़ों किसानों के बीच व्याप्त थे।" इसके साथ ही लेनिन ने तोलस्तोय के आदर्शवादी, नरोदवादी और नैतिक विचारों का आलोचनात्मक मूल्यांकन भी प्रस्तुत किया।

तोलस्तोय के विश्वदृष्टिकोण का विश्लेषण करते हुए लेनिन ने उन्हें "रूसी क्रांति का दर्पण" कहा, क्योंकि एक महान कलाकार होने की वजह से तोलस्तोय अपनी रचनाओं में इस क्रांति के सर्वाधिक महत्वपूर्ण पहलुओं को प्रतिबिंबित किये बिना नहीं रह सकते थे। किंतु इसके साथ ही लेनिन ने दिखाया कि इस विश्वदृष्टिकोण में गहरे अंतर्विरोध भी थे। बुर्जुआ व्यवस्था की कटु आलोचना करनेवाला प्रतिभाशाली साहित्यकार नहीं भांप सका कि मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण पर आधारित व्यवस्था को बदलने का सबसे कारगर तरीक़ा क्या हो सकता है।

* ब्ला० इ० लेनिन, लेव तोलस्तोय और समकालीन मज़दूर आंदोलन, १९१०।

तोलस्तोय की विचारधारा में सामाजिक झूठ तथा ढोंग के घोर विरोध का बुराई का बलप्रयोग द्वारा मुक़ाबला न करने, सक्रिय राजनीतिक संघर्ष का मार्ग त्यागने, आदि से संबंधित उपदेशों के साथ समन्वय किया गया है।

ब्ला० इ० लेनिन ने ज़ोर दिया कि "...तोलस्तोय के विचारों और शिक्षाओं में विरोध संयोग नहीं, बल्कि उन विरोधपूर्ण परिस्थितियों की अभिव्यक्ति हैं, जिनसे १९वीं शती की अंतिम तिहाई के रूसी जीवन को गुज़रना पड़ रहा था।"*

ब्ला० इ० लेनिन ने बताया कि तोलस्तोय के विचारों का उद्विकास रूस में आ रही टूटन की पृष्ठभूमि में हुआ : उसने "...उनकी दृष्टि को पैना बनाया, अपने परिवेश की घटनाओं में उनकी रुचि को गहन बनाया और उनके विश्व को देखने-समझने के ढंग को बदल डाला।"** अपनी 'आन्ना करेनिना', 'पुनरुत्थान', 'तो हम क्या करें?' जैसी बहुत सी रचनाओं में तोलस्तोय ने बुर्जुआ समाज पर और जनता की गुलामी, ग़रीबी तथा जाहिलियत को अपना आधार बनानेवाली पूंजीवादी व्यवस्था पर प्रखर प्रहार किये।

किंतु तोलस्तोय के विचार, जैसा कि लेनिन ने दिखाया, सर्वहारा के जीवन और संघर्ष से किसी भी प्रकार मेल नहीं खाते थे। इसका कारण यह था कि तोलस्तोय रूस के करोड़ों की आबादीवाले किसान समुदाय के हितों को व्यक्त करते थे, जो अभी मेहनतकशों के उत्पीड़कों से अटल संघर्ष की आवश्यकता की चेतनाधारित समझ विकसित नहीं कर पाया था। इसके साथ ही लेनिन मानते थे कि तोलस्तोय का बहुमुखी कृतित्व रूसी क्रांति की तैयारी के युग से घनिष्ठ रूप से जुड़ा हुआ था।

लेनिन ने जब तोलस्तोय के विचारों में पाये जानेवाले विरोधों की ओर ध्यान आकृष्ट किया, तो साथ ही ज़ोर भी दिया कि ये "केवल उनके निजी चिंतन के विरोध ही नहीं हैं, वे उन अत्यंत जटिल, विरोधपूर्ण स्थितियों, सामाजिक परिघटनाओं और ऐतिहासिक परंपराओं के प्रतिबिंब भी हैं, जिन्होंने सुधारोत्तर, लेकिन क्रांतिपूर्व युग के रूसी

* ब्ला० इ० लेनिन, लेव तोलस्तोय रूसी क्रांति के दर्पण के रूप में, १९०८।

** ब्ला० इ० लेनिन, पहली रूसी क्रांति, १९०५-१९०७, में सामाजिक जनवाद का भूमि-संबंधी कार्यक्रम, १९०७।

समाज के विभिन्न वर्गों तथा तबकों की मानसिकता का निर्माण किया है।"*

इस प्रकार लेव तोलस्तोय ने रूस के जीवन के उस काल को प्रतिबिंबित किया, जिसका आरंभ भूदास प्रथा के पतन और अंत १९०५-१९०७ की क्रांति के साथ हुआ था। तोलस्तोय की शिक्षाशास्त्रीय तलाशों का काल भी मुख्यतया ये ही वर्ष थे।

अपने अंतिम वर्षों में लेव तोलस्तोय ने मो० क० गांधी के साथ भी पत्रव्यवहार किया था। गांधी ने, जो उस समय दक्षिण अफ़्रीका में रह रहे थे, तोलस्तोय को पत्र भेजकर उनसे दक्षिण अफ़्रीका के भारतीयों के मुक्ति संघर्ष को अपना समर्थन देने की अपील की थी। १९०८ में तोलस्तोय ने गांधी के पत्र का उत्तर दिया,** जो कुछ समय बाद हिंदी में प्रकाशित हुआ।

अगस्त, १९१० में गांधी ने ट्रांसवाल, दक्षिण अफ़्रीका से छपनेवाली पत्रिका 'इंडियन ओपीनियन' का एक अंक तोलस्तोय को भेजा। उसमें वहां "तोलस्तोय फ़ार्म" की स्थापना से संबंधित सामग्री छपी थी। इस फ़ार्म में ऐसे सैकड़ों भारतीय परिवार रहने लगे थे, जो उपनिवेशवादियों की गुलामी स्वीकारने को तैयार न थे।

मृत्यु से दो मास पहले ७ सितंबर, १९१० को तोलस्तोय ने गांधी को एक पत्र में लिखा: "...हम समझते हैं कि ट्रांसवाल में आप जो काम कर रहे हैं, वह... इस समय दुनिया में किये जा रहे कामों में सबसे महत्वपूर्ण और सबसे जरूरी काम है और उसमें ईसाई दुनिया के ही नहीं, बल्कि सारी दुनिया के लोग अवश्य भाग लेंगे।"***

* * *

लेव तोलस्तोय के शिक्षा संबंधी विचारों का निर्माण १९वीं शती के सातवें-आठवें दशकों में हुआ था। विभिन्न तबक़ों में शिक्षा के प्रसार

---

* व्ला० इ० लेनिन, लेव तोलस्तोय, १९१०।

** ल० न० तोलस्तोय, संकलित रचनाएं, २२ खंडों में, खंड २२, पृ० ४७५ (रूसी में)।

*** वही, खंड २०, पृ० ७३४।

की दृष्टि से तत्कालीन रूस घोर विषमताओं का देश था। उसकी अधिकांश आबादी किसान थी और शिक्षा से लगभग पूरी तरह वंचित थी। १९वीं शती के मध्य में देश में साक्षरों की संख्या कुल आबादी के ६ प्रतिशत से अधिक न थी। स्कूली आयु के १२ बच्चों में से केवल एक ही प्राथमिक स्कूल जा पाता था। इतना ही महत्वपूर्ण प्रश्न यह था कि इन प्राथमिक स्कूलों में क्या और कैसे सिखाया जाता था। तोलस्तोय के मतानुसार, देश में जो प्राथमिक स्कूल थे, उनका कोई शैक्षिक महत्व नहीं था। उनमें जड़ सैद्धांतिक तरीक़ों से मुख्यतया धार्मिक किताबें पढ़ना ही सिखाया जाता था, जो प्राचीन स्लाव भाषा में होती थीं।

तोलस्तोय का मत था कि रूसी जनता की सबसे बड़ी आवश्यकता शिक्षा है। वह सबसे उत्पीड़ित और सबसे बहुसंख्य वर्ग – किसान समुदाय – के हितों के समर्थक थे और इसलिए मानते थे कि वास्तविक शिक्षा के लिए जनव्यापी होना जरूरी है। आबादी के व्यापकतम हल्क़ों में ज्ञान का प्रकाश फैलाने को वह हिंसा तथा निरंकुशता, अन्याय तथा अंधविश्वास के खात्मे का अचूक साधन समझते थे।

लेव तोलस्तोय की शिक्षाशास्त्रीय संकल्पना सार्विक शिक्षा के विचार पर आधारित थी। शिक्षाशास्त्र की आधारभूत समस्याओं के विश्लेषण में वह उसका सहारा लेते और स्कूली शिक्षण तथा व्यावहारिक पालन की कमियों अथवा खूबियों एवं शिक्षा के गुणों को आंकने के लिए उसे कसौटी बनाते।

उल्लेखनीय है कि जब युवा तोलस्तोय में जनता के बीच ज्ञान के प्रसार की आकांक्षा अंकुरित ही हो रही थी, तब तक रूस में जनवादी प्रबोधन आंदोलन की परंपराएं गहरी जड़ें जमा चुकी थीं। इन परंपराओं का सूत्रपात १८वीं शती के मध्य में महान रूसी वैज्ञानिक मिखाईल लोमोनोसोव ने किया था और उनके बाद क्रांतिकारी विचारक अलेक्सांद्र रदीश्चेव, दिसंबरवादियों, क्रांतिकारी जनवादी तथा साहित्य-समीक्षक विस्सारिओन बेलीन्स्की तथा लेखक और राजनेता अलेक्सांद्र हर्ज़ेन ने उन्हें पुष्ट किया। भूदास प्रथा की समाप्ति के बाद शिक्षा और ज्ञान प्रसार के प्रश्न और भी सामयिक बन गये।

१९वीं शती के साठ के दशक में रूस में एक व्यापक आंदोलन जन्म ले रहा था, जिसका उद्देश्य जनता के बीच ज्ञान का प्रसार करना था। जनवादी बुद्धिजीवियों को लगा कि जैसे यह सार्विक खुशहाली

का एकमात्र रास्ता है। उस काल के शिक्षा आंदोलन में कई प्रवृत्तियां काम कर रही थीं, जिनके सामाजिक रुझान भिन्न-भिन्न थे। ये थीं उदारपंथी बुर्जुआ प्रवृत्ति, बुर्जुआ जनवादी प्रवृत्ति और क्रांतिकारी-जनवादी प्रवृत्ति। तोलस्तोय के साठ के दशक के विचार इतने विलक्षण थे कि उन्हें इनमें से किसी एक ही प्रवृत्ति से जुड़ा हुआ नहीं माना जा सकता। उनकी सबसे मुख्य विशेषता इस बात की चेतना थी कि एक ओर से विज्ञान तथा तकनीक की उपलब्धियों तथा विशेषाधिकार-भोगी श्रेणियों के शिक्षा-स्तर और दूसरी ओर से अत्यंत साधारण ज्ञान पाने की संभावना से भी वंचित रूस की बहुसंख्य आबादी के बीच गहरी खाई मौजूद थी। तोलस्तोय को अधिकांश सामाजिक गड़बड़ियों और मुसीबतों का स्रोत इसी त्रासद अंतर में दिखायी देता था। उनके मत में जनता की जाहिलियत ही वह ज़मीन थी, जो बलप्रयोग और अन्याय को पोषण प्रदान करती थी।

सार्वजनिक शिक्षा का विचार उस समय सरकारी शिक्षा जगत द्वारा भी उद्घोषित किया जाता था, मगर इस संकल्पना को वह जो अर्थ देता था, वह उससे बिल्कुल भिन्न था, जो रूसी प्रबोधक देना चाहते थे। रूसी प्रबोधक मानते थे कि सार्वजनिक शिक्षा का मुख्य उद्देश्य अक्षरज्ञान करवाना और गिनती, हिसाब सिखाना नहीं, बल्कि सर्वप्रथम बच्चों का बौद्धिक विकास करना और उन्हें परिवेशी विश्व को समझना तथा सामाजिक संबंधों के अर्थ में पैठना सिखाना है।

शिक्षा के जनव्यापी प्रसार में एक मुख्य बाधा रूस का बुर्जुआ तबक़ा था, जो स्कूल को पूरी तरह अपने संकीर्ण स्वार्थों की पूर्ति का साधन बना लेना चाहता था। यह वह काल था, जब व्ला० इ० लेनिन के शब्दों में "कल ही भूदास प्रथा से मुक्त हुआ पितृसत्तात्मक देहात पूरी तरह तबाह कर दिये जाने के लिए पूंजी को सौंप दिया गया था।"*

सार्वजनिक शिक्षा को लूट-खसोट और हिंसा की इस प्रणाली का अभिन्न अंग बनाया गया था। बुर्जुआज़ी जनता की शिक्षा को सीमित बनाने और अपनी शिक्षण प्रणाली के ज़रिये उसका उन अति महत्वपूर्ण सामाजिक समस्याओं की ओर से ध्यान हटाने का प्रयत्न कर रहा था, जो उस काल में रूस के सामाजिक विकास के सामने मुंह बाये खड़ी

* व्ला० इ० लेनिन, लेव तोलस्तोय रूसी क्रांति के दर्पण के रूप में, १९०८।

थीं। तोलस्तोय ने उन दिनों जनता के लिए निर्धारित स्कूली कार्यक्रमों के बारे में यह लिखा था: "यह ज्ञान न सिर्फ़ उसकी मुख्य शर्त को पूरा नहीं करता, जो विज्ञान का सार है, यानी न सिर्फ़ जनता के कल्याण में सहायक नहीं बनता, बल्कि उसका इससे बिलकुल उल्टा और सर्वथा निश्चित लक्ष्य है – बहुसंख्या को अल्पसंख्या का गुलाम बनाये रखना और इसके लिए हर तरह के तर्क, झूठ, धोखाधड़ी तथा फ़रेब इस्तेमाल करना।"*

तोलस्तोय ने अपने स्वभाव के अनुरूप उत्साह से शिक्षा, विज्ञान और कला की आलोचना की, क्योंकि वे जनता के कष्टों को दूर करने के बजाय सत्तासंपन्न वर्गों के हाथों में जनता के उत्पीड़न का उपकरण बनते थे।

तोलस्तोय के बेईमान विरोधियों ने कला, प्रकाशन और तकनीक के क्षेत्र में उस काल की प्रगतिशील परिघटनाओं के बारे में उनके कतिपय कथनों को तोड़-मरोड़कर और संदर्भ से बाहर उद्धृत करते हुए उन्हें रूढ़िवादी, पुरातनपंथ का पक्षपोषक सिद्ध करने की कोशिश की। किंतु तोलस्तोय की शिक्षाशास्त्रीय रचनाओं का ध्यान से अध्ययन करनेवाला पाठक सहज ही इस निष्कर्ष पर पहुंच जायेगा कि वास्तव में वह प्रगति के विरुद्ध क़तई नहीं थे। वह केवल ऐसी प्रगति के विरुद्ध थे, जिसमें वैज्ञानिक और तकनीकी ज्ञान केवल प्रभुत्वसंपन्न वर्गों को उपलब्ध होता था। तोलस्तोय वैज्ञानिक और तकनीकी प्रगति का स्वागत करते थे, बशर्ते कि उसकी उपलब्धियां सारी जनता की भलाई के लिए इस्तेमाल की जायें।

लेव तोलस्तोय की शिक्षाशास्त्रीय संकल्पना में स्वतंत्र स्कूल तथा शिक्षा के विचार को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। स्वतंत्रता को वह "शिक्षाशास्त्र की एकमात्र कसौटी" कहते थे। इस आधार पर आगे चलकर रूस में स्वतंत्र शिक्षा के सिद्धांतकारों ने रूसो के साथ-साथ तोलस्तोय को भी अपना पूर्वगामी माना।

तोलस्तोय सचमुच रूसो की भांति कहते थे कि बच्चा प्रकृति से दोषहीन और झूठे पालन द्वारा अभी भ्रष्ट न की हुई रचना होता है। वह अध्यापकों और बड़ों से बच्चे की वैयक्तिकता का आदर करने,

* ल० न० तोलस्तोय, संपूर्ण रचनावली, खंड ३८, पृ० १४१-१४२ (रूसी में)।

उसके स्वतंत्र विकास में बाधा न डालने का आग्रह करते थे। तोलस्तोय की इस बुनियादी प्रस्थापना को बहुत से सिद्धांतकारों ने तोड़ने-मरोड़ने की कोशिश की। मगर इस प्रश्न पर तोलस्तोय के विचारों का उस शिक्षाशास्त्र से कोई साम्य न था, जो पालन की स्वतंत्रता के विचार को एक वाहियात विचार में बदल डालता था।

तोलस्तोय कहते थे कि हमें बच्चों को विवेकयुक्त, चिंतनशील प्राणी समझना चाहिए, कि बच्चे भी व्यवस्था की आवश्यकता को समझते हैं और दंड के ज़रिये बलात् हस्तक्षेप का विरोध करते हैं। तोलस्तोय के अनुसार, दंड बच्चे को सुधारता नहीं, बल्कि उसमें और बुराइयां ही पैदा करता है। दंड की अस्वीकार्यता तोलस्तोय के शिक्षाशास्त्रीय विचारों का एक महत्वपूर्ण अंग थी। तोलस्तोय की स्वतंत्र स्कूल और स्वतंत्र शिक्षा की अवधारणा सत्तामूलक शिक्षाशास्त्र का प्रतिध्रुव है। यह अवधारणा बच्चे के प्रति मानवोचित व्यवहार और उसके व्यक्तित्व तथा गरिमा का आदर किये जाने की मांग करती है।

तोलस्तोय का कहना था कि स्कूल में बाह्य "अव्यवस्था" हो सकती है, किंतु अध्यापक को अविचारित तथा नग्न हस्तक्षेप से बाज़ आना चाहिए, क्योंकि उसका हस्तक्षेप बच्चों को स्वयं अपनी हरकतों पर ग़ौर करने और स्कूल में कुछ निश्चित आचरण नियमों के पालन की आवश्यकता को स्वयं महसूस करने की संभावना से वंचित कर देता है।

तोलस्तोय के अनुसार, शैक्षिक प्रक्रिया की आंतरिक नियमसंगतियां ही स्कूल और शिक्षा की स्वतंत्रता को आवश्यक बना देती हैं और शिक्षण उतना ही कारगर तथा फलप्रद होगा, जितनी अटलता से वह इस नियमसंगति पर आधारित होगा। यदि स्वतंत्रता को इस तरह समझा जाता है, तो हमें यह भी मानना होगा कि ज्ञान अगर बच्चे पर उसकी इच्छा के विरुद्ध थोपा जाता है, तो उसे अंतरित नहीं किया जा सकता। विद्यार्थी को ज्ञान-प्राप्ति के लिए स्वयं प्रयत्न करना होगा, स्वयं अपनी आकांक्षा प्रकट करनी होगी। और यह आकांक्षा सबसे ज़्यादा बाहर से बाध्य किये जाने पर नहीं, बल्कि अपनी स्वतंत्र इच्छा के आधार पर ही प्रकट होती है। इसलिए शिक्षा की स्वतंत्रता को वह मूल सिद्धांत बनना चाहिए, जिसके बिना विद्यार्थी में सक्रियता, आत्मनिर्भरता, चेतनशीलता, अटलता और अनुशासन जैसे गुण पैदा नहीं किये जा सकते।

स्कूल और शिक्षा की स्वतंत्रता के सिद्धांत का दूसरा इतना ही महत्वपूर्ण पहलू सामाजिक-शिक्षाशास्त्रीय पहलू है। तोलस्तोय बच्चों के पालन और शिक्षण में रूढ़िबद्धता की आलोचना करते थे। वह स्कूल में नौकरशाहियत दिखाये जाने और अध्यापक द्वारा अपने कार्यों को औपचारिक रूप से लिये जाने तथा बच्चों में अंध आज्ञापालन की भावना भरने के घोर विरोधी थे। वह सार्वजनिक शिक्षा और स्कूली शिक्षण के क्षेत्र में एकाधिकार के चर्च के दावों के विरोधी थे और शिक्षा को चर्च के प्रभाव से मुक्त रखे जाने की मांग करते थे। शिक्षा की स्वतंत्रता के सिद्धांत की ऐसी समझ १९वीं शती के साठ के दशक में पैदा हुई थी और शनैः शनैः वह एक व्यापक प्रवृत्ति बन गयी। वह सामाजिक शिक्षाशास्त्र को अधिकाधिक दृढ़ता के साथ सरकारी शिक्षाशास्त्र के मुक़ाबले में रखे जाने में व्यक्त होती थी। तोलस्तोय का शिक्षा की स्वतंत्रता से संबंधित विचार हर गुज़रते दशक के साथ बढ़ती और जड़ें जमाती जा रही इस प्रवृत्ति का एक प्रतिबिंब ही था।

तोलस्तोय के लिए शिक्षा की स्वतंत्रता का अर्थ बच्चों के लिए ऐसे स्कूलों की स्थापना करना था कि जिनकें कार्यकलाप का निर्धारण पूरी तरह से स्वयं जनता करती हो। उल्लेखनीय है कि यह वही मांग थी, जिसे आगे चलकर (१८७० में) प्रमुख रूसी शिक्षाशास्त्री क० द० उशीन्स्की ने इन शब्दों में सूत्रबद्ध किया: "जो रूस के इतिहास को अच्छी तरह जानता है, वह सार्वजनिक शिक्षा का काम स्वयं जनता को सौंपते तनिक भी नहीं हिचकिचायेगा।"*

तोलस्तोय स्वतःस्फूर्त ढंग से स्थापित स्कूलों पर जो बहुत ज़्यादा ध्यान देते थे, उसके मूल में शिक्षा की स्वतंत्रता की उनकी समझ थी। वह इन स्कूलों में ऐसे स्कूलों के सफल विकास का स्रोत तथा आधार देखते थे, जो केवल नाम से ही सार्वजनिक नहीं थे, बल्कि अपने उद्देश्यों और कार्यभारों की दृष्टि से भी जनता से जुड़े हुए थे।

१९वीं शती का साठ का दशक वह काल था, जब रूस में शिक्षाशास्त्र एक अपेक्षाकृत स्वतंत्र विज्ञान बना। अभी तक सामाजिक चेतना में इस धारणा ने जड़ें जमायीं कि शिक्षा और अध्यापन से केवल शिक्षकों और अध्यापकों का ही सरोकार नहीं है। उस युग के प्रगतिशील लोगों

---

* क० द० उशीन्स्की, संकलित रचनाएं, खंड ३, १९४८ पृ० ६२२ (रूसी में)।

2 942

का मत था कि पालन और शिक्षण से संबंधित विज्ञान का विकास मनुष्य को जानने से संबंधित सभी शाखाओं के विशेषज्ञों द्वारा संयुक्त रूप से किया जाना चाहिए। शिक्षाशास्त्र को उन सभी विज्ञानों की उपलब्धियों पर आधारित होना चाहिए, जिनमें, जैसा कि क० द० उशीन्स्की ने कहा, ऐसे तथ्यों का वर्णन, जांच तथा वर्गीकरण किया जाता है, "...जो पालन की वस्तु, अर्थात् मनुष्य की विशेषताओं पर प्रकाश डालते हैं।"* किंतु अन्य विज्ञानों के विशेषज्ञ पालन और शिक्षा के सिद्धांत की मदद तभी कर सकते हैं, जब उनकी दृष्टि में शिक्षाशास्त्र भी एक विज्ञान हो।

तोलस्तोय की शिक्षाशास्त्रीय तलाशों की दिशा भी यही थी। उनका बुनियादी उद्देश्य सार्वजनिक शिक्षा था, अतः तोलस्तोय ने शिक्षाशास्त्र के आद्य, बुनियादी प्रश्नों को उठाया, जैसे: इस विज्ञान का विषय क्या है, उसकी अनुसंधान की विधियां क्या हैं तथा उसकी सबसे महत्वपूर्ण संकल्पनाओं की अंतर्वस्तु क्या है, शिक्षाशास्त्रीय सिद्धांत तथा व्यवहार के बीच क्या संबंध है, स्कूल के कार्यभार क्या हैं, वग़ैरह।

लेव तोलस्तोय के अनुसार, शिक्षाशास्त्रीय अनुसंधान का विषय अपनी स्वतंत्र अभिव्यक्तियों में बच्चा था। वह कहा करते थे कि किसी वस्तु को प्रभावित करने के लिए पहले उसका अध्ययन करना ज़रूरी है (शिक्षा तथा पालन के प्रसंग में यह वस्तु स्वतंत्र बच्चा है)। उनके मत में शिक्षाशास्त्र और स्कूल के उद्देश्य तत्कालीन मान्यता की तुलना में कहीं ज़्यादा व्यापक थे। सरकारी शिक्षाशास्त्र शैक्षिक प्रभाव के साधनों को बढ़ाने के लिए ही प्रयत्नरत रहता था, किंतु तोलस्तोय सोचते थे कि पालन शिक्षाशास्त्र का केवल एक अत्यंत महत्वपूर्ण पहलू है। उनका कहना था कि शिक्षा "उन सभी प्रभावों की समष्टि है, जो मनुष्य का विकास करते हैं, उसका दृष्टिकोण ज़्यादा व्यापक बनाते हैं और उसे नयी जानकारियां प्रदान करते हैं।"**

"हमारे लिए ज़रूरी है," तोलस्तोय ने लिखा, "कि हम क़दम-क़दम करके, अनगिनत तथ्यों से शिक्षा के विज्ञान से संबंधित प्रश्नों

* वही, खंड ८, पृ० २२।

** ल० न० तोलस्तोय, शिक्षाशास्त्रीय रचनाएं, मास्को, १९५३, पृ० २४१ (रूसी में)।

के हल की ओर बढ़ें।"* और यह कार्य उन्होंने शिक्षाशास्त्रीय संकल्पनाओं को स्पष्ट बनाने से शुरू किया, क्योंकि उनका यह सोचना ठीक ही था कि संकल्पनाओं के अस्पष्ट होने से व्यवहार के लिए बहुत ही नकारात्मक परिणाम निकल सकते हैं।

उस समय शिक्षाजगत में जबर्दस्त बहस चल रही थी कि साक्षरता लाभकर है या हानिकर। बहस का एक कारण यह था कि "साक्षरता" और "शिक्षा" की संकल्पनाओं को स्पष्टतः परिभाषित नहीं किया गया था। लेव तोलस्तोय के अनुसार, साक्षरता पढ़ और लिख पाने की योग्यता थी, जबकि शिक्षा वह उन सभी जानकारियों के आत्मसात्करण को समझते थे, जो विद्यार्थी को जीवन की परिघटनाओं और परिवेशी यथार्थ से संबंधों को समझ पाने में समर्थ बनाती हैं। साक्षरता निरर्थक और यहां तक कि हानिकर भी होगी, अगर उसके बाद शिक्षा की बारी नहीं आती और अगर वह ज्ञान-प्राप्ति का साधन नहीं बनती।

तत्कालीन रूसी शिक्षाजगत प्रायोगिक मनोवैज्ञानिक-शैक्षिक अनुसंधानों पर ध्यान देने लग गया था। बेशक, उन वर्षों में स्कूलों के लिए वे कोई बड़ा महत्व नहीं रखते थे, क्योंकि अनुसंधानकर्ता मुख्यतया मनुष्य के किसी एक मानसिक प्रकार्य को लेते थे और जो वस्तुपरक परिणाम प्राप्त होते थे, वे केवल इस पृथक् प्रकार्य से ही संबंध रखते थे। किंतु अध्यापक का वास्ता तो किसी एक प्रकार्य से नहीं, बल्कि विद्यार्थी से पड़ता है, इसलिए उसके लिए बच्चे के बारे में एक समेकित चित्र पाना ज़रूरी होता है।

प्रयोगों का सहारा लेव तोलस्तोय ने भी लिया। उन्होंने स्वयं प्रयोग के गठन और विभिन्न विधियों की कारगरता के मूल्यांकन के लिए जो शर्तें निर्धारित कीं, उनका शिक्षाशास्त्र के लिए बड़ा महत्व था। मगर उन्होंने जो भी प्रयोग किये, वे प्राथमिक शिक्षा की विधियों के मूल्यांकन से ही संबंध रखते थे। उनके लिए मुख्य कई पहलुओं से, जिनमें समाजवैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक पहलू भी शामिल थे, विश्लेषण करने की विधि थी, जिसका अंत शिक्षाशास्त्र के लिए अत्यंत मूल्यवान परिणाम – कलात्मक सामान्यीकरण – के साथ होता था।

* वही, पृ० ८२।

लेव तोलस्तोय के शिक्षाशास्त्रीय विचारों की एक असाधारण विशेषता यह भी थी।

तोलस्तोय की शिक्षाशास्त्रीय रचनाओं में पाठक का सजीव विद्यार्थी से – फ़ोटोग्राफ़िक चित्र जैसी स्थिरता में नहीं, बल्कि उसकी योग्यताओं के विकास में, उसके चरित्र के गढ़ने की प्रक्रिया में – साक्षात्कार होता है। पाठक के सामने यास्नाया पोल्याना के चंचल, ज़िंदादिल और तेज़-तर्रार बच्चों के बिंब आ खड़े होते हैं।

तोलस्तोय से पहले किसी ने भी बच्चे की विभिन्न मनोदशाओं का, ख़ास तौर से क़वायद और सज़ाओं से बच्चे की प्राकृतिक योग्यताओं का गला घोंट देनेवाली तत्कालीन जड़सैद्धांतिक स्कूली शिक्षा के प्रभाव से पैदा होनेवाली मनोदशाओं का इतना गंभीर तथा विश्वासोत्पादक चित्रण नहीं किया था।

"यदि आप एक ही बच्चे पर घर में, सड़क पर या स्कूल में गौर करें, तो एक जगह आप उसे हर्षोल्लास तथा कुतूहल से भरपूर, आंखों में और होठों पर मुस्कान लिये हुए, हर चीज़ में ख़ुशी जैसे कुछ न कुछ सीखने की बात खोजता हुआ और अपने विचारों को अपनी ही भाषा में स्पष्ट और प्रायः सशक्त ढंग से व्यक्त करता हुआ पायेंगे, तो दूसरी जगह दयनीय और दब्बू क़िस्म का, चेहरे पर थकान, भय तथा ऊब के भाव लिये हुए और अपने होंठों से परायी भाषा में पराये शब्दों को दोहराता हुआ, यानी जिसकी आत्मा घोंघे की तरह खोल के भीतर सिमटी हुई है।"*

लेव तोलस्तोय बाल्यावस्था को सामंजस्य का आदर्श मानते थे, और कहते थे कि ग़लत पालन इस सामंजस्य को भंग कर सकता है। उनके अनुसार, पालन और शिक्षा का उद्देश्य बच्चे की नैतिक विशेषताओं के अधिकतम सामंजस्य में सहायक बनना है। अपने लेखों में उन्होंने सिद्ध किया कि शिक्षित आदमी के लिए जो जानना ज़रूरी है, उसे किसान बच्चे भी बख़ूबी समझ और आत्मसात् कर सकते हैं।

इस तरह हम देखते हैं कि स्वतंत्रता और मानवीयता की बुनियाद पर शिक्षा के जनवादीकरण का आदर्श लेव तोलस्तोय की ज्ञान प्रसार की अवधारणा का आधार था। बहुत वर्षों तक वह अपने व्यावहारिक कार्यकलाप में इस आदर्श को मूर्त रूप देने का प्रयत्न करते रहे। इस दृष्टि से सबसे फलप्रद १८५९-१८६२ के वर्ष थे।

* वही, पृ० ७२।

उस समय रूस में स्कूली शिक्षा में सुधार की तैयारियां चल रही थी। शिक्षाजगत में स्कूल की समस्याओं और शिक्षा प्रणाली के परिवर्तन की योजनाओं पर ज़ोरदार बहस चल रही थी। लेव तोलस्तोय ने भी अपना मत प्रकट किया। उनका सोचना था कि सरकारी अधिकारी शिक्षा की किसी ऐसी प्रणाली का निर्माण करने में असमर्थ हैं, जो जनता के हितों के अनुरूप हो। "सार्वजनिक शिक्षा ठीक ढंग से चले, इसके लिए आवश्यक है कि उसका ज़िम्मा समाज को सौंप दिया जाये," उन्होंने तत्कालीन शिक्षामंत्री के भाई ये० प० कोवालेव्स्की को लिखा था।

तोलस्तोय उस समय सरकार से एक ऐसा समाज या संगठन स्थापित करने की इजाज़त पाने के लिए प्रयत्न कर रहे थे, जो शिक्षा को सर्वव्यापी बनाने के लिए सभी सामाजिक शक्तियों को एक मंच पर एकत्रित करता। १८६० में ये० प० कोवालेव्स्की को अपने एक पत्र में तोलस्तोय ने ऐसे समाज की रूपरेखा* से परिचित कराया और कहा कि उसके मुख्य लक्षण निम्न होंगे: जनता में शिक्षा का प्रसार; एक शिक्षाशास्त्रीय पत्रिका का प्रकाशन; जहां स्कूल नहीं हैं और उनकी आवश्यकता महसूस की जा रही है, वहां स्कूलों की स्थापना; पाठ्यक्रम बनाना, अध्यापक प्रशिक्षित करना, स्कूलों और शिक्षा विभाग को भौतिक साधन उपलब्ध करवाना।

तोलस्तोय को कम ही आशा थी कि ऐसे समाज की स्थापना की इजाज़त मिल जायेगी। वह अनुभव करते थे कि सरकार उनके कार्यकलाप को शक की निगाहों से देखती है। फिर भी महान प्रबोधक अपने मार्ग से विचलित नहीं हुए: "इस कार्यक्रम के क्रियान्वयन के लिए मुझसे जो भी हो सकता है, मैं करूंगा और अपनी पूरी शक्ति लगा दूंगा।"**

अत्यंत प्रतिकूल राजनीतिक और सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों के बावजूद उस समय रूस में फिर भी शिक्षा के क्षेत्र में लेव तोलस्तोय और अन्य प्रगतिशील लोगों के विचारों के अनुरूप कुछ सुधार लागू किये गये।

* देखें: प्रस्तुत पुस्तक में ये० प० कोवालेव्स्की के नाम पत्र।

** पूर्वोक्त।

* * *

१८४९ में स्कूल में कुछ समय किये गये काम को अगर न गिना जाये, तो लेव तोलस्तोय के शैक्षिक कार्यकलाप को तीन कालों में बांटा जा सकता है: पहला काल – १८५९ से १८६२ तक; दूसरा काल – १८७० से १८७६ तक; और तीसरा काल – ८० के दशक से लेकर तोलस्तोय के जीवन के अंत तक। १९०९ में, यानी मृत्यु से लगभग एक वर्ष पहले तोलस्तोय ने अपने सचिव तथा मित्र व० फ़० बुल्गाकोव के नाम पत्र में अपने शिक्षाशास्त्रीय विचारों का जैसे कि निचोड़ प्रस्तुत किया था।

तोलस्तोय का गहन शैक्षिक कार्यकलाप १८५९ के शरद में शुरू हुआ, जब यास्नाया पोल्याना में किसानों के बच्चों के लिए स्कूल फिर से खोला गया। किसानों को आरंभ में विश्वास न हो पाया कि काउंट तोलस्तोय उनके बच्चों के लिए जो स्कूल खोल रहे हैं, उसमें कोई फ़ीस नहीं ली जायेगी। गांव में इस संबंध में बहुत ही तरह-तरह की बातें कही जाने लगीं।

"कैसे? क्यों? सचमुच निःशुल्क? धोखा तो नहीं है? कहीं काउंट हमारे बच्चों को लिखा-पढ़ाकर फ़ौज में तो भरती नहीं करवा देना चाहते?.."

दूसरे जो ज़्यादा समझदार किसान थे, उन्होंने आपत्ति की:

"जो होगा, देखा जायेगा... बेटा तीन साल से पादरी से पढ़ रहा है और सीख कुछ भी नहीं पाया, हालांकि पढ़ाने का पैसा देता हूं!"

पहले दिन यास्नाया पोल्याना स्कूल की देहरी पर झिझकते-झिझकते २२ बच्चों ने क़दम रखे। शीघ्र ही किसानों के सभी संदेह दूर हो गये। दो महीने बाद स्कूल में तिगुने से ज़्यादा – कोई ७० विद्यार्थी थे।

यास्नाया पोल्याना स्कूल सिर्फ़ बाहर से देखने में ही रूस या पश्चिम के अन्य स्कूलों जैसा था। तोलस्तोय ने स्कूल में जो व्यवस्था क़ायम की, वह उनके अपने कार्यक्रम के मुताबिक थी। विद्यार्थी तीन आयु-वर्गों में बंटे थे: छोटे, मंझले और बड़े। हर अध्यापक दिन में पांच या छह पाठ पढ़ाता था। पढ़ाई सुबह ९ बजे शुरू होती थी। दोपहर में (१२ बजे से ३ बजे तक) खाने और आराम के लिए छुट्टी रहती थी,

जिसके बीच बच्चे चाहते, तो घर भी जा सकते थे। इसके बाद पढ़ाई ३-४ घंटे और चलती थी।

पढ़ाई का मुख्य तरीक़ा अध्यापक और विद्यार्थियों के बीच उन्मुक्त बातचीत था। इस विधि की मदद से विद्यार्थी पढ़ना, लिखना, अंकगणित, ईश्वरीय क़ानून, व्याकरण, रूसी इतिहास, भूगोल और प्रकृति-विज्ञान सीखते थे। उन्हें चित्रकारी और गायन भी सिखाये जाते थे।

तोलस्तोय बड़े आयु-वर्ग के बच्चों को गणित, भौतिकी, इतिहास और कुछ अन्य विषय पढ़ाते थे। मुख्य विषय मातृभाषा थी। जो पढ़ाना होता था, उसे तोलस्तोय प्रायः क़िस्से-कहानी या ऐसा ही कोई अन्य कलात्मक रूप दे देते थे। उनके पाठों में पढ़े या सुने हुए का अपने शब्दों में वर्णन करने का, जो बच्चों को बहुत पसंद था, और मनपसंद विषय पर निबंध लिखने का अभ्यास भी कराया जाता था। यास्नाया पोल्याना स्कूल के अध्यापकों के मुख्य निर्देशक सिद्धांत थे: विद्यार्थियों में स्वावलंबन की भावना को प्रोत्साहित करना, उनकी सृजन-योग्यताओं का विकास और बच्चों को उस हद तक स्वतंत्रता देना, जिस हद तक कि वह उनकी संज्ञानात्मक सक्रियता की वृद्धि में सहायक होती है। रूसी क्रांतिकारी-जनवादी न० ग० चेर्निशेव्स्की ने यास्नाया पोल्याना की शिक्षण पद्धति की सराहना करते हुए आशा प्रकट की थी कि उसका अनुकरण अन्य स्कूलों में भी किया जायेगा। सरकारी स्कूलों की तुलना करते हुए, जिनमें बच्चे प्रायः अनिच्छा से पढ़ते थे तथा दब्बूपन व ढोंग की ही शिक्षा पाते थे, चेर्निशेव्स्की ने कहा कि शिक्षण-प्रक्रिया का वह गठन निश्चय ही उत्कृष्ट है, जिसमें बच्चे सहर्ष स्कूल आते हैं और ख़ूब मन लगाकर पढ़ते हैं। यास्नाया पोल्याना स्कूल के कार्यकलाप के बारे में उनका निष्कर्ष यह था कि सभी प्राथमिक स्कूल इसी ढंग के होने चाहिए। उनका कहना था कि बच्चों को पूर्ण स्वतंत्रता देने के फ़ायदे की ऐसी समझ और इस सिद्धांत का ऐसा अटल पालन हमें यास्नाया पोल्याना स्कूल के संस्थापक के सामने नतमस्तक बना देते हैं।

बाहरी आदमी को, विशेषतः सरकारी स्कूलों के अध्यापक को ऐसा लग सकता था कि यास्नाया पोल्याना स्कूल में व्यवस्था नाम की कोई चीज़ नहीं है। विद्यार्थियों के बैठने की कोई निश्चित जगहें नहीं थीं और जिसकी जहां मर्ज़ी होती थी, बैठ जाता था। सज़ा देने की सख़्त मनाही थी। होमवर्क नहीं दिया जाता था और इसलिए

अगले दिन अध्यापक पहले पढ़ायी जा चुकी सामग्री के बारे में कोई सवाल भी नहीं पूछता था। नये आये अध्यापक विद्यार्थियों की ऐसी स्वतंत्रता के तुरंत आदी नहीं बन पाते थे।

लेव तोलस्तोय स्कूल में ऐसे अध्यापक रखते थे, जो शिक्षण की व्यवस्था के बारे में उनके विचारों से सहमत थे। अध्यापक नियमित रूप से मिलकर अपने काम की विधियों और सफलताओं तथा असफलताओं के कारणों पर विचार-विनिमय करते थे।

यास्नाया पोल्याना के अध्यापकों की पढ़ाने की विधियां बच्चे के व्यक्तित्व के आदर पर आधारित थीं। बच्चा बड़ों की ओर से कोई दबाव न पड़ने पर भी समझ सकता है कि स्कूल में किन्हीं निश्चित नियमों, व्यवस्थाओं का पालन करना आवश्यक है, क्योंकि उनके बिना पढ़ाई में सफलता नहीं मिल सकती। तोलस्तोय ने लिखा था: "स्कूली बच्चे भी आदमी हैं, चाहे अभी वे नन्हे ही क्यों न हों। उनकी भी हमारी जैसी ही आवश्याकताएं होती हैं और हमारे जैसे ही सोचने के ढंग होते हैं।"* यास्नाया पोल्याना स्कूल के कार्यकलाप की एक मुख्य विशेषता यह थी कि उसके अध्यापक विद्यार्थियों द्वारा स्कूल के बाहर आसपास के जीवन से सीखी बातों को, स्कूल के बाहर अर्जित ज्ञान, कौशल तथा अनुभव को अपने अध्यापन कार्य की सफलता की एक आवश्यक पूर्वशर्त मानते थे।

यास्नाया पोल्याना स्कूल में अध्यापक का कार्य सामान्य स्कूल की अपेक्षा कहीं अधिक कठिन था। सामान्य स्कूल में बंधा हुआ टाइम-टेबुल, कठोर अनुशासन, पुरस्कार तथा दंड के निश्चित तरीक़े और कड़ाई से निर्धारित पाठ्यक्रम होता था, जबकि यहां, यास्नाया पोल्याना स्कूल में अध्यापक से उसकी अपेक्षा की जाती थी, जिसे शैक्षिक सृजन कहना क़तई अतिरंजना न होगा, और यह चीज़ थी: अपनी बौद्धिक तथा नैतिक शक्तियों का अधिकतम उपयोग तथा अपने हर विद्यार्थी की व्यक्तिगत योग्यताओं को हर समय ध्यान में रख पाना। इसकी मिसाल लेव तोलस्तोय स्वयं थे। नतीजे के तौर पर यास्नाया पोल्याना स्कूल के कार्यकलाप के परिणाम भी सामान्य स्कूलों से भिन्न होते थे।

---

* ल० न० तोलस्तोय, शिक्षाशास्त्रीय रचनाएं, मास्को, १९५३, पृ० १५७-१५८ (रूसी में)।

इसकी पुष्टि यास्नाया पोल्याना स्कूल के एक अध्यापक ये० मार्कोव भी करते हैं, जिन्होंने बच्चों के साथ काम करने के तोलस्तोय के तरीक़ों को देखा था और अपने ऊपर उनके शिक्षाशास्त्रीय सिद्धांतों का प्रभाव अनुभव किया था।

"हम," ये० मार्कोव लिखते हैं, "उनके विद्यार्थियों की आश्चर्यजनक प्रगति को देख रहे थे। इन विद्यार्थियों में कुछ चुस्त-चालाक किस्म के छोकड़े भी थे, जो सीधे हल की मूठ या भेड़ों के रेवड़ छोड़कर स्कूल आये थे और कुछ ही महीनों की पढ़ाई के बाद फर्राटे से और लगभग ग़लतियों के बिना निबंध लिखने लग गये थे।"*

लेव तोलस्तोय के निदेशन में स्कूल का व्यावहारिक कार्यकलाप इसका अकाट्य प्रमाण प्रस्तुत करता था कि जितना हम सोचते हैं, शिक्षण उससे कहीं अधिक जटिल प्रक्रिया है, कि जितना ही हर बच्चे की आयुगत तथा व्यक्तिगत विशेषताओं का ध्यान रखा जायेगा, बच्चों पर शैक्षिक प्रभाव उतना ही फलदायी होगा। यास्नाया पोल्याना स्कूल की पद्धति ने ज्ञान के सचेतन तथा सृजनात्मक आत्मसात्करण की प्रक्रिया – विद्यार्थियों की रुचि पर आधारित प्रक्रिया – से संबंधित प्रेक्षणों द्वारा शिक्षाशास्त्र को समृद्ध बनाया। उसने शैक्षिक प्रक्रिया में बिंबमूलक चिंतन के महत्व को उजागर किया, जो विद्यार्थियों की संज्ञानमूलक सक्रियता में तार्किक चिंतन से कम भूमिका अदा नहीं करता है।

प्राय: बाहर से लोग, विशेषत: शिक्षाशास्त्री और अन्य नगरों व गुबेर्नियाओं से तथा विदेशों से भी अध्यापक यास्नाया पोल्याना स्कूल देखने आया करते थे। उन्हें स्कूल के कार्यकलाप के असामान्यत: साहसिक तथा मौलिक सिद्धांत आकृष्ट करते थे। वे देखना चाहते थे कि व्यवहार में ये सिद्धांत कैसे साकार बनते हैं। इसके बावजूद कि मेहमानों के प्राय: आने-जाने से शिक्षण प्रक्रिया के सामान्य प्रवाह में बाधा पड़ती थी, तोलस्तोय यास्नाया पोल्याना में उनका सदा स्वागत करते थे, क्योंकि उनके साथ बातचीतों में वह स्कूलों के स्वतंत्र शैक्षिक कार्यकलाप विषयक अपनी प्रस्थापनाओं के सही होने की जांच कर सकते थे, उस समय तक ज्ञात शैक्षिक साधनों तथा विधियों से अपने विचारों का संबंध मालूम कर सकते थे।

---

* ये० मार्कोव, स्कूल में "जीवित आत्मा", 'वेस्तनिक येव्रोपी', १९००, पृ० ५८२ (रूसी में)।

तोलस्तोय भली भांति जानते थे कि एक स्कूल में शिक्षण विधियां बदलने से रूस की सारी शिक्षा प्रणाली नहीं बदल सकती। मगर वह यास्नाया पोल्याना स्कूल को एक तरह की सृजनात्मक खोज के तौर पर देखते थे। सार्वजनिक शिक्षा के विकास के नये तरीक़े ढूंढ़ने के लिए इस तरह की खोज देश के अन्य प्रगतिशील शिक्षाशास्त्रियों को भी शुरू करनी थी। तोलस्तोय ने मोंतेन, कोमेन्स्की, रूसो, पेस्ता-लोच्ची, उशीन्स्की, आदि महान रूसी तथा विदेशी विचारकों की शिक्षाशास्त्रीय विरासत का गहरा अध्ययन किया। पश्चिमी यूरोपीय देशों की शिक्षा संस्थाओं का अनुभव भी उनके सर्वांगीण अध्ययन का विषय बना।

१८६० में यूरोप की अपनी दूसरी यात्रा के दौरान तोलस्तोय जर्मनी, फ़्रांस, इटली, बेल्जियम और इंगलैंड गये। वहां उन्होंने बच्चों के पालन तथा शिक्षण के सिद्धांत तथा व्यवहार और उन सामाजिक अवस्थाओं का अध्ययन किया, जिनमें इन देशों में सार्वजनिक शिक्षा का संचालन किया जा रहा था। मगर उनके लिए विदेशी अनुभव के इस सारे अध्ययन का मुख्य उद्देश्य अपने देश रूस की शैक्षिक समस्याओं का सर्वोत्तम समाधान खोजना था।

यास्नाया पोल्याना स्कूल तोलस्तोय की अनुपस्थिति में भी चलता रहा। इसी समय तूला गुबेर्निया में तोलस्तोय की पहल पर और उनकी प्रत्यक्ष सहभागिता से खोले गये २० सार्वजनिक स्कूल काम कर रहे थे।

जून, १८६१ में लेव तोलस्तोय अधिकृत तौर पर अपने उयेज़्द में मध्यस्थ के पद पर काम करने लगे, जिसे किसानों और ज़मींदारों के बीच पैदा होनेवाले विवादों को निबटाना होता था।

इस काल में उनका ध्यान मुख्य रूप से किसान बच्चों के लिए स्कूल खुलवाने और किसानों के बीच ज्ञान का प्रसार करवाने पर केंद्रित रहा। मध्यस्थ की हैसियत से ज़मींदारों और किसानों के विवादों की जांच करते हुए वह अधिकांशतः किसानों के हितों की रक्षा करते थे, जो ज़मींदारों के मन में उनके प्रति असंतोष और यहां तक कि विद्वेष की भावना पैदा करता था। उनके ज्ञान-प्रसार के कार्य की भांति मध्यस्थ का कार्य भी प्रभुत्वसंपन्न वर्ग के प्रतिनिधियों को पसंद नहीं आया।

रूस के सत्तारूढ़ वर्ग तोलस्तोय द्वारा प्रकाशित पत्रिका 'यास्नाया पोल्याना' को विशेष ध्यान से देख रहे थे। पत्रिका का पहला अंक

जनवरी, १८६२ में निकला। तोलस्तोय उसके माध्यम से शिक्षा के संबंध में अपने विचारों का प्रचार करते थे, जो सामान्यतः स्वीकृत विचारों से बुनियादी तौर पर भिन्न थे। उनका कहना था कि ज्ञान का प्रवाह इकतरफ़ा नहीं है, कि तथाकथित आम जनता को शिक्षा देते हुए शिक्षित समाज स्वयं भी उससे बहुत कुछ सीख सकता है और उसे सीखना भी चाहिए। इसके बिना सार्वजनिक शिक्षा का समुचित विकास नहीं हो सकता।

तोलस्तोय के अधिकांश शिक्षाशास्त्रीय लेख सबसे पहले 'यास्नाया पोल्याना' में ही छपे थे। यह पत्रिका स्कूल संचालन के उनके अनुभव को प्रतिबिंबित करती थी। उसमें वास्तविक शैक्षिक प्रक्रिया की समस्याओं का विवेचन किया जाता था, जो एक विज्ञान के तौर पर शिक्षाशास्त्र के लिए बड़ा मूल्य रखता था। तोलस्तोय ने उसमें सहयोग के लिए पहले शोधकर्त्ता अध्यापकों को आमंत्रित किया। उन्होंने लिखा कि ऐसे सभी अध्यापक हमारे संवादी हो सकते हैं, जो अपने कार्य को मात्र जीविका उपार्जन का साधन या बच्चों को पढ़ाने की ड्यूटी नहीं मानते, बल्कि शिक्षा वैज्ञानिक प्रयोगों का क्षेत्र भी मानते हैं। अपनी अपील में उन्होंने कहा कि एक विज्ञान के तौर पर शिक्षाशास्त्र धैर्य और लगन के साथ हर कहीं किये जानेवाले प्रयोगों के ज़रिये ही आगे बढ़ सकता है।

उन्होंने पत्रिका के लिए एक व्यापक कार्यक्रम बनाया था, जिसमें नयी अध्यापन विधियों, विद्यार्थियों के नियंत्रण की नयी युक्तियों और सार्वजनिक शिक्षा से संबंधित प्रशासनिक कार्यकलाप के नये उसूलों का वर्णन भी शामिल था। योजना यह भी थी कि पत्रिका में स्कूलेतर शिक्षा के रूपों तथा विधियों, स्कूली ज्ञान के व्यवहार में उपयोग और उसके आगे विकास, अध्यापन के सफल या असफल रहने के कारणों तथा जनता द्वारा पसंद की गयी पुस्तकों के बारे में लेख छापे जायेंगे और सार्वजनिक स्कूलों से संबंधित विविध ब्योरे तथा उनकी अच्छाइयों व उनमें आम तौर पर पायी जानेवाली कमियों के विश्लेषण प्रस्तुत किये जायेंगे।

संपादकमंडल ने सभी शिक्षाशास्त्रीय प्रवृत्तियों के लोगों को पत्रिका में सहयोग देने के लिए बुलाया। लेखकों के सामने एकमात्र शर्त यह रखी गयी थी कि वे जो कुछ लिखें, वह स्कूली शिक्षा तथा उसकी समस्याओं का यथार्थपरक चित्रण हो।

'यास्नाया पोल्याना' ने अपने पहले ही अंक से जनमत का ध्यान आकृष्ट कर लिया। उसके लेखों, विशेषत: स्वयं संपादक के लिखे हुए लेखों को लेकर उग्र बहसें छिड़ जाती थीं। इसका मुख्य कारण यह था कि तोलस्तोय उनमें शिक्षा और शिक्षाशास्त्र के बुनियादी सवाल उठाते थे।

पत्रिका हर मास निकलती थी। किंतु लेव तोलस्तोय के जोशीले शैक्षिक कार्यकलाप में शीघ्र ही बलात् व्यवधान डाल दिया गया। ज़ारशाही सरकार के अधिकारी महान लेखक और शिक्षाशास्त्री के कार्यकलाप को शक की निगाहों से देखते थे और शिक्षा संबंधी उनके मौलिक विचारों में तथा प्रगतिशील ढंग से बच्चों को शिक्षा देने के उनके प्रयासों में ज़ार के निरंकुशतंत्र के लिए ख़तरा देखते थे।

१८६२ के ग्रीष्म में, जब तोलस्तोय यास्नाया पोल्याना में नहीं थे, उनके स्कूल की तलाशी ली गयी। पुलिस के इस छापे के तोलस्तोय के सारे शैक्षिक कार्यकलाप के लिए अत्यंत गंभीर दुष्परिणाम निकले। उस समय यास्नाया पोल्याना में मौजूद अध्यापक ये० मार्कोव बताते है कि यह छापा एक भयंकर चढ़ाई जैसा था। पुलिसवालों ने सभी मेज़ें, अल्मारियां, बक्से, पेटियां, वग़ैरह उलट-पुलट डालीं और तलाशी ली। घुड़साल में फ़र्श तक को उखाड़ा गया। बाग़ की तलैयाओं में छपाई मशीन खोजने की कोशिश की गयी, जिसपर जैसे कि ग़ैरक़ानूनी साहित्य छापा जाता था। लेकिन जाल में छपाई मशीन के बजाय मछलियां और केकड़े ही आये।

पुलिस के छापे से लेव तोलस्तोय को बड़ा धक्का पहुंचा। अत्यंत अपमानित महसूस करते हुए उन्होंने ज़ार अलेक्सांद्र द्वितीय से पुलिस की मनमानी की शिकायत की और सार्वजनिक तौर पर उसकी भर्त्सना किये जाने की मांग की। पर ज़ार से कोई उत्तर नहीं आया। क्षुब्ध तोलस्तोय समझ गये कि स्कूल का काम आगे जारी रखना असंभव है।

शैक्षिक कार्यकलाप के लिए तोलस्तोय को तंग किया जाना यास्नाया पोल्याना स्कूल पर छापे के बाद भी जारी रहा। उसी वर्ष अक्तूबर में रूस के घरेलू मामलों के मंत्री ने 'यास्नाया पोल्याना' पत्रिका को हानिकारक तथा बड़ा ख़तरनाक घोषित किया और कहा कि वह धर्म और नैतिकता की जड़ों पर कुठाराघात कर रही है। मंत्री का मत था कि तोलस्तोय की पत्रिका अनुभवहीन अध्यापकों को बरगलाकर घातक

रास्ते पर अग्रसर कर सकती है और सार्वजनिक शिक्षा को ग़लत दिशा में ले जा सकती है। दिसंबर, १८६२ में निकला बारहवां अंक पत्रिका का अंतिम अंक सिद्ध हुआ।

इस समय से लेव तोलस्तोय अपने बृहद् उपन्यास 'युद्ध और शांति' के लेखन में जुट गये। यह कार्य कोई छह वर्ष बाद जाकर समाप्त हुआ। मगर शिक्षा और शिक्षाशास्त्र से संबंधित विचारों ने इस बीच भी उनका पीछा नहीं छोड़ा। वह बार-बार उन सिद्धान्तों के बारे में सोचते, जिनपर यास्नाया पोल्याना स्कूल का कार्यकलाप आधारित था और जिन्हें उन्होंने अपनी पत्रिका में विकसित किया था। उनकी योजना थी कि अपनी शिक्षाशास्त्रीय खोजों के परिणामों के बारे में वह एक पृथक पुस्तक लिखेंगे। इसकी जानकारी उनकी डायरियों की टीपों और मित्रों तथा परिजनों के नाम पत्रों से मिलती है: "आज सुबह कुछ शिक्षा के बारे में लिखा" (अप्रैल, १८६५); "अपने शिक्षाशास्त्रीय सिद्धांतों के बारे में बहुत सोचा। मुझे इस बारे में सब कुछ लिख लेना चाहिए" (सितंबर, १८६५); "हर समय इसके ('यास्नाया पोल्याना' के लेखों के – स० ये०) बारे में ही सोचता रहता हूं। अगर जिंदा रहा, तो इस सबको एक पुस्तक की शक्ल देना चाहूंगा..." (अ० अ० फ़ेत के नाम पत्र, मई, १८६५)।

'युद्ध और शांति' अभी लिखा ही जा रहा था कि १८६८ में तोलस्तोय एक और पुस्तक – सार्वजनिक स्कूलों के लिए रीडर – की तैयारियां करने लग गये और इस सिलसिले में उन्होंने कई कहानियां लिख भी डालीं। उनकी इस नयी शिक्षाशास्त्रीय योजना का महत्व तब स्पष्ट हो जाता है, जब हम इस तथ्य पर ग़ौर करते हैं कि उस समय रूस में इस तरह की कोई पुस्तक नहीं थी। उनके विचारानुसार, इस पुस्तक को हर बच्चे के लिए ज्ञान की दुनिया में पहुंचने की पहली सीढ़ी होना चाहिए था। असल में उसकी सामान्य रूपरेखा, उसके विधि संबंधी आधारों, आदि के बारे में वह बहुत वर्षों से सोचते आ रहे थे। शरद, १८७१ में उन्होंने इस रीडर को, जिसका नाम उन्होंने 'ककहरा' रखा, लिखना शुरू किया और उसी वर्ष के अंत तक पांडुलिपि छापाख़ाने को दे भी दी गयी। १८७२ के अंत में पुस्तक बाज़ार में आ गयी।

'ककहरा' के बारे में तोलस्तोय ने कहा था कि उन्होंने इसे

पूरे जी-जान से लिखा है। 'काउंट लेव तोलस्तोय का ककहरा' का प्रकाशन रूसी शिक्षाजगत की एक बहुत महत्वपूर्ण घटना था।

'ककहरा' चार भागों ("पुस्तकों") में विभाजित पाठ्य-सामग्रियों का समुच्चय है। ये चार भाग हैं: १) स्वयं ककहरा या वर्णमाला, २) आरंभिक पढ़ाई के लिए टेक्स्ट, ३) स्लाव भाषा के टेक्स्ट और ४) गणित की पढ़ाई के लिए सामग्रियां और अध्यापक के लिए शिक्षण विधियों के बारे में सिफ़ारिशें। बहुत वर्षों के परिश्रम के फलस्वरूप लिखी गयी यह पुस्तक सबसे छोटे विद्यार्थियों के लिए एक तरह का विश्वकोश थी। उसमें साहित्यिक सामान्यीकरण की शैली में बच्चों को भौतिकी, रसायनशास्त्र और प्राणिविज्ञान की आधारभूत संकल्पनाओं से परिचित कराया गया था, वनस्पतियों के जीवन, मनुष्य तथा पशुओं के संवेदनों, चुंबकत्व, बिजली, आदि के बारे में बताया गया था।

सत्तर के दशक में तोलस्तोय ने अपने व्यावहारिक शैक्षिक कार्यकलाप के दायरे को और व्यापक बनाने के प्रयत्न किये। अप्रैल, १८७४ में उन्होंने शिक्षा मंत्रालय को लिखा कि वह ऐसे विशेष स्कूलों के लिए अध्यापन का कार्यक्रम तथा योजना बनाना चाहते हैं, जो भावी स्कूली अध्यापकों को प्रशिक्षण देंगे। पत्र के उत्तर के लिए लंबी प्रतीक्षा करनी पड़ी। वर्ष के बिल्कुल अंत में उन्हें सूचित किया गया कि मंत्रालय उनके प्रस्ताव पर विचार करेगा। इस तरह लेव तोलस्तोय को एक बार फिर विश्वास हो गया कि मंत्रालय के अधिकारियों से सार्वजनिक शिक्षा की आवश्यकताओं को समझने की आशा करना व्यर्थ है।

सत्तर के दशक में तोलस्तोय ने यास्नाया पोल्याना स्कूल में पढ़ाई फिर शुरू की। उन्होंने अपने साठ के दशक में बने सार्वजनिक शिक्षा संबंधी विचार त्यागे नहीं थे। उन्होंने अपने को पहले की भांति पूरी तरह शिक्षा तथा स्कूल को समर्पित कर दिया। इसमें उन्हें केवल अधि-कारियों से ही नहीं, बल्कि अपने परिवार से भी कोई समर्थन नहीं मिला। उनकी पत्नी सोफ़िया अंद्रेयेव्ना अपने पत्रों में (१८७४) रिश्ते-दारों से शिकायत करती थीं कि उनके पति सुबह से शाम तक स्कूल के कामों में व्यस्त रहते हैं, कि वह नहीं समझतीं कि इससे किसी को कोई फ़ायदा होता है, वग़ैरह। मगर पत्नी का ऐसा रवैया भी तोलस्तोय को रोक न सका। उन्हें अपने अध्यापकीय काम के महत्व के बारे में

विश्वास था और वह नियमित रूप से स्कूल में जाकर किसानों के बच्चों को पढ़ाते रहे। उन्होंने लिखा: "जब मैं स्कूल में प्रवेश करता हूं और चमकीली आंखोंवाले तथा चेहरे पर देवदूत जैसे भाव लिये हुए इन फटेहाल, गंदे, मरियल बच्चों को देखता हूं, तो मुझे ऐसी आशंका और संत्रास घेर लेते हैं, जैसे किसी डूबते आदमी को देखते समय महसूस किये जाते हैं। यहां सचमुच सबसे मूल्यवान चीज़ डूब रही है, यानी वह आ-त्मिक चीज़, जो बच्चों की आंखों में इतने स्पष्ट रूप से दिखायी देती है। मैं जनता के लिए शिक्षा केवल इसलिए चाहता हूं कि वहां डूब रहे उन पुश्किनों, ओस्त्रोग्रादस्कियों, फ़िलारेतों और लोमोनोसोवों को बचा सकूं। और उनकी हर स्कूल में भरमार है। कुछ भी हो, मेरा काम अच्छा चल रहा है, बहुत अच्छा चल रहा है। मैं देखता हूं कि मैं सचमुच का काम कर रहा हूं, और आशा से अधिक तेज़ी से आगे बढ़ रहा हूं।"*

१८७४ के अंत में तोलस्तोय 'नया ककहरा' तैयार करने लगे। वह अगले वर्ष मई में छपकर निकला और सामान्य तथा शिक्षाशास्त्रीय पत्र-पत्रिकाओं में उसके बारे में और भी अधिक अनुकूल सम्मतियां प्रकाशित हुईं। लेखक ने अपने विरोधी शिक्षाशास्त्रियों से बहस के परिणामस्वरूप 'ककहरा' में सुधार किया था। शिक्षा मंत्रालय की विद्वत्परिषद ने उसे रूस के सभी प्राथमिक स्कूलों में उपयोग के लिए स्वीकार किया। तोलस्तोय की इस रचना में साकार हुए शिक्षण विधि संबंधी विचारों को उत्तरोत्तर व्यापक मान्यता प्राप्त हुई। लेखक के जीवनकाल में 'नया ककहरा' के ३० से अधिक संस्करण निकले। तोलस्तोय लिखित पाठ्यपुस्तकों पर की जानेवाली प्रशंसा की बौछार दिनोंदिन बढ़ती ही गयी।

सत्तर के दशक के मध्य में लेव तोलस्तोय ने यास्नाया पोल्याना में अध्यापक प्रशिक्षण विद्यालय खोलने की अपनी योजना को कार्यरूप देना शुरू किया। उनका मत था कि किसानों के बच्चों के लिए स्थापित स्कूलों के अध्यापक किसानों के बीच से ही तैयार किये जाने चाहिए, क्योंकि वे अपने रहन-सहन के ढंग की दृष्टि से अपने विद्यार्थियों के

* ल० न० तोलस्तोय, ककहरा। नया ककहरा, मास्को, १९७८, पृ० १९१ (रूसी में)।

अधिक निकट होंगे और इसलिए उनपर अधिक कारगर शैक्षिक प्रभाव डाल सकेंगे। १८७६ में इस उद्देश्य से उन्होंने शिक्षा मंत्रालय से निजी शिक्षा संस्था के तौर पर स्थायी अध्यापक प्रशिक्षण कोर्स खोलने की अनुमति मांगी। यह कोर्स दो वर्ष का होना था और एक बैच में ५० या इससे अधिक प्रशिक्षणार्थी लिये जाने थे। व्यावहारिक अभ्यासों के लिए कोर्स के साथ स्कूल भी चलाया जाना था। पढ़ाई सरदियों के छह महीनों में चलनी थी। लेव तोलस्तोय ने प्रशिक्षण कोर्स के स्थायी निदेशन का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लिया था।

मंत्रालय से अनुमति मिल गयी। किंतु स्थानीय प्रशासन से भी अनुमति पाना आवश्यक था। इसके अलावा प्रशिक्षणार्थियों का चुनाव भी स्थानीय प्रशासन द्वारा किया जाना था। इन निर्णयों की प्रतीक्षा किये बिना तोलस्तोय ने अपने यास्नाया पोल्याना के घर में प्रशिक्षण विद्यालय के लिए जगह नियत कर ली। पर योजनानुसार शरद, १८७७ में कोर्स का उद्घाटन न हो सका, क्योंकि स्थानीय प्रशासन इस समय तक केवल १२ उम्मीदवारों का चयन कर पाया था। तोलस्तोय की शिक्षा प्रसार संबंधी कार्रवाइयों के प्रति आसपास के ज़मींदारों के विद्वेषपूर्ण रवैये को देखते हुए यह अप्रत्याशित नहीं था। स्थानीय अधिकारियों ने अगले वर्ष भी लेव तोलस्तोय के व्यावहारिक शैक्षिक कार्यकलाप में हर तरह से बाधाएं डालीं।

जीवन के अंतिम वर्षों की लेव तोलस्तोय की शिक्षाशास्त्रीय खोजें उनकी नैतिक और आचारिक सीखों से संबंध रखती थीं, जिसका सबूत उनके इन वर्षों के पत्र, टिप्पणियां और लेख हैं, जैसे 'पालन के बारे में स्फुट विचार' (१९०२), 'नैतिक प्रश्नों पर बच्चों के साथ बातचीत' (१९०८), 'पालन के बारे में' (१९०७), 'अध्यापक का मुख्य उद्देश्य क्या है?' (१९०९), आदि। सरकारी धर्म (रूसी आर्थोडाक्स चर्च) से नाता तोड़कर (जीवन के अंत में उन्हें चर्च ने बहिष्कृत कर दिया था) तोलस्तोय ने 'सच्ची ईसाइयत' के विचारों का प्रतिपादन किया, बुराई का हिंसा द्वारा विरोध न करने पर ज़ोर दिया और बताया कि मानव संबंधों को बेहतर बनाने तथा इस प्रकार से सामाजिक खुशहाली की स्थापना में पालन व शिक्षा की अत्यंत महत्वपूर्ण भूमिका है।

शिक्षा के क्षेत्र में तोलस्तोय का व्यावहारिक कार्यकलाप उनके लिए

एक अल्पकालीन शौक़ न था। विकासशील पीढ़ी को विज्ञान और संस्कृति के संपर्क में लाने के नये उपाय वह कई दशकों तक लगातार तलाशते रहे थे और अपने पीछे काफ़ी बड़ी शिक्षाशास्त्रीय विरासत छोड़ गये हैं।

लेव तोलस्तोय की विरासत, प्रगति की उनकी समझ, स्वतंत्र पालन की उनकी अवधारणा और विभिन्न सामाजिक व शिक्षाशास्त्रीय प्रश्नों पर उनके विचारों को लेकर बहसें आज तक चल रही हैं। इन बहसों का मूल कारण, जैसा कि हम बता चुके हैं, तोलस्तोय की समकालीन रूसी सामाजिक वास्तविकता का विरोधपूर्ण होना था। अमूर्त चिंतन के स्तर पर लिये जाने पर तोलस्तोय की कतिपय शिक्षा तथा शिक्षण-विधि संबंधी प्रस्थापनाएं तथा सिद्धांत विवादास्पद भी लग सकते हैं। किंतु अगर हम उनकी जांच उन सामाजिक परिस्थितियों के संदर्भ में करें, जिनमें उन्हें प्रतिपादित किया गया था और साथ ही रूसी वास्तविकता की जिन परिघटनाओं के विरुद्ध वे लक्षित थे, उन्हें भी ध्यान में रखें, तो उनके सुस्पष्ट एवं युक्तिसंगत होने में कोई संदेह नहीं रह जाता है।

तोलस्तोय के सभी वास्तविक और प्रतीयमान अंतर्विरोधों के बावजूद ऐसे कुछ विचार उनकी सभी रचनाओं में पर्याप्त स्पष्टता के साथ व्यक्त हुए हैं, जो उनकी शिक्षाशास्त्रीय संकल्पना के लिए काफ़ी अधिक लाक्षणिक हैं। उनमें सबसे मुख्य सार्विक शिक्षा और मानवतावाद, शिक्षा को जनव्यापी तथा स्वतंत्र बनाने, और शिक्षाशास्त्र को एक ऐसे विज्ञान के तौर पर प्रस्थापित करवाने के विचार थे, जो बच्चे के सही तथा सर्वांगीण ज्ञान पर, उसके आयुगत तथा मानसिक विकास की नियमसंगतियों के ज्ञान पर आधारित हैं।

लेव तोलस्तोय के कृतित्व के विश्वव्यापी महत्व पर ज़ोर देते हुए व्ला० इ० लेनिन ने कहा था: "उनकी विरासत में वह चीज़ है, जो अतीत की बात नहीं बन गयी है और भविष्य से संबंध रखती है।"* ये शब्द तोलस्तोय की शिक्षाशास्त्रीय विरासत पर भी पूरी तरह लागू होते हैं।

लेव तोलस्तोय के स्वप्नों का स्कूल वह था, जो बच्चे को सदा उल्लासित, जिज्ञासापूर्ण तथा ग्रहणशील बनाये रखे, उसके स्वतंत्र चिंतन

---

* व्ला० इ० लेनिन, लेव तोलस्तोय, १९१०।

को विकसित करे और मानवतावादी आदर्शों के मुताबिक उसके व्यक्तित्व के निर्माण में सहायक हो।

लेव तोलस्तोय की दृष्टि में आदर्श स्कूल वह था, जो जीवन से अलग नहीं रहता, बल्कि जीवन से संबंध बनाये रखने में अपने फलप्रद कार्य की गारंटी देखता है। बच्चे के लिए जीवनीय सक्रियता और उससे संबद्ध छापें ज्ञान के स्कूल के पाठ्यक्रम से कम समृद्ध स्रोत नहीं हैं। तोलस्तोय के विचारानुसार, स्कूल का एक सबसे महत्वपूर्ण उद्देश्य यह है कि बच्चा परिवेश से ग्रहण की गयी छापों को अपनी चेतना का अंग बना सके।

उनका विश्वास था कि ज्ञान के लिए बच्चों की सहज ललक पर आधारित स्वतंत्र स्कूल समय आने पर वास्तविकता बन जायेगा। भावी पीढ़ियों को उन्होंने अपने ऐसे विचार वसीयत किये, जिनपर वह कठिन सृजनात्मक खोजों के परिणामस्वरूप पहुंचे थे।

लेव तोलस्तोय के शिक्षाशास्त्रीय विचारों तथा कार्यकलाप में उनके जीवनकाल में भी बहुत अधिक रुचि दिखायी गयी थी। उनके एक समकालीन, एर्नेस्ट क्रॉसबी ने, जिन्होंने वर्तमान शती के आरंभ में यास्नाया पोल्याना स्कूल के अनुभव का अध्ययन किया था, लिखा था: "तोलस्तोय रूसी जनता की आत्मिक विशेषताओं के अभिव्यक्तिकर्त्ता हैं, और इस जनता का सौभाग्य है कि उसे ऐसा प्रतिभाशाली प्रवक्ता मिला है।"

किंतु तोलस्तोय की मातृभूमि में, ज़ारशाही रूस में, उनकी शिक्षाशास्त्रीय रचनाओं को प्रसिद्धि और मान्यता तुरंत नहीं मिल पायीं। इसका कारण यह था कि प्रभुत्वसंपन्न वर्ग जनता के बीच ज्ञान व शिक्षा के प्रसार में रुचि नहीं रखते थे, और जहां तक जनता का सवाल है, तो तोलस्तोय के जीवनकाल में उसका अधिसंख्य भाग निरक्षर ही बना रहा।

तोलस्तोय की साहित्यिक और शिक्षाशास्त्रीय विरासत वस्तुतः समस्त जनता की संपदा रूस में महान अक्तूबर समाजवादी क्रांति की विजय के बाद ही बन पायी। सोवियत सत्ताकाल में तोलस्तोय की रचनाएं अनेकों बार और लाखों प्रतियों के संस्करणों में छपी हैं। उनकी साहित्यिक कृतियां सोवियत संघ में सभी स्कूलों के पाठ्यक्रम का अनिवार्य अंग हैं और सभी भावी अध्यापकों (इनमें शिशुगृहों तथा किंडरगार्टनों के शिक्षक और बच्चों से संबंध रखनेवाली स्कूलेतर संस्थाओं के कर्मी भी शामिल हैं) के लिए तोलस्तोय की शिक्षाशास्त्रीय कृतियों का अध्ययन आवश्यक है।

सोवियत अध्यापक के लिए लेव तोलस्तोय की विरासत सृजनात्मक प्रेरणा का स्रोत और बाल तथा किशोर पीढ़ी के पालन के उदात्त ध्येय के निमित्त आत्मत्यागपूर्ण कार्य की मिसाल है। वर्तमान काल में सोवियत संघ में सामान्य शिक्षा तथा व्यावसायिक शिक्षा के क्षेत्र में जो सुधार किया जा रहा है, वह मानवतावादी शिक्षा तथा व्यक्तित्व के स्वतंत्र, सर्वांगीण विकास के आदर्शों और उन अन्य प्रगतिशील विचारों को व्यवहार में साकार बनाने के लिए नये अवसर प्रदान करता है, शिक्षाशास्त्र के दृष्टिकोण से जिनके प्रतिपादन में लेव तोलस्तोय ने बड़ा और अनुपम योग दिया था।

स० फ़० येगोरोव,
डी० एस-सी० (शिक्षाशास्त्र)

१. सार्वजनिक शिक्षा समाज की योजना

(१२ मार्च, १८६०)

ये० प० कोवालेव्स्की के नाम पत्र*

प्रिय येगोर पेत्रोविच, आपको शायद याद होगा कि मैं पिछले तीन वर्ष से गांव में रह रहा हूं और खेतीबाड़ी करता हूं। खेतीबाड़ी के अलावा इस वर्ष शरद से मैं लड़के-लड़कियों और बड़ों के लिए एक स्कूल भी चला रहा हूं, जो सबके लिए खुला है। कोई ५० विद्यार्थी जमा हो गये हैं और उनकी संख्या बढ़ती ही जा रही है। लोगों का कहना है कि विद्यार्थियों और स्कूल की प्रगति अप्रत्याशित है। यह कैसे और क्यों हुआ, सब कुछ बता पाना कठिन है। इसके लिए या तो पूरा पोथा ही लिखना होगा या खुद आकर देखना होगा। बात असल में यह है। मुझे लगता है कि सांसारिक मामलों में बुद्धिमानी यह जानने में नहीं है कि क्या करना चाहिए, बल्कि यह जानने में है कि क्या पहले करना चाहिए और क्या बाद में। मैं सोचता हूं कि रूस की प्रगति के लिए टेलीग्राफ़, सड़कें, स्टीमर, बंदूकें, साहित्य (अपनी सारी निधि के साथ), थियेटर, कला अकादमियां, आदि कितने भी उपयोगी क्यों न हों, वे तब तक असमयोचित और निरर्थक हैं, जब तक आंकड़े बताते हैं कि देश की आबादी का सभी तथाकथित स्कूली विद्यार्थियों सहित केवल १/१०० भाग ही पढ़ रहा है। यह सब उपयोगी है, लेकिन वैसे ही कि जैसे इंगलिश क्लब के डिनर का खाना, जो सारा नौकर और बावर्ची खा डालेंगे। ये सब चीजें पैदा तो करोड़ों रूसियों द्वारा की जाती हैं, लेकिन उपभोग हज़ारों द्वारा ही किया
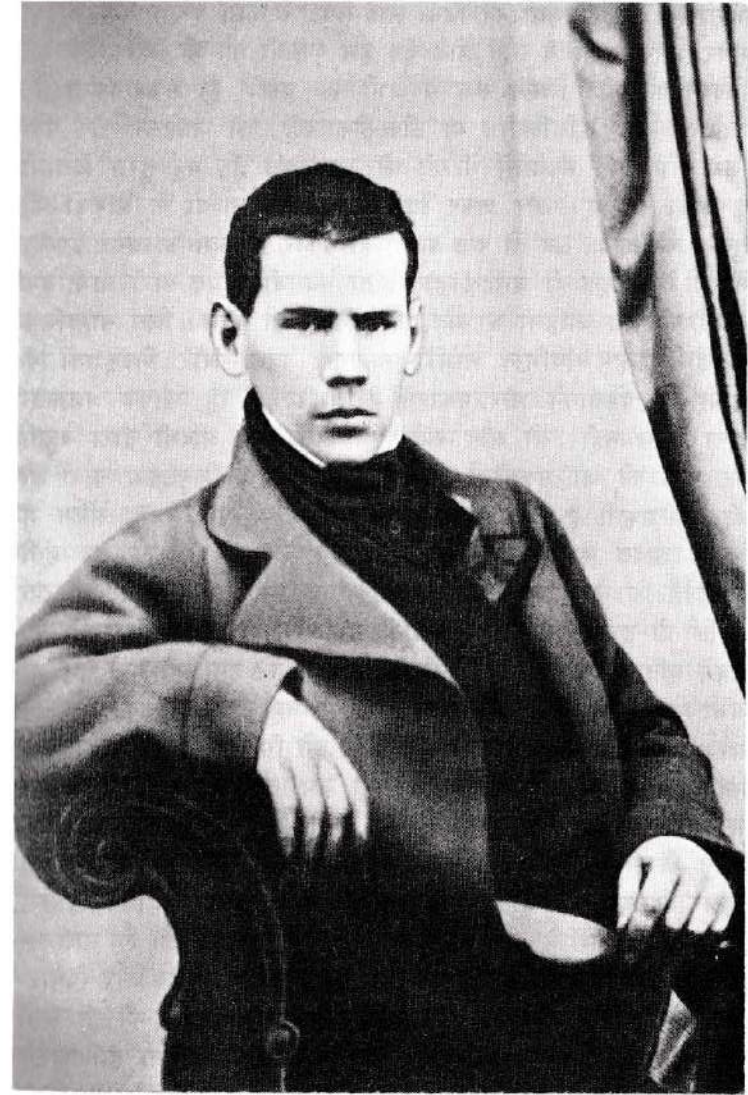
* लेव तोलस्तोय को जब किसी समस्या के बारे में अपने विचार प्रकट करने होते थे, तो इसके लिए वह पत्र-विधा का प्रायः सहारा लिया करते थे।

लेव तोलस्तोय विद्यार्थी-काल में

जाता है। स्लावप्रेमियों को बिना लाग-लपेट के बातें करना नहीं आता, मगर अनजाने ही वे सही होते हैं। हम रूसियों को ही नहीं, ऐसे हर विदेशी को भी, जिसने रूस में अभी २० वर्स्ट* ही सफ़र किया है, शिक्षितों और अशिक्षितों, या ठीक-ठीक कहें, तो जाहिलों और पढ़े-लिखे लोगों की संख्याओं में जो घोर असंतुलन है, वह तुरंत दिखायी दे जाना चाहिए। और अगर विभिन्न यूरोपीय राज्यों के आंकड़ों की तुलना की जाये, तब तो कुछ कहना ही बेकार है। प्रसंगतः अगर इंगलैंड में सौ में से एक ही जाहिल होता, तो तब भी शायद सारी सामाजिक बुराई की जड़ जाहिलों का यह एक प्रतिशत ही होता। जिस सामाजिक बुराई को हम विभिन्न नामों – ज़्यादातर हिंसा और निरंकुशता के नामों – से पहचानने और पुकारने के आदी हैं, वह व्यापक अज्ञानता द्वारा हिंसा नहीं, तो और क्या है? हिंसा एक आदमी द्वारा बहुतों पर नहीं की जा सकती, वह सिर्फ़ ऐसी प्रभावी बहुसंख्या द्वारा ही की जा सकती है, जो अज्ञानता के मामले में एक है... लेकिन मैं अपनी आदत के अनुसार फिर सीख देने लग गया। मुझे खुद हंसी आती है कि मैं **आपके** सामने इतनी अधिक गंभीरता से सिद्ध कर रहा हूं कि दो दूनी चार होते हैं, यानी सार्वजनिक शिक्षा रूसी जनता की सबसे बुनियादी ज़रूरत है। और इसी शिक्षा को हम **नहीं** पाते हैं। वह अभी शुरू नहीं हुई है और कभी होगी भी नहीं, अगर उसका संचालन सरकार के हाथ में होगा। शिक्षा नहीं है, इसे सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं है। अगर आप यहां होते, तो हम तत्काल गांव का चक्कर लगाकर खुद देख और सुन लेते। वह अभी शुरू नहीं हुई है, यह सिद्ध करने के लिए भी हम तत्काल स्कूल में जाते और मैं आपको ऐसे साक्षर दिखाता, जिन्होंने पहले पादरियों के यहां पढ़ा था। ये बिल्कुल गये-गुज़रे विद्यार्थी हैं। इन बहसों पर हंसने की ज़रूरत नहीं कि साक्षरता से कोई फ़ायदा है या नहीं। मेरे लिए यह बहुत ही गंभीर और विषाद-जनक बहस है, और मैं सीधे इसके नकारात्मक पहलू को ही लेता हूं। **साक्षरता,** यानी मात्र पढ़ना और लिखना ही जानना हानिकारक है। पहली चीज़, जो वे पढ़ते हैं वह है स्लाव बाइबिल, भजनों की पुस्तक और स्लाव धर्म के उपदेशों की पुस्तक। दूसरी पुस्तकें जो वे

* एक रूसी माप, जो १०६० मीटर के बराबर है।

पढ़ते हैं, वे भविष्य बतानेवाली या ऐसी ही और पुस्तकें हैं। खुद व्यवहार में परखे बिना कल्पना करना भी कठिन है कि यह विद्यार्थियों की बौद्धिक क्षमताओं में कैसा भयावह खोखलापन और नैतिक चरित्र में कैसी विकृतियां पैदा कर डालता है। देहाती स्कूलों और धार्मिक पाठ-शालाओं का और जो पाठशालाएं सरकारी स्कूलों के लिए अध्यापक मुहैया करती हैं, उनका मुआयना करके आप समझ जायेंगे कि इन स्कूलों के विद्यार्थी दूसरों से ज्यादा बेवकूफ़ और चरित्रहीन क्यों निकलते हैं (मैं इस मसले की छान-बीन कर चुका हूं)। सार्वजनिक शिक्षा ठीक ढंग से चले, इसके लिए आवश्यक है कि उसका ज़िम्मा समाज को सौंप दिया जाये। मैं इंगलैंड की मिसाल नहीं दूंगा, जो सबसे ज्यादा शिक्षित देश है – प्रश्न वैसे ही बिल्कुल स्पष्ट है। अगर सरकार दूसरे सब काम छोड़ दे और सभी विभागों तथा आयोगों पर ताला लगाकर (जो बड़ी अच्छी बात होगी) सिर्फ़ सार्वजनिक शिक्षा पर ही सारा ध्यान देने लगे, तब भी वह सफलता शायद ही पा सके, क्योंकि उसे जिस ढंग से काम करने की आदत है, वह उसके रास्ते में आड़े आयेगा और फिर, जो मुख्य बात है, राज्य को अपने हितों का सार्वजनिक शिक्षा से कोई संबंध नहीं दिखायी देता (हालांकि वास्तव में सार्वजनिक शिक्षा भी उसका एक हित है)। किंतु समाज को सफल रहना चाहिए, क्योंकि उसके हित इससे प्रत्यक्ष रूप से जुड़े होते हैं कि जनता कितनी शिक्षित है, और इसलिए भी कि बाध्यकारी साधनों से वंचित होने के कारण समाज की कार्रवाइयां केवल जनता की ज़रूरत का अनुसरण करेंगी... मगर लगता है कि मैं फिर से सिद्ध करने लगा हूं कि दो दूनी चार होते हैं। प्रश्न केवल यह हो सकता है कि शिक्षित बनाने और शिक्षित बनने की आवश्यकता मौजूद है कि नहीं। मेरे लिए तो यह प्रश्न तय है। मेरे स्कूल के काम करने के छह महीने के भीतर आसपास के इलाक़ों में तीन और स्कूल क़ायम हो गये हैं और सब एक सी सफलता से चल रहे हैं। तो सवाल यह है: अगर सरकार के सामने निम्न योजना रखी जाये, तो उसकी क्या प्रतिक्रिया होगी?

"'सार्वजनिक शिक्षा समाज' (नाम कम आडंबरपूर्ण भी हो सकता है) का उद्देश्य जनता में शिक्षा का प्रसार करना है।

"'समाज' की आय का स्रोत सदस्यों द्वारा दिया जानेवाला सदस्यता-शुल्क, विद्यार्थियों के शिक्षा-शुल्क का एक निश्चित प्रतिशत

(जहां यह संभव है), 'समाज' के प्रकाशनों से होनेवाली आमदनी और दान होंगे।

"'समाज' के कार्य ये होंगे:

"१. पत्रिका निकालना, जिसमें तीन खंड होंगे – शिक्षाशास्त्रीय खंड (आधारिक अध्यापन के नियमों तथा विधियों के बारे में), अध्यापकों के लिए प्रारंभिक निर्देशों और विद्यार्थियों के लिए पठन-सामग्री का खंड और 'समाज' के कार्यकलाप से संबंधित विवरण का खंड।

"२. जहां स्कूल नहीं हैं और उनकी आवश्यकता अनुभव की जा रही है, वहां स्कूल खोलना।

"३. ऐसे स्कूलों के लिए पाठ्यक्रम बनाना, उनके लिए अध्यापक नियुक्त करना, उनमें दी जानेवाली शिक्षा पर और उनके आर्थिक हिसाब-किताब तथा प्रबंध पर नज़र रखना।

"४. उन स्कूलों में भी शिक्षा पर नज़र रखना, जिनके संस्थापक ऐसा चाहते हों।"

अभी तक 'समाज' के नाम पर अकेला मैं हूं। मगर मैं आपसे साफ़-साफ़ कह दूं कि ऐसा 'समाज' क़ायम हो या न हो, इस कार्यक्रम के क्रियान्वयन के लिए मुझसे जो भी हो सकता है, मैं करूंगा और अपनी पूरी शक्ति लगा दूंगा। कहने की ज़रूरत नहीं कि मेरे विचार शायद एकांगी हैं, और समाज उनमें बहुत कुछ बदल या जोड़ देगा। काश, यह बहुतों की शक्ति को एक साझे उद्देश्य के लिए एकजुट कर सकता! प्रिय येगोर पेत्रोविच, कम से कम आप तो मेरी मदद करने से न कतरायें। सरकार की मेरे बारे में अच्छी राय नहीं है। इसमें मेरी पहल क़तई नहीं दिखायी देनी चाहिए। आप ही इस बारे में येव्ग्राफ़ पेत्रोविच से बातें कर लें, या एक अच्छा सा नोट बनाकर उन्हें दिखा दें (मैं यह काम सीधे आपको सौंप रहा हूं, क्योंकि जानता हूं कि आपकी इससे पूरी-पूरी सहानुभूति होना अनिवार्य ही है)। अगर मुझे थोड़ा-बहुत भी विश्वास होता कि सरकार इस 'समाज' की अनुमति दे देगी, तो मैं योजना को कुछ अधिक गंभीरता से तैयार करता और किसी दूसरे के नाम से पेश कर देता। तूला में एक शानदार आदमी है, जिसे मैंने आज अपने इरादे से परिचित कराया है। मुझे यक़ीन है कि वह अपनी ओर से पेश करने से इंकार न करता। ख़ैर,

कुछ भी हो, आपका जरिया पक्का है। इस नोट ('समाज' के बारे में) को फिर से लिखकर और सुधारकर चाहे सीधे दे दें या जहां ज़रूरत है, वहां पहले मालूम कर लें और मुझे लिखकर बता दें कि आगे क्या करना है। सिर्फ़ इतना ज़रूर है कि सरकार की आम चाल – पहले सारी योजना, पाठ्यक्रम, आदि का विस्तार से वर्णन करने के लिए मजबूर करना और फिर इंकार कर देना – में मैं नहीं आऊंगा। मेरे लिए (और मैं गर्व से कह सकता हूं कि मेरे १०० विद्यार्थियों के लिए भी) मेरा समय बड़ा क़ीमती है। अपने यहां और भाई के यहां स्कूल का काम देखने के अलावा मैं शिक्षण के बारे में एक बड़ा लेख तैयार कर रहा हूं, जो इस लायक़ न होगा कि सरकार के सामने पेश की जानेवाली योजना में शामिल किया जा सके। अनुमति मिले या न मिले और मैं चाहे अकेला ही क्यों न होऊं, फिर भी मैं अपना गुप्त सार्वजनिक शिक्षा समाज बनाकर रहूंगा। नहीं, मज़ाक़ नहीं है, अगर 'समाज' असंभव हो जायेगा, तो मैं फिर भी पत्रिका तो निकालूंगा ही, जिसकी मैंने 'समाज' की योजना में चर्चा की है। कृपया मालूम करके मुझे लिखना कि क्या मेरे संपादकत्व में पत्रिका निकालने की अनुमति दे देंगे? इस बारे में आवेदन कैसे, किस रूप में और किसे देना है? हालांकि यहां मेरी बहुत ज़रूरत है, फिर भी अगर काम की सफलता के लिए ज़रूरी है, तो मैं पीटर्सबर्ग आने को तैयार हूं। वैसे सोचता हूं, तो लगता है कि बहुत करके आप मुझे यही जवाब देंगे: "लेव निकोलायेविच, आप शायद सचमुच देहात में बैठे हैं कि जो ऐसी योजनाओं में मगज़ खपा रहे हैं।" जब भी यों सोचता हूं, निराशा आ घेरती है। पर सरकार को किस बात का डर है? क्या स्वतंत्र स्कूल में वह चीज़ सिखायी जा सकती है, जिसे जानना नहीं चाहिए? ख़ैर, जो होगा, सो होगा। केवल उत्तर देने में तनिक भी देरी न कीजियेगा।

स्वस्थ-प्रसन्न रहें और भगवान आपका भला करे।

१२ मार्च, १८६०
यास्नाया पोल्याना

सस्नेह, आपका
लेव तोलस्तोय

२. सार्वजनिक शिक्षा के महत्व के बारे में

(१८६२)

'प्रूदों से वार्ता' लेख से

गत वर्ष मुझे रूस के बारे में श्री प्रूदों से बातें करने का मौक़ा मिला था। उन दिनों वह अपनी पुस्तक 'युद्ध का अधिकार' लिख रहे थे। मैंने उन्हें रूस, किसानों की मुक्ति और इस बारे में बताया कि उच्च वर्ग में जनता को शिक्षित देखने की ऐसी प्रबल आकांक्षा दिख रही है कि कभी-कभी वह हास्यास्पद बन जाती है और फ़ैशन का रूप ले लेती है। "क्या सचमुच में ऐसी बात है?" उन्होंने मुझसे पूछा। मैंने उत्तर दिया कि जहां तक दूर से अनुमान लगाया जा सकता है, रूसी समाज में अब इसकी चेतना पैदा हो गयी है कि जनता के शिक्षित हुए बिना कोई भी राज्य-प्रणाली टिकाऊ नहीं बन सकती। प्रूदों अपनी जगह से उछल पड़े और कमरे में चहलक़दमी करने लगे। "अगर यह सच है," उन्होंने कहा, "तो भविष्य आप रूसियों का है।" मुझे लगा कि उनके स्वर में ईर्ष्या का सा भाव था।

मैं प्रूदों से हुई इस बातचीत का हवाला इसलिए दे रहा हूं कि मेरे देखने में वह एकमात्र आदमी था, जो आज के युग में सार्वजनिक शिक्षा और प्रकाशन व्यवसाय के महत्व को समझता था। हमारे युग में प्रकाशन व्यवसाय और शिक्षा के महत्व की बात करना ऐसा छिछोरा-पन समझा जाता है कि बता नहीं सकता, जब कि मुझे लगता है कि यह महत्व न केवल पर्याप्त नहीं है, बल्कि उसे बिल्कुल समझा भी नहीं गया है। जब आप सूई में अनबटा धागा डालते हैं, तो जितना ही खींचते हैं, उतना ही कम धागा सूई में से गुज़रता है। धागे के जाने के लिए उसे वापस निकालकर फिर से बटकर डालना ज़रूरी होता है।

यही बात बहुत सारे विश्वासों के साथ भी है, जिन्हें सर्वप्रचलित समझा जाता है।

(वर्तमान काल में हम रूसियों के लिए सार्वजनिक शिक्षा ही ऐसा एकमात्र क़ानूनी सचेतन कार्यकलाप है, जिससे सारी मानवजाति को अधिकतम सुखी बनाया जा सकता है। ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है और इस प्रस्थापना को ही मैं सिद्ध करने का प्रयत्न कर रहा हूं।)

३. 'यास्नाया पोल्याना' के प्रकाशन की घोषणा
(जुलाई, १८६१)

१ जनवरी, १८६२ से तूला गुबेर्नीया के क्रापीव्ना उयेज़्द के यास्नाया पोल्याना गांव * से **'यास्नाया पोल्याना'** नामक एक मासिक प्रकाशित हुआ करेगा।

मासिक का हर अंक दो भागों में निकलेगा: वैज्ञानिक 'यास्नाया पोल्याना' और सुबोध 'यास्नाया पोल्याना'। वैज्ञानिक भाग में शिक्षाशास्त्रीय लेख हुआ करेंगे और सुबोध भाग में लोकप्रिय लेख, अर्थात् जो आम लोगों के लिए बोधगम्य और रोचक हों, ऐसे लेख। बस यही हमारा कार्यक्रम है। हां, इतनी बात ज़रूर है कि हमारे मत में शिक्षाशास्त्र प्रायोगिक विज्ञान है, न कि अमूर्त विज्ञान, और जैसा कि पेस्तालोच्ची ने कहा है, जनता के लिए सबसे अच्छी वही चीज़ है, जो उसे जंच जाती है।

हमारा विश्वास है कि स्कूलों की सभी नियम-पुस्तिकाएं बेकार हैं, मगर साथ ही हम यह भी मानते हैं कि इन बेकार नियम-पुस्तिकाओं के बावजूद ज़्यादातर स्कूलों में शिक्षण ठीक चल रहा है। इस विचित्र विरोधाभास का कारण मालूम करते हुए हमने पाया कि शिक्षण की सफलता नियम-पुस्तिकाओं पर नहीं, बल्कि स्कूलों का संगठन किस भावना में किया गया है, इसपर और अध्यापकों के उस अदृश्य प्रभाव, नियम-पुस्तिका से उन विचलनों तथा कक्षा में हर पल बदलते रहनेवाली उन विधियों पर आधारित है, जो अपना कोई भी निशान नहीं छोड़ जाते और लुप्त हो जाते हैं, यद्यपि सफल शिक्षण का वास्तविक रहस्य वे ही होते हैं। इन विधियों को दर्ज करना और उनमें जो नियम काम करते हैं, उन्हें उद्घाटित करना ही हमारे स्कूल और उसके मुखपत्र – हमारी पत्रिका के वैज्ञानिक 'यास्नाया पोल्याना' नामक भाग – का कार्य है।

इस कारण हमारी पत्रिका में लिखनेवाले अधिकांशतः यास्नाया पोल्याना स्कूल के अध्यापक होंगे या केवल वे अध्यापक ही हो सकेंगे, जो अपने कार्य को मात्र जीविका-अर्जन का साधन और बच्चों को पढ़ाने का कर्त्तव्य ही नहीं समझते, बल्कि उसे शिक्षाशास्त्रीय प्रयोगों का क्षेत्र भी मानते हैं।

हमारे युग में शिक्षाशास्त्र दार्शनिक इलहामों के ज़रिये नहीं, बल्कि धैर्यपूर्वक और निरंतर सार्वत्रिक प्रयोगों के ज़रिये ही आगे बढ़ सकता है। अध्यापक को दार्शनिक शिक्षक और नूतन शैक्षिक सिद्धांत का आविष्कारक नहीं, वरन ऐसा ईमानदार तथा लगनशील प्रेक्षक होना चाहिए, जो अपने प्रेक्षणों से दूसरों को अवगत कराना भी जानता हो।

लोक साहित्य के संबंध में हमारा विश्वास है कि जनता के वास्ते पुस्तकें लिखने के लिए साधारण प्रतिभा और कक्ष में बैठकर जनता का अध्ययन करने से ही क़तई काम नहीं चल सकता। इसके लिए स्वयं जनता द्वारा सक्रियतापूर्वक राय प्रकट करना और उसके लिए अभिप्रेत साहित्य को स्वयं उसके द्वारा पसंद किया जाना भी आवश्यक हैं। अतः हमारी योजना है कि जिन पुस्तकों के बारे में हमारी पक्की राय है कि वे जनता के लिए उपयोगी हो सकती हैं, उन सबको हम अपने स्कूल में एकत्र होनेवाले लोगों के सामने, उनकी सम्मति जानने के लिए, पेश किया करेंगे और बेधड़क होकर 'यास्नाया पोल्याना' के सुबोध भाग में केवल वे लेख और पुस्तकें ही छापा करेंगे, जो उन्हें पसंद आयें।

इसके अतिरिक्त, जनता से निरंतर निकट संपर्क बनाये रखते हुए और अपने विचारों को किसी भी समय व्यवहार में परखकर देखने का अवसर उपलब्ध होने के कारण हम पत्रिका के वैज्ञानिक भाग में सामान्य लोगों को ध्यान में रखकर लिखे गये सभी सरल शिक्षाशास्त्रीय लेखों और पुस्तकों की समीक्षा दिया करेंगे। अपने निर्णयों में हम केवल अनुभव को ही आधार बनायेंगे।

---

* यास्नाया पोल्याना गांव मास्को से ३०० किलोमीटर दूर है। इस समय वहां लेव तोलस्तोय आवास-संग्रहालय स्थित है।

इस प्रकार 'यास्नाया पोल्याना' पत्रिका में निम्न चीज़ें होंगी:

वैज्ञानिक भाग में: सभी प्रयोगों की रिपोर्टें; यास्नाया पोल्याना के स्कूल तथा तूला के माध्यमिक विद्यालय में कुछ विषयों के अध्यापन में प्रयुक्त नयी विधियों की सफलताओं तथा असफलताओं की रिपोर्टें (इन विषयों के अध्यापकों ने हमें अपने सहयोग का पूर्ण आश्वासन दिया है) और शिक्षाशास्त्रीय लेखों की आलोचनात्मक समीक्षाएं।

सुबोध भाग में: सभी प्रकार के मौलिक, अनूदित, रूपांतरित अथवा सीधे-सीधे पुनर्मुद्रित लेख, जो हमारे स्कूल में एकत्र होनेवाले लोगों की समालोचक-दृष्टि से गुज़र सकेंगे और जो हमारे मतानुसार सुरुचि और नैतिकता के मानदंडों से असंगत नहीं होंगे ...

४. अ० अ० तोलस्ताया के नाम पत्र से

(अगस्त, १८६१ के आरंभ में लिखित)

मेरा भी एक काव्यमय, मनभावन काम है, जिसे मैं किसी भी तरह नहीं छोड़ सकता – यह स्कूल है। दफ़्तर के काम और घर की सभी ड्योढ़ियों से अपना पीछा कर रहे देहातियों से फ़ुरसत पाकर मैं स्कूल में जाता हूं। मगर चूंकि उसका पुनर्निर्माण चल रहा है, तो कक्षाएं पास ही बाग़ में सेब के पेड़ों के नीचे लगती हैं। घास और झाड़ियां इतनी ज़्यादा उग आयी हैं कि वहां तक सिर्फ़ झुककर ही पहुंचा जा सकता है। वहां अध्यापक और उसके गिर्द घेरा बांधकर घास के तिनके कुतरते या लिंडन और मैपल की पत्तियां चटकाते बच्चे बैठे होते हैं। अध्यापक मेरी सिफ़ारिशों के अनुसार पढ़ाता है, पर फिर भी बहुत अच्छी तरह से नहीं, और बच्चे भी यह महसूस करते हैं। वे मुझे ज़्यादा प्यार करते हैं। हम तीन-तीन, चार-चार घंटे बैठे बातें करते रहते हैं और कोई भी नहीं ऊबता। मैं बयान नहीं कर सकता कि ये कैसे बच्चे हैं! यह जानने के लिए उन्हें अपनी आंखों से देखना होगा। हमारे प्यारे तबक़े में तो मुझे ऐसे बच्चे देखने को मिले नहीं हैं।

ज़रा सोचो तो कि दो साल के दौरान और जबकि ऊपर से थोपा हुआ अनुशासन बिल्कुल भी नहीं था, एक भी लड़के या लड़की को सज़ा देने की ज़रूरत नहीं पड़ी। सुस्ती, बदतमीज़ी, फूहड़ मज़ाक़ या गाली-गलौज की एक भी घटना नहीं हुई। स्कूल की इमारत अब बनकर लगभग तैयार हो चुकी है। तीन बड़े कमरे – एक गुलाबी और दो नीले – कक्षाओं के लिए हैं। एक कमरे में इसके अलावा एक संग्रहालय भी बनाया गया है। दीवारों से लगे तख़्तों पर पत्थरों, तितलियों, घासों और फूलों के नमूने, भौतिकी के उपकरण, आदि सजाये गये हैं।

रविवार के दिन संग्रहालय सबके लिए खुला रहता है। सप्ताह में एक बार वनस्पतिशास्त्र की कक्षा होती है और हम सब फूल, घास तथा कुकुरमुत्ते इकट्ठे करने जंगल में जाते हैं। गायन की सप्ताह में चार कक्षाएं होती हैं और चित्रकला की छह। बहुत अच्छी बात है। भूमि की पैमायश सिखाने का काम तो इतना अच्छा चल रहा है कि किसान अभी से हमारे विद्यार्थियों को बुलाने लग गये हैं। अध्यापकों की संख्या, मेरे अलावा, तीन है। सप्ताह में दो बार पादरी भी आता है। और फिर भी आप सोचती हैं कि मैं नास्तिक हूं। बेशक मैं अभी पादरी को ही पढ़ा रहा हूं कि कैसे सिखाना-पढ़ाना चाहिए।

कक्षाओं का समय आठ से बारह और तीन से छह बजे तक होता है। पर पूर्वाह्न की कक्षाएं हमेशा दो बजे तक खिंच जाती हैं, क्योंकि बच्चे कक्षा छोड़ना ही नहीं चाहते। संध्या को भी प्रायः आधे से ज़्यादा बच्चे बाग़ में छप्पर के नीचे रात काटने को रह जाते हैं। दिन और शाम के भोजन के वक़्त और शाम के खाने के बाद हम अध्यापक लोग आपस में सलाह-मशविरा करते हैं। शनिवारों को हम एक दूसरे को अपनी प्रेक्षण टिप्पणियां पढ़कर सुनाते हैं और अगले सप्ताह के लिए तैयारी करते हैं।

पत्रिका मैं सितंबर से शुरू करने की सोच रहा हूं। मध्यस्थता दिलचस्प और मजेदार काम है, पर यह अच्छा नहीं लगता कि सारा अभिजातवर्ग मुझसे घोर नफ़रत रखता है और हर प्रकार से मेरे des batons dans les roues [कामों में अड़ंगे डालता है]।

अलविदा, प्रिय मित्र। पत्र-संपर्क बनाये रहना।

लेव तोलस्तोय

५. सार्वजनिक शिक्षा के बारे में
(जनवरी, १८६२)

सार्वजनिक शिक्षा मेरे लिए सदा और सर्वत्र एक अबोधगम्य परिघटना रही है। जनता शिक्षा चाहती है; हर व्यक्ति अचेतन रूप से शिक्षा के लिए लालायित रहता है। दूसरी ओर, लोगों का अधिक शिक्षित वर्ग, यानी समाज और सरकार अपना ज्ञान जनता के कम पढ़े-लिखे वर्ग को देने, उसे शिक्षित बनाने के लिए प्रयत्नरत रहता है। स्पष्ट है कि आवश्यकताओं के ऐसे संयोग से शिक्षा देनेवाले और शिक्षा पानेवाले, दोनों ही वर्गों को हर्षित होना चाहिए था। किंतु व्यवहार में उल्टी ही बात पायी जाती है। जनता निरंतर उन प्रयत्नों का विरोध करती है, जो अधिक शिक्षित वर्ग के प्रतिनिधि के तौर पर समाज अथवा सरकार द्वारा उसे शिक्षित बनाने के लिए किये जाते हैं। फलस्वरूप ये प्रयत्न अधिकांशतः निष्फल ही सिद्ध होते हैं। प्राचीन काल के स्कूलों – भारत, मिस्र, प्राचीन यूनान और यहां तक कि रोम के स्कूलों – की तो बात ही क्या, जिनकी व्यवस्था के बारे में हमें उतना ही कम मालूम है, जितना कम इस बारे में कि इन संस्थाओं के विषय में जनता क्या सोचती थी, लूथर के ज़माने से आज तक के यूरोपीय स्कूलों में भी यह बात हमें अचंभे में डाल देती है।

जर्मनी, जिसे स्कूलों का जनक समझा जाता है, अपने लगभग २०० वर्ष लंबे संघर्ष के बाद भी जनता द्वारा स्कूलों का विरोध किये जाने को ख़त्म नहीं कर सका है। फ़्रेडरिकों द्वारा सम्मानित अपंग सैनिकों को शिक्षक नियुक्त किये जाने के बावजूद, सख़्त क़ानून के २०० वर्ष तक बने रहने के बावजूद, धार्मिक पाठशालाओं में नवीनतम ढंग के अध्यापक तैयार किये जाने के बावजूद, जर्मनों की क़ानून के सामने

झुकने की प्रवृत्ति के बावजूद शिक्षा का बाध्यतामूलक स्वरूप अभी तक जनता के लिए भारी बोझ बना हुआ है ; जर्मन सरकारें अनिवार्य शिक्षा क़ानून को खत्म करने का साहस नहीं जुटा पा रही हैं। जर्मनी केवल आंकड़ों की दृष्टि से ही जनता की शिक्षा पर गर्व कर सकता है, पहले जैसे आज भी लोग ज़्यादातर शिक्षा के प्रति घृणा का भाव लेकर ही स्कूल से निकलते हैं। फ़्रांस भी शिक्षा के राजा के नियंत्रण से गण-राज्य की सरकार के नियंत्रण में और गणराज्य की सरकार के नियंत्रण से पादरी वर्ग के नियंत्रण में आ जाने के बावजूद सार्वजनिक शिक्षा के मामले में जर्मनी की भांति अधिक सफलता नहीं पा सका है और यदि सरकारी रिपोर्टों को अपना आधार बनानेवाले शिक्षा-इतिहासकारों पर विश्वास किया जाये, तो उसकी सफलताएं जर्मनी से भी कम हैं। फ़्रांस के गंभीर राजनेता आज भी सोचते हैं कि जनता के प्रतिरोध को कुचलने का एकमात्र तरीक़ा अनिवार्य शिक्षा का क़ानून लागू करना है। स्वतंत्र इंगलैंड में, जहां ऐसा क़ानून लागू करने की बात न तो पहले कभी सोची जा सकती थी और न आज ही सोची जा सकती है, हालांकि बहुतों को इसका अफ़सोस है, सरकार ने नहीं, बल्कि समाज ने जनता द्वारा स्कूलों का विरोध किये जाने का सभी संभव साधनों से मुक़ाबला किया था और आज तक अन्य सब देशों की अपेक्षा अधिक दृढ़ता से कर रहा है। वहां कुछ स्कूल सरकार द्वारा खोले जाते हैं और कुछ स्कूल प्राइवेट सोसायटियों द्वारा। इंगलैंड में इन धार्मिक परोपकारी एजूकेशनल सोसायटियों का बड़े पैमाने पर प्रसार और उनका कार्यकलाप इसका सर्वोत्तम प्रमाण हैं कि वहां शिक्षा देनेवाले भाग को कितने घोर विरोध का सामना करना पड़ रहा है। यहां तक कि उत्तरी अमरीकी राज्य जैसा नया राज्य भी इन कठिनाइयों से नहीं बच पाया है और उसे शिक्षा को अर्द्ध-अनिवार्य बनाना पड़ा है। हमारी मातृभूमि के बारे में तो कहा ही क्या जाये, जहां अधिकांश जनता अभी भी शिक्षा का नाम सुनते ही भड़क उठती है, जहां सुशिक्षित लोग बलात् शिक्षा का जर्मनी जैसा क़ानून लागू होने के स्वप्न देखते हैं और जहां सभी स्कूल, यहां तक कि जो सर्वोच्च तबक़े के लिए हैं, वे भी सिर्फ़ नौकरी और उससे होनेवाले फ़ायदे के लालच के कारण मौजूद हैं। अभी तक हर कहीं बच्चों पर स्कूल जाने के लिए ज़ोर-ज़बर्दस्ती की जाती है और माता-पिता को क़ानून का डर दिखाकर या चालाकी से (यानी कोई

लालच देकर) अपने बच्चों को स्कूल भेजने को बाध्य किया जाता है, जबकि जनता हर कहीं स्वयं ही सीख रही है और शिक्षा को वरदान मानती है।

तो यह क्या है? शिक्षा पाने की इच्छा हर आदमी रखता है; लोग शिक्षा को वैसे ही चाहते और खोजते हैं, जैसे सांस लेने के लिए हवा को चाहा और खोजा जाता है। सरकार और समाज जनता को शिक्षित बनाने के लिए व्याकुल हैं, किंतु उनके सारे बलप्रयोग, चाला-कियों और निरंतर प्रयासों के बावजूद जनता अपने लिए प्रस्तावित शिक्षा से लगातार असंतोष जता रही है और धीरे-धीरे करके केवल शक्ति के सामने ही झुक रही है।

जैसे हर टकराव में होता है, वैसे ही यहां भी पहले यह प्रश्न हल किया जाना चाहिए था : क़ानूनसम्मत क्या है – विरोध या वह कार्रवाई, जिसका विरोध किया जा रहा है? क्या विरोध को कुचला जाना चाहिए या कार्रवाई को ही बदल डालना चाहिए?

जहां तक इतिहास से देखा जा सकता है, अभी तक यह प्रश्न सरकार और शिक्षा देनेवाले समाज के पक्ष में ही हल किया गया है। विरोध को ग़ैरक़ानूनी माना गया, उसमें मानवजाति की स्वभावगत बुराई की जड़ देखी गयी, जबकि समाज अपने काम करने के ढंग को बदले बिना, अर्थात् शिक्षा के जिस रूप और जिस अंतर्वस्तु पर उसका अधिकार था, उससे विचलित हुए बिना जनता के विरोध को कुचलने के लिए ताक़त और चालाकी से काम लेता रहा। जनता शनैः शनैः और अनिच्छा से इस कार्रवाई के सामने झुकती गयी।

हो सकता है कि कुछ ऐसी बातें रही हों, जिनकी बदौलत शिक्षा देनेवाला समाज यह जान सका कि शिक्षा के जिस निश्चित रूप पर उसका अधिकार है, वह अमुक जनता के लिए और अमुक ऐतिहासिक युग में वरदान सिद्ध होगी।

तो वे कौन सी बातें हैं? हमारे ज़माने का स्कूल एक निश्चित चीज़ ही क्यों सिखाता है, दूसरी चीज क्यों नहीं, और एक निश्चित ढंग से ही क्यों सिखाता है, दूसरे ढंग से क्यों नहीं?

सदा और सभी युगों में मानवजाति ने इन प्रश्नों का उत्तर देने का प्रयत्न किया है और कमोबेश संतोषजनक उत्तर दिया भी है। किंतु आज के युग में यह उत्तर पहले से भी ज़्यादा आवश्यक बन गया है।

चीनी मंदारिन, जो पीकिंग से बाहर कभी नहीं गया है, कन्फ़्यू-शियस की उक्तियां कंठाग्र करने को विवश कर सकता था और डंडे के ज़ोर से बच्चों के दिमाग़ में ये उक्तियां बिठा सकता था। यह मध्ययुग में भी किया जा सकता था, मगर आज अपने ज्ञान की असंदिग्धता में विश्वास की वह शक्ति कहां से लायी जाये, जो हमें जनता को बलात् शिक्षित बनाने का अधिकार दे सकती? लूथर से पहले या बाद के किसी भी मध्ययुगीन स्कूल को ले लीजिये, मध्ययुग के विद्वानों द्वारा रचे हुए सारे साहित्य को ले लीजिये – इन लोगों में अपने इस ज्ञान की, कि क्या सत्य है और क्या मिथ्या है, अचूकता तथा असंदिग्धता में कितना अटल विश्वास पाया जाता है! उनके लिए यह जानना आसान था कि यूनानी भाषा शिक्षा की एकमात्र और अनिवार्य शर्त है, क्योंकि अरस्तू ने इसी भाषा में लिखा था और सदियों बाद भी किसी ने अरस्तू की प्रस्थापनाओं की सत्यता में संदेह नहीं किया था। ईसाई भिक्षु और पादरी अटल आधारों पर टिकी पवित्र पुस्तक बाइबिल का अध्ययन किये जाने की भला मांग क्यों न करते? लूथर ने यहूदी भाषा अवश्य सीखने की मांग की थी, क्योंकि उसे पक्का मालूम था कि ईश्वर ने लोगों को सत्य का उद्घाटन इसी भाषा में किया था। स्वाभाविक ही है कि जब मानवजाति की आलोचनात्मक चिंतन-शक्ति अभी जागृत नहीं हुई थी, तो शिक्षा जड़-सिद्धांतपरक होती थी और विद्यार्थी को ईश्वर तथा अरस्तू द्वारा उद्घाटित सत्यों को और वर्जिल तथा सिसरो के काव्यात्मक सौंदर्य को रटने में ही अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझना था। अनेक सदियों बाद भी किसी को नहीं सूझ पाया था कि इन सत्यों से बड़ा भी कोई सत्य होता है या इस सौंदर्य से बड़ा भी कोई सौंदर्य है। किंतु इन्हीं जड़-सैद्धांतिक आधारों पर टिके हुए हमारे ज़माने के स्कूल की क्या स्थिति है, जब आत्मा की अमरता विषयक सत्य को रटाने के साथ-साथ विद्यार्थी को यह सिखाने का भी प्रयास किया जाता है कि तंत्रिकाएं ही, जो मनुष्य में भी पायी जाती हैं और मेंढक में भी, वह चीज़ हैं, जिसे पहले आत्मा कहा जाता था; जब विद्यार्थी को ईसा नाविन के इतिहास के बाद, जो उसे बिना किसी खुलासे के पढ़ाया जाता है, यह पता चलता है कि सूरज कभी पृथ्वी की परिक्रमा नहीं करता था; जब वर्जिल के सौंदर्य को जान लेने के बाद वह अलेक्ज़ैंडर ड्यूमा के सौंदर्य में, जो उसे पांच सैंटीम में बेचा

गया था, कहीं ज़्यादा आकर्षण पाता है; जब अध्यापक का एकमात्र विश्वास यह होता है कि सत्य कुछ नहीं है और जो कुछ भी विद्यमान है, वह तर्कबुद्धिपरक है, कि प्रगति भलाई है और पिछड़ापन बुराई है; जब कोई भी नहीं जानता कि प्रगति का यह सार्वभौम विश्वास है क्या?

इस सबके बाद मध्ययुगीन स्कूल, जिसमें सत्य असंदिग्ध थे, और हमारे स्कूल की तुलना कीजिये, जिसमें कोई नहीं जानता कि सत्य क्या है और फिर भी जहां विद्यार्थी को बलात् भेजा जाता है तथा मां-बाप अपने बच्चों को भेजने को विवश होते हैं। इतना ही नहीं, मध्ययुगीन स्कूल के लिए यह जानना आसान था कि क्या सिखाना है, क्या पहले सिखाना है और क्या बाद में, और कैसे सिखाना है। उस ज़माने में शिक्षण-विधि एक ही थी और सारा ज्ञान-विज्ञान बाइबिल में, आगस्टिन और अरस्तू की रचनाओं में संकेंद्रित था। किंतु आज जब चारों ओर से नयी-नयी शिक्षण-विधियां प्रस्तावित की जा रही हैं और ज्ञान-विज्ञान की अनगिनत शाखाएं-उपशाखाएं पैदा हो गयी हैं, हमारा काम–सभी प्रस्तावित विधियों में से किसी एक को चुनना, विज्ञान की कोई एक, निश्चित शाखा चुनना, और जो सबसे कठिन है, इन विज्ञानों के अध्यापन में उस क्रम को चुनना, जो तर्कसंगत तथा उचित हो – कितना कठिन बन गया है! यही नहीं। मध्ययुगीन स्कूल की तुलना में आज इन आधारों की खोज कहीं अधिक कठिन इसलिए भी है कि तब, अर्थात् मध्ययुग में, शिक्षा केवल एक निश्चित वर्ग तक सीमित थी, जो अपने को एक निश्चित ढंग की परिस्थितियों में रहने के लिए तैयार करता था, जबकि आज सारी ही जनता शिक्षा पाने के अधिकार का दावा कर रही है। आज यह जानना कि इन सभी बहुविध वर्गों को क्या चाहिए, हमें कहीं अधिक कठिन और कहीं अधिक आवश्यक प्रतीत होता है।

ये आधार क्या हैं? किसी भी अध्यापक से पूछ लीजिये कि वह अमुक ढंग से ही, अमुक चीज़ को ही, न कि किसी और चीज़ को, और पहले ही, न कि बाद में, क्यों पढ़ाता है। यदि उसने आपकी बात समझ ली, तो उत्तर देगा: इसलिए कि वह ईश्वर द्वारा उद्घाटित सत्य को जानता है और यह अपना कर्तव्य समझता है कि इस सत्य से युवा पीढ़ी को अवगत कराये, उसे उन सिद्धांतों की भावना में शिक्षित करे, जो निश्चय ही सत्य हैं। जहां तक धर्मेतर शिक्षा के विषयों

का प्रश्न है, उनके बारे में वह मौन रहेगा। दूसरा अध्यापक फ़िख्ते, कांट और हेगेल द्वारा निरूपित तर्कबुद्धि के शाश्वत नियमों के द्वारा अपने शिक्षण के आधारों को समझायेगा; तीसरा अध्यापक विद्यार्थी को विवश करने के अपने अधिकार को यह कहकर उचित ठहरायेगा कि ऐसा हमेशा था, कि सभी स्कूल बलात् शिक्षा पर आधारित थे, कि इसके बावजूद इन स्कूलों का परिणाम वास्तविक शिक्षा ही होता था; चौथा अध्यापक उपरोक्त सभी आधारों को एकसाथ मिलाकर कहेगा कि स्कूल जैसा है, वैसा ही उसे होना भी चाहिए, क्योंकि धर्म, दर्शन, अनुभव ने उसे वैसा बनाया है और जो ऐतिहासिक है, वही तर्कबुद्धिसंगत है। मुझे लगता है कि ये सभी दलीलें, जिनमें दूसरी भी सभी संभव दलीलें आ जाती हैं, चार श्रेणियों में बांटी जा सकती हैं: **धार्मिक, दार्शनिक, आनुभविक और ऐतिहासिक।**

जिस शिक्षा का आधार धर्म, यानी ईश्वरीय इल्हाम है, जिसकी सत्यता और औचित्य में कोई संदेह नहीं कर सकता, जनता को वह शिक्षा असंदिग्ध रूप से दी जानी चाहिए और इस मामले में – केवल इसी मामले में – बाध्यकरण उचित है। किंतु हमारे काल में, जब धार्मिक शिक्षा शिक्षा का छोटा सा हिस्सा ही है, यह सवाल धार्मिक दृष्टि से असमाधित ही रह जाता है कि स्कूल के पास युवा पीढ़ी को किसी निश्चित ढंग से सीखने के लिए विवश करने का क्या आधार है।

उत्तर शायद दर्शन में मिल जाये। क्या दर्शन के धर्म जैसे ही दृढ़ आधार हैं? ये आधार क्या हैं? उन्हें किसने, कैसे और कब प्रतिपादित किया था? हम नहीं जानते। सभी दार्शनिक भलाई और बुराई के नियम तलाशते हैं और उन्हें तलाशकर वे शिक्षाशास्त्र के सहारे (और उन सबका शिक्षाशास्त्र का सहारा लेना अपरिहार्य ही था) मानवजाति को उनके अनुसार शिक्षित होने को बाध्य करते हैं। किंतु इनमें से हर सिद्धांत, अन्य सिद्धांतों की ही भांति, अपूर्ण है और भलाई तथा बुराई की मानवजाति में निहित चेतना में मात्र एक नयी कड़ी ही जोड़ता है।

हर विचारक केवल उसी को अभिव्यक्ति देता है, जो उसके युग की चेतना का अंग बन चुका है, और इसलिए युवा पीढ़ी को इस चेतना की शिक्षा देना सर्वथा निरर्थक है – यह चेतना उसमें पहले से ही विद्यमान है।

सभी शिक्षाशास्त्रीय दार्शनिक सिद्धांतों का उद्देश्य सद्गुणी व्यक्तियों का निर्माण करना होता है। सद्गुण की संकल्पना या तो पूर्ववत् रहती है या शाश्वत रूप से विकास करती जाती है और सभी सिद्धांतों के बावजूद सद्गुणों का अपकर्ष अथवा उत्कर्ष शिक्षा पर निर्भर नहीं होता है। सद्गुणी चीनी, यूनानी, रोमन और हमारे युग का फ़्रांसीसी – सभी या तो समान रूप से सद्गुणी हैं या सभी सद्गुण से समान रूप से दूर हैं। शिक्षाशास्त्र के दार्शनिक सिद्धांत इस प्रश्न का समाधान प्रस्तुत करते हैं कि किसी निश्चित काल में प्रतिपादित और संदेहातीत माने गये आचार-सिद्धांत के अनुसार सर्वोत्तम मनुष्य का निर्माण कैसे किया जाये। प्लेटो को अपने आचारशास्त्र के उसूलों की सत्यता में कोई संदेह नहीं था और उसके आधार पर उसने अपनी शिक्षाप्रणाली का और इस शिक्षाप्रणाली के आधार पर अपने राज्य का निर्माण किया। श्लेयरमाखेर कहता है कि आचारशास्त्र अभी एक अधूरा विज्ञान है और इसलिए पालन तथा शिक्षा का उद्देश्य ऐसे व्यक्तियों का निर्माण होना चाहिए कि जो उन परिस्थितियों में रहने में समर्थ हों, जिनसे उनका जीवन में साक्षात्कार होता है, और साथ ही जी-जान से उनमें सुधार करने में भी समर्थ हों। श्लेयरमाखेर आगे कहता है कि सामान्यतः शिक्षा का उद्देश्य राज्य, चर्च, सामाजिक जीवन और ज्ञान को एक तैयार अंग देना होता है। केवल आचारशास्त्र ही, हालांकि वह अधूरा विज्ञान है, इसका उत्तर देता है कि शिक्षित व्यक्ति को जीवन के इन चार तत्वों का कौन सा अंग होना है। प्लेटो भी और अन्य दार्शनिक शिक्षा-शास्त्री भी शिक्षा का उद्देश्य और लक्ष्य आचारशास्त्र में खोजते हैं – कोई उन्हें एक निश्चित प्रकार का मानते हुए, तो कोई उन्हें मनुष्य की चेतना द्वारा शाश्वत रूप से निर्धारित किया जाता समझते हुए। किंतु इस प्रश्न का कि जनता को क्या और कैसे सिखाना चाहिए, एक भी सिद्धांत सकारात्मक उत्तर नहीं देता। कुछ एक बात कहते हैं और दूसरे दूसरी बात, और जितना ही हम आगे जाते हैं, उनकी प्रस्थापनाओं में अंतर बढ़ता जाता है। बहुत बार ये विभिन्न सिद्धांत साथ ही एक दूसरे के सर्वथा विपरीत भी होते हैं। धर्मशास्त्रीय प्रवृत्ति पांडित्यवादी प्रवृत्ति से टकराती है, पांडित्यवादी क्लासिकीय से और क्लासिकीय यथार्थवादी से। वर्तमान काल में ये सब प्रवृत्तियां साथ-साथ विद्यमान हैं। उनमें से कोई भी दूसरी प्रवृत्तियों पर पूरी तरह हावी नहीं हो सकी

है और कोई भी नहीं जानता कि क्या मिथ्या है और क्या सत्य। जो है, उससे सब असंतुष्ट हैं, किंतु साथ ही कोई भी नहीं जानता कि नया क्या चाहिए और क्या संभव है।

यदि आप शिक्षा के दर्शन के इतिहास पर दृष्टिपात करें, तो उसमें आपको शिक्षा की कसौटी नहीं मिलेगी, बल्कि, इसके विपरीत, एक सामान्य विचार मिलेगा, जिसे अचेतन रूप से सभी शिक्षाशास्त्रियों ने अपना आधार बनाया है – इसके बावजूद कि उनके बीच प्रायः मतभेद रहा है – और जो ऐसी कोई कसौटी न होने में हमारे विश्वास को पक्का बना देता है। प्लेटो से लेकर कांट तक उन सभी का उद्देश्य एक ही रहा है : शिक्षा को इतिहास के बंधनों से मुक्त करना। वे सभी अनुमान लगाना चाहते हैं कि मनुष्य को क्या चाहिए, और इन कमोबेश सही अनुमानित आवश्यकताओं के आधार पर अपनी शिक्षा की नयी अवधारणा का निर्माण करते हैं। लूथर बाइबिल को मूल में, न कि पोप-पादरियों द्वारा की हुई व्याख्याओं के मुताबिक, पढ़ाने पर ज़ोर देता है। बेकन आग्रह करता है कि प्रकृति का अध्ययन स्वयं प्रकृति से किया जाये, न कि अरस्तू की पुस्तकों से। रूसो जीवन की शिक्षा स्वयं जीवन से – जैसा कि वह उसे समझते हैं – पाना चाहता है, न कि पहले कभी के अनुभवों से। शिक्षा के दर्शन का कोई भी क़दम आगे की ओर बढ़ाया हुआ तभी कहा जायेगा, जब वह शिक्षा को युवा पीढ़ियों को वह चीज़ सिखाने के विचार से मुक्ति दिलाता हो, जिसे पुरानी पीढ़ियां ज्ञान की बात समझती थीं, और उस चीज़ को सिखाने के विचार की ओर ले जाता हो, जिसकी युवा पीढ़ियों को वस्तुतः ज़रूरत है। यह सामान्य तथा स्वयं ही अपना खंडन करनेवाला विचार शिक्षाशास्त्र के सारे इतिहास में अनुभव किया जाता है – सामान्य इसलिए कि सभी स्कूल के लिए बड़ी मात्रा में स्वतंत्रता चाहते हैं और आत्मखंडनात्मक इसलिए कि हर कोई अपने सिद्धांत के अनुसार नियम निर्धारित करता है और इस तरह स्वतंत्रता को परिसीमित बनाता है।

अतीत और वर्तमान के स्कूलों का अनुभव?.. किंतु यह अनुभव बलात् शिक्षा की विद्यमान प्रणाली के औचित्य को कैसे सिद्ध कर सकता है? हम नहीं जान सकते कि कोई अधिक उचित प्रणाली है या नहीं, क्योंकि स्कूल अभी तक स्वतंत्र नहीं थे। ठीक है कि हम शिक्षा के उच्चतर चरणों (विश्वविद्यालय, सार्वजनिक व्याख्यान) में देखते हैं कि शिक्षा

उत्तरोत्तर ज़्यादा स्वतंत्र बनने को प्रयत्नरत रहती है। मगर यह अनुमान ही है। हो सकता है कि निम्नतर चरणों में उसे सदा बाध्यतामूलक ही रहना चाहिए और अनुभव सिद्ध करता है कि ऐसे स्कूलों में कोई बुराई नहीं है? आइये, जर्मनी में शिक्षा के आंकड़े क्या कहते हैं, इसके चक्कर में पड़े बिना इन स्कूलों पर दृष्टिपात करें और उन्हें तथा जनता पर उनके प्रभाव को वास्तविकता में जानने का प्रयत्न करें। मुझे तो वास्तविकता यह प्रतीत हुई। पिता अपनी इच्छा के विरुद्ध और उस संस्था को कोसता हुआ अपनी बेटी या बेटे को स्कूल भेजता है, जिसने उसे बेटे को काम पर लगाने के अवसर से वंचित कर दिया है। वह दिन गिनता रहता है कि कब उसका बेटा schulfrei होगा [पढ़ाई से छुट्टी पायेगा]। अकेला यह शब्द ही सिद्ध कर देता है कि जनता स्कूल के बारे में क्या सोचती है। बच्चा इस विश्वास के साथ स्कूल जाता है कि वह जिस अकेली सत्ता को जानता है, यानी पिता की सत्ता, वह सरकार की सत्ता को पसंद नहीं करती, जिसके सामने झुककर उसे स्कूल में भरती होना पड़ा है। स्कूल में पढ़ चुके बड़े साथियों से उसे जो बातें मालूम होती हैं, वे भी उसके मन में स्कूल में भरती होने के लिए कोई ज़्यादा उत्साह पैदा नहीं करतीं। उसे लगता है कि स्कूल बच्चों को सतानेवाली संस्था है, ऐसी संस्था है कि जहां उन्हें बाल्यावस्था के मुख्य आनंद तथा आवश्यकता – उन्मुक्तता – से वंचित किया जाता है, जहां Gehorsam (आज्ञापालन) और Ruhe (शांति) पर सबसे ज़्यादा ज़ोर दिया जाता है, जहां पेशाब जाने के लिए भी विशेष अनुमति लेनी पड़ती है, जहां हर ग़लत काम के लिए छड़ी से पीटा जाता है, हालांकि सरकारी दस्तावेज़ों में छड़ी से पिटाई की प्रथा को समाप्त कर दिया गया बताया जाता है, या बच्चे के लिए कष्टकर चीज़ – पढ़ाई – जारी रखी जाती है। स्कूल बच्चे को उचित ही एक ऐसी जगह मालूम होता है, जहां उसे वह चीज़ सिखायी जाती है, जिसे कोई नहीं समझता, जहां उसे ज़्यादातर अपनी patois, Mundart [स्थानीय बोली] में नहीं, बल्कि किसी परायी भाषा में बोलने को विवश किया जाता है, जहां अध्यापक विद्यार्थियों में ज़्यादातर अपने जन्मजात शत्रु देखता है, जो मानो अपनी और मां-बाप की दुष्टता के कारण वह नहीं सीखना चाहते, जिसे उसने ख़ुद सीखा है, और जहां विद्यार्थी भी अपनी बारी में अध्यापक को अपना शत्रु समझते हैं, जो मानो अपनी दुष्टता के

कारण ही उन्हें इतनी कठिन चीज़ें सीखने को मजबूर करता है। ऐसी संस्था में उसे छह वर्ष तक प्रतिदिन छह घंटे रहना होता है। परिणाम कैसे रहेंगे, यह हम जो सामने है, उससे देखते हैं, यानी फिर रिपोर्टों से नहीं, बल्कि यथार्थ तथ्यों से। जर्मनी में ९/१० विद्यार्थी स्कूल से पढ़ने और लिखने की यांत्रिक योग्यता लेकर, ज्ञान की जो राह उन्होंने देखी है, उसके प्रति इतनी अधिक घृणा का भाव लेकर निकलते हैं कि बाद में वे कभी किताब को छूते तक नहीं। यदि कोई मुझसे सहमत नहीं है, तो वह मुझे वे किताबें बताये, जिन्हें लोग पढ़ते हैं। यहां तक कि पंचांग या स्थानीय अख़बार भी बहुत कम पढ़े जाते हैं। जनता के बीच शिक्षा नहीं है, इसका अकाट्य प्रमाण यह है कि जन साहित्य का पूर्ण अभाव है और हर नयी पीढ़ी को स्कूल भेजने में वैसे ही ज़ोर-ज़बर्दस्ती करनी पड़ती है, जैसे पूर्ववर्ती पीढ़ी को भेजने में करनी पड़ी थी। यही नहीं कि ऐसा स्कूल शिक्षा के प्रति नफ़रत पैदा करता है, वह इन छह वर्षों में पाखंड और धोखाधड़ी भी सिखाता है, जो उस अस्वाभाविक स्थिति की उपज होते हैं, जिसमें विद्यार्थियों को रखा गया है। ऐसा स्कूल संकल्पनाओं के घालमेल तथा गड़बड़ की उस स्थिति का आदी बनाता है, जिसे साक्षरता कहा जाता है। फ़्रांस, जर्मनी और स्विट्ज़रलैंड की अपनी यात्राओं के दौरान मैंने स्कूली विद्यार्थियों के ज्ञान के बारे में, स्कूल के प्रति उनके रवैये और उनके नैतिक विकास के बारे में जानने के लिए आरंभिक स्कूलों में और स्कूलों के बाहर भूत-पूर्व विद्यार्थियों से पूछा: प्रशा या बवारिया का मुख्य नगर कौन सा है? स्कूलों में तो मुझे कभी-कभी किताबों से रटे हुए उत्तर दे दिये गये, किंतु जो स्कूल ख़त्म कर चुके थे, वे कोई भी उत्तर न दे पाये। बिना रटे हुए उत्तर तो मैं लगभग कभी भी नहीं पा सका। गणित में मुझे कोई सामान्य नियम नहीं मिला–कभी अच्छा तो कभी बिल्कुल मूर्खता-पूर्ण। बाद में मैंने निम्न विषय पर निबंध लिखने को कहा: तुमने पिछले रविवार को क्या किया था? निरपवाद रूप से सभी लड़के-लड़कियों ने यही लिखा कि रविवार को उन्होंने सारा ख़ाली समय प्रार्थना में बिताया, न कि खेलने-कूदने में। यह स्कूल के नैतिक प्रभाव का एक नमूना है। बड़े स्त्री-पुरुषों से यह पूछे जाने पर कि स्कूल के बाद उन्होंने पढ़ाई जारी क्यों नहीं रखी और अमुक-अमुक चीज़ें क्यों नहीं पढ़ते हैं, उन सबका जवाब यही होता था कि वे प्रमाणीकरण की रस्म अदा

कर चुके हैं, स्कूल की क़ैद से गुज़र चुके हैं और एक निश्चित स्तर तक शिक्षित होने – साक्षर होने – का प्रमाणपत्र पा चुके हैं।

स्कूल के उस जड़िमाकारी प्रभाव के अलावा, जिसे जर्मनों ने इतना सटीक नाम दिया है — verdummen [जड़मति बनना] – और जो वास्तव में बौद्धिक क्षमताओं के दीर्घकाल तक विकृत होते जाने में प्रकट होता है, एक और, पहले से ज़्यादा हानिकारक प्रभाव भी है, जो इसमें व्यक्त होता है कि बच्चा रोज़ाना कई-कई घंटे पढ़ाई में व्यस्त रहने और स्कूल के जीवन के अलावा अन्य किसी चीज़ की चेतना न रह जाने के कारण अपनी आयु की दृष्टि से मूल्यवान इस सारे समय में विकास की उन आवश्यक परिस्थितियों से कट जाता है, जो स्वयं प्रकृति ने उसे मुहैया की हैं। प्रायः सुनने और पढ़ने को मिलता है कि घरेलू परिस्थितियां, मां-बाप का रूखापन, खेतों में काम, देहाती खेल, आदि स्कूली शिक्षा में मुख्य बाधाएं हैं। हो सकता है कि शिक्षा-शास्त्री जिस स्कूली शिक्षा की बात कर रहे हैं, उसके लिए वे सचमुच बाधक हों, किंतु इस बात को समझने का वक़्त आ गया है कि ये सभी परिस्थितियां हर तरह की शिक्षा के मुख्य आधार हैं, कि वे न केवल शिक्षा के शत्रु और बाधाएं नहीं हैं, बल्कि उसके पहले और मुख्य कारक भी हैं। यदि ये घरेलू परिस्थितियां न होतीं, तो बच्चा न कभी विभिन्न अक्षरों की रेखाओं के अंतर को, संख्याओं को सीख पाता, न अपने विचारों को व्यक्त करने की योग्यता ही अर्जित कर पाता। यह फूहड़ घरेलू जीवन कैसे बच्चे को इतनी कठिन चीज़ें तो सिखा सकता था, किंतु जहां तक पढ़ने और लिखने जैसी सरल चीज़ों को सीखने का सवाल है, तो वही घरेलू जीवन इसके लिए न केवल अनुपयोगी हो जाता है, बल्कि हानिकर भी बन जाता है? क़तई भी न पढ़े हुए किसान बच्चे की पांच वर्ष की अवस्था से गवर्नेस की देखरेख में पढ़नेवाले मालिक के बच्चे से तुलना इसका श्रेष्ठतम प्रमाण है। अधिक बुद्धिमान और जानकार हमेशा पहला बच्चा ही निकलता है। यही नहीं, सब कुछ जानने की दिलचस्पी को और स्कूल को जिन सवालों का जवाब देना है, उन्हें ये घरेलू परिस्थितियां ही जन्म देती हैं। और हर तरह की पढ़ाई को जीवन द्वारा पेश किये गये सवाल का जवाब ही होना चाहिए। मगर स्कूल न केवल सवालों को पैदा नहीं करता, वह उन सवालों का जवाब भी नहीं देता, जिन्हें जीवन ने पैदा किया है। वह सदा उन्हीं

सवालों का जवाब देता है, जिन्हें सदियों पहले मानवजाति ने, न कि बाल्यावस्था ने पेश किया था और जिनसे बच्चे को अभी कुछ लेना-देना नहीं होता। ये सवाल होते हैं: विश्व की रचना कैसे हुई? पहला मनुष्य कौन था? २००० वर्ष पहले क्या था? एशिया की धरती कैसी है? पृथ्वी का आकार कैसा है? सैकड़ों को हज़ारों से गुणा कैसे करें? मृत्यु के बाद क्या होगा? वग़ैरह-वग़ैरह। जीवन बच्चे के सामने जो सवाल पेश करता है, उनका वह कोई उत्तर नहीं पाता और पा भी नहीं सकता, क्योंकि स्कूल की पुलिस जैसी व्यवस्था उसे लघुशंका जाने की आज्ञा लेने के लिए भी मुंह खोलने का अधिकार नहीं देती और यह आज्ञा उसे इशारों के ज़रिये लेनी पड़ती है, ताकि शांति भंग न हो और अध्यापकों के कार्य में बाधा न पड़े। स्कूल को यों इसलिए बनाया जाता है कि ऊपर से स्थापित सरकारी स्कूल का उद्देश्य अधिकांश लोगों को शिक्षित बनाना नहीं, बल्कि उन्हें हमारी विधि के अनुसार शिक्षा देना होता है। मुख्य यह है कि स्कूल हो और बहुत सारे स्कूल हों। अध्यापक नहीं हैं, तो उन्हें भी बनाया जाये। यदि फिर भी पूरे नहीं पड़ते, तो ऐसा किया जाये कि एक अध्यापक ५०० बच्चों को पढ़ाये, यानी mécaniser l'instruction [शिक्षा का यंत्रीकरण] हो, लैंकास्टर विधि इस्तेमाल में लायी जाये, pupilte achers [बड़े बच्चे छोटे बच्चों को पढ़ायें]। इसलिए ऊपर से और बलात् बनाये गये स्कूल रेवड़ के लिए गड़रिया जैसे नहीं, बल्कि गड़रिये के लिए रेवड़ जैसे होते हैं। स्कूल का गठन यों नहीं किया गया कि बच्चों को पढ़ने में सुविधा हो, बल्कि यों किया जाता है कि अध्यापकों को पढ़ाने में सुविधा हो। बच्चों का बोलना, हिलना-डुलना, आपस में चुहल करना, जो उनके लिए शिक्षा-प्राप्ति की आवश्यक शर्तें हैं, अध्यापक को असुविधाजनक लगते हैं और इसलिए जेलों की भांति बनाये गये स्कूलों में सवाल पूछने, बातचीत करने, हिलने-डुलने, आदि पर पाबंदी लगी होती है। इस तथ्य को हृदयंगम करने के बजाय कि किसी वस्तु को सफलतापूर्वक प्रभावित करने के लिए उसका अध्ययन आवश्यक है (और शिक्षा में यह वस्तु स्वतंत्र बच्चा होता है), वे ऐसे सिखाना चाहते हैं, जैसे वे जानते हैं या जैसे उनकी इच्छा होती है, और असफल रहने पर पढ़ाई का ढंग नहीं बदलते, बल्कि बच्चे की प्रकृति को ही बदल डालना चाहते हैं। इस तरह के रवैये के कारण ऐसी प्रणालियां पैदा हुई हैं और अब भी

हो रही हैं (पेस्तालोच्ची), जिनसे mécaniser l'instruction हो, जो शिक्षाशास्त्र की इस चिर आकांक्षा की अभिव्यक्ति है कि अध्यापक और विद्यार्थी कैसे भी क्यों न हों, विधि अपरिवर्तित रहे। यदि आप एक ही बच्चे पर घर में, सड़क पर या स्कूल में ग़ौर करें, तो एक जगह आप उसे हर्षोल्लास तथा कुतूहल से भरपूर, आखों में और होंठों पर मुस्कान लिये हुए, हर चीज़ में ख़ुशी जैसे कुछ न कुछ सीखने की बात खोजता हुआ और अपने विचारों को अपनी ही भाषा में स्पष्ट और प्रायः सशक्त ढंग से व्यक्त करता हुआ पायेंगे, तो दूसरी जगह दयनीय और दब्बू क़िस्म का, चेहरे पर थकान, भय तथा ऊब के भाव लिये हुए और अपने होंठों से परायी भाषा में पराये शब्दों को दोहराता हुआ, यानी जिसकी आत्मा घोंघे की तरह खोल के भीतर सिमटी हुई है। इन दो स्थितियों की तुलना करके आप जान जायेंगे कि उनमें से कौन सी स्थिति बच्चे के विकास के लिए ज़्यादा लाभकारी है। वह विचित्र मनोवैज्ञानिक अवस्था, जिसे मैं आत्मा की स्कूली अवस्था नाम दूंगा और जिससे दुर्भाग्यवश हम सब भली भांति परिचित हैं, यह है कि सभी सर्वोच्च क्षमताएं – कल्पना, सृजन तथा सूझ – किन्हीं अन्य अर्ध-पाशविक क्षमताओं की तुलना में पृष्ठभूमि में चली जाती हैं। ये अर्ध-पाशविक क्षमताएं हैं कल्पना से निरपेक्ष रूप से शब्दों का उच्चारण, एक-दो-तीन-चार-पांच, आदि सीधी गिनती गिनना, कल्पना को किन्हीं तदनुरूप बिंबों का निर्माण करने दिये बिना शब्दों को ग्रहण करना, आदि। दूसरे शब्दों में, मनुष्य की अपने में सभी उच्चतर क्षमताओं को दबाने की प्रवृत्ति प्रमुख बन जाती है, ताकि केवल वे क्षमताएं ही विकास कर सकें, जो स्कूली अवस्था से मेल खाती हैं, जैसे भय, याददाश्त पर ज़ोर और एकाग्रता। हर स्कूली विद्यार्थी तब तक स्कूल में नहीं खप पाता, जब तक वह इस अर्ध-पाशविक अवस्था का आदी नहीं बनता। ज्यों ही बच्चा इस अवस्था में पहुंच जाता है, अपनी स्वतंत्रता खो देता है और उसमें विभिन्न रोग-लक्षण – दिखावा, निरुद्देश्य झूठ, विकासहीनता, आदि – प्रकट हो जाते हैं, त्यों ही वह स्कूल से बेमेल नहीं रह जाता, लीक पर आ जाता है और अध्यापक को उससे शिकायत नहीं रहती। तब ही ऐसी असांयोगिक और निरंतर आवृत्तिशील परि-घटनाएं भी होती हैं कि सबसे मूर्ख बच्चा सबसे अच्छा विद्यार्थी बन जाता है और सबसे बुद्धिमान बच्चा सबसे ख़राब विद्यार्थी माना जाने लगता

है। लगता है कि यह तथ्य इस योग्य है कि उसके बारे में सोचा जाये और उसके कारण का पता लगाने की कोशिश की जाये। मैं समझता हूं कि एक यही तथ्य स्पष्टतः सिद्ध कर देता है कि बाध्यतामूलक शिक्षा कितनी ग़लत बुनियाद पर टिकी हुई है। यही नहीं, बच्चों को अचेतन रूप से घर पर, काम पर या गली में मिलनेवाली शिक्षा से दूर रखने से जो हानि होती है, उसके अलावा ये स्कूल शारीरिक रूप से भी, यानी शरीर के लिए भी हानिकारक हैं, जो बाल्यावस्था में आत्मा से इतने घनिष्ठतः जुड़ा होता है। यह हानि विशेषतः गंभीर इसलिए होती है कि स्कूली शिक्षा, चाहे वह अच्छी भी क्यों न हो, एकांगी होती है। किसान के लिए कोई भी चीज़ उसके काम की परिस्थितियों, खेत में गुज़रनेवाले जीवन, बड़े-बूढ़ों की बातों, आदि का स्थान नहीं ले सकती; ठीक यही बात दस्तकार या सामान्यतः किसी भी शहरी निवासी के बारे में भी कही जा सकती है। प्रकृति ने किसान को किसानी की परिस्थितियों में और शहरी आदमी को शहरी परिस्थितियों के बीच यों ही नहीं, बल्कि जान-बूझकर रखा है। ये परिस्थितियां अत्यधिक शिक्षाप्रद होती हैं और उनके बीच रहते हुए ही किसान और शहरी सीख सकते हैं, जबकि स्कूल इन परिस्थितियों से नाता तोड़ने को अपने द्वारा दी जानेवाली शिक्षा की पहली शर्त बनाता है। फिर स्कूल के लिए जैसे कि यह भी कम हो और इतने से ही उसका काम न चलता हो कि वह बच्चों के जो सर्वोत्तम वर्ष होते हैं, उनमें उन्हें हर रोज़ छह घंटे जीवन से दूर कर देता है, वह तीनवर्षीय बच्चों को मां के प्रभाव से दूर रखने की भी कोशिश करता है। Kleinkinderwahranstalt, infantschools, salles d'asile [शिशु अनाथालय, शिशु स्कूल, आश्रय] जैसी संस्थाओं का आविष्कार किया गया है। बस किसी ऐसी भाप की मशीन का आविष्कार करना ही बाक़ी रह गया है कि जो स्तनपान करानेवाली मां की जगह ले सके। सब मानते हैं कि स्कूलों में कमियां हैं (मेरा तो यहां तक विश्वास है कि वे हानिकारक हैं)। सभी मानते हैं कि बहुत, बहुत सुधारों की आवश्यकता है। सभी मानते हैं कि इन सुधारों के पीछे विद्यार्थियों को ज़्यादा सुविधाएं मुहैया करने की भावना होनी चाहिए। सभी मानते हैं कि ये सुविधाएं क्या हैं, यह सामान्य रूप से स्कूली आयु के बच्चों की आवश्यकताओं और विशेष रूप से हर सामाजिक श्रेणी की आवश्यकताओं का अध्ययन करके

ही जाना जा सकता है। इस कठिन और पेचीदे अध्ययन के लिए क्या किया जा रहा है? कई सदियों से लगातार हर नया स्कूल दूसरे पुराने स्कूल के नमूने पर स्थापित किया जा रहा है, जो उससे भी पहले के स्कूल के नमूने पर स्थापित किया गया था, और इनमें से हर स्कूल में अनुशासन को अनिवार्य शर्त बनाया हुआ होता है, जो बच्चों को बोलने, पूछने, पढ़ाई का कोई विषय स्वयं चुनने की मनाही करता है। संक्षेप में, सभी उपाय किये गये हैं कि अध्यापक विद्यार्थियों की आवश्यकताओं के बारे में अपने कोई निष्कर्ष न निकाल सके। शिक्षा की बाध्यतामूलक व्यवस्था किसी तरह की प्रगति के लिए कोई गुंजायश नहीं रहने देती। दूसरी ओर, जब हम सोचने बैठते हैं कि बच्चों को उन प्रश्नों के उत्तर देते कितनी सदियां गुज़र गयी हैं, जिन्हें पूछने का उनका इरादा भी न था, या यह कि वर्तमान पीढ़ियां शिक्षा के उस प्राचीन रूप से कितनी आगे निकल गयी हैं, जो उन्हें घुट्टी की तरह पिलाया जा रहा है, तो हैरानी होती है कि स्कूल अभी भी कैसे टिका हुआ है। हमें तो लगता है कि स्कूल को शिक्षा का उपकरण भी होना चाहिए और साथ ही नयी पीढ़ी पर किया जा रहा एक तरह का प्रयोग भी, जो निरंतर नये-नये निष्कर्ष सामने लाता है। जब प्रयोग स्कूल का आधार होगा और जब हर स्कूल एक प्रकार की शिक्षाशास्त्रीय प्रयोगशाला बनेगा, केवल तभी स्कूल सार्विक प्रगति में पीछे नहीं रहेगा और प्रयोग शिक्षा-विज्ञान की मज़बूत बुनियाद रख पायेगा।

मगर हो सकता है कि इतिहास हमारे इस अब तक अनुत्तरित रहे प्रश्न का उत्तर दे कि मां-बाप को और विद्यार्थियों को शिक्षा के लिए बाध्य करने का अधिकार किस पर आधारित है? वह कहेगा: मौजूदा स्कूलों का विकास ऐतिहासिक ढंग से हुआ है और ठीक वैसे ही ऐतिहासिक ढंग से उनका आगे विकास और समाज तथा काल की अपेक्षाओं के मुताबिक रूपांतरण होना चाहिए। जैसे-जैसे समय गुज़रता जायेगा, वैसे-वैसे स्कूल बेहतर होते जायेंगे। इसका मैं उत्तर दूंगा: पहले तो शुद्ध दार्शनिक तर्क शुद्ध ऐतिहासिक तर्कों जैसे ही एकांगी और भ्रामक होते हैं। इतिहास का मुख्य तत्त्व मानवजाति की चेतना है और इसलिए यदि मानवजाति अपने स्कूलों की व्यर्थता को समझ लेती है, तो चेतना का यह तथ्य ही मुख्य ऐतिहासिक तथ्य बन जायेगा, जिसपर स्कूल की व्यवस्था को आधारित होना होगा। दूसरे, समय के गुज़रने के साथ स्कूल बेहतर नहीं, बल्कि बदतर होते जाते हैं – शिक्षा के उस स्तर

की दृष्टि से बदतर, जो समाज हासिल कर चुका है। स्कूल राज्य के उन अभिन्न अंगों में से है, जिसकी अलग से जांच और मूल्यांकन नहीं किया जा सकता, क्योंकि उसका सार राज्य के अन्य भागों के न्यूनाधिक अनुरूप होने में ही निहित है। स्कूल अच्छा तभी होता है, जब वह उन बुनियादी नियमों को समझ लेता है, जिनके अनुसार जनता रहती है। स्तेपियाई रूसी गांव का बढ़िया से बढ़िया स्कूल भी, जो अपने विद्यार्थियों की सभी आवश्यकताएं पूरी करता है, एक पेरिसवासी के लिए बहुत घटिया स्कूल होगा और सत्रहवीं सदी का सबसे उत्तम स्कूल आज के युग में सबसे निकृष्ट स्कूलों में गिना जायेगा। दूसरी ओर, मध्ययुग का सबसे ख़राब स्कूल अपने ज़माने में हमारे युग के सबसे अच्छे स्कूल से बेहतर था, क्योंकि वह अपने युग से ज़्यादा मेल खाता था और उसका शैक्षिक स्तर सामान्य स्तर से यदि ऊंचा नहीं, तो बराबर अवश्य था, जबकि हमारे स्कूल का स्तर नीचा है। यदि स्कूल का उद्देश्य बहुत ही साधारण शब्दों में कहें तो यह है कि लोगों ने जो पैदा किया और जाना है, उसे बच्चों को सिखाये और जो सवाल जीवन आदमी के सामने पेश करता है, उनके उत्तर दे, तो निश्चय ही मध्ययुगीन स्कूल में संप्रेषणीय सामग्री भी अपेक्षाकृत कम थी तथा जीवन में उठनेवाले प्रश्न भी अपेक्षाकृत अधिक सहजता से हल किये जा सकते थे, यानी कि स्कूल का उद्देश्य अधिक पूरा होता था। अधूरे, अधकचरे स्रोतों से प्राचीन यूनान और रोम का इतिहास सिखाना, धार्मिक सिद्धांतों, व्याकरण और गणित के तब तक ज्ञात भाग की शिक्षा देना कहीं आसान था, बजाय उस सारे इतिहास के, जिसके हम तब से साक्षी बने हैं और जिसने प्राचीन जातियों के इतिहास को इतना अधिक पीछे धकेल दिया है, और बजाय प्राकृतिक विज्ञानों से संबंधित उस सारे ज्ञान के, जिसके बिना आज जीवन की दैनंदिन परिघटनाओं का उत्तर नहीं पाया जा सकता। दूसरी ओर, सिखाने के तरीक़े में कोई परिवर्तन नहीं आया है।

सालभर पहले मैं मार्सेल्ज़ में था और वहां मैंने इस शहर की मज़दूर आबादी के लिए बनी हुई सभी शिक्षा संस्थाएं देखीं। कुल आबादी के अनुपात में विद्यार्थियों की संख्या इतनी अधिक थी कि कुछेक अपवादों को छोड़कर सभी ही बच्चे तीन, चार या छह साल तक स्कूल जाते हैं। पाठ्यचर्या में धार्मिक प्रश्नोत्तरों, बाइबिलीय इतिहास और सामान्य

इतिहास, गणित के चार नियमों, फ़्रांसीसी की वर्तनी और लेखाविधि को कंठाग्र करना शामिल है। मेरी समझ में बिल्कुल न आ सका और न कोई अध्यापक ही मुझे बता पाया कि लेखाविधि अध्यापन का विषय कैसे हो सकती है। इस कोर्स को पूरा कर चुके विद्यार्थी बही-खाता कैसे रखते हैं, इसे देखकर मैं जिस एकमात्र निष्कर्ष पर पहुंचा, वह यह था कि उन्हें तो अंकगणित के तीन नियम भी मालूम नहीं हैं, कि संख्याओं की क्रियाओं को उन्होंने रट लिया है और इसलिए tenue des livres [बही-खाता पद्धति] को भी उन्हें रट लेना होगा (शायद सिद्ध करने की ज़रूरत नहीं कि जर्मनी और इंगलैंड में पढ़ायी जानेवाली tenue des livres, Buchhaltung [बही-खाता पद्धति, लेखाविधि] एक ऐसी विद्या है, जिसे अंकगणित के चार नियम जाननेवाले किसी भी विद्यार्थी को सिर्फ़ चार घंटों में सिखाया जा सकता है)। इन स्कूलों में एक भी लड़का जोड़ और घटाव का मामूली से मामूली सवाल भी नहीं हल कर सकता था। दूसरी ओर, अमूर्त राशियों के साथ वे कैसी भी क्रियाएं कर लेते थे, बड़ी चतुराई और तेज़ी से हज़ारों की राशि को गुणा कर लेते थे। फ़्रांस के इतिहास के बारे में बंधे-बंधाये सवाल पूछे जाने पर उत्तर संतोषजनक मिले। यही बात भूगोल और बाइबिलीय इतिहास के साथ थी और यही वर्तनी और वाचन के साथ। आधी से ज़्यादा लड़कियां रटे हुए के अलावा और कुछ नहीं पढ़ सकती थीं। छह साल की स्कूली पढ़ाई के बाद भी शब्द सही नहीं लिखे जाते। मैं जानता हूं कि मैं जिन तथ्यों की बात कर रहा हूं, वे इतने आश्चर्यजनक हैं कि बहुतों को उनकी सच्चाई में संदेह होगा; मगर मैं उस जहालत के बारे में पूरी की पूरी किताब लिख सकता हूं, जो मैंने फ़्रांस, स्विट्ज़रलैंड और जर्मनी के स्कूलों में देखी थी। ख़ैर, जिसकी इस मसले में गहरी दिलचस्पी है, वह मेरी तरह ही स्कूलों का सार्वजनिक परीक्षाओं की रिपोर्टों के आधार पर नहीं, बल्कि अध्यापकों और विद्यार्थियों के साथ स्कूलों तथा स्कूलों के बाहर बारंबार मुलाक़ातों और वार्ताओं के आधार पर अध्ययन करने का प्रयत्न करे। मार्सेल्ज़ में मैंने वयस्कों का एक धर्मनिरपेक्ष स्कूल और एक पादरियों द्वारा संचालित स्कूल भी देखा। ढाई लाख निवासियों में से एक हज़ार से भी कम इन स्कूलों में पढ़ते हैं और उनमें भी पुरुषों की संख्या केवल २०० है। शिक्षा उसी ढंग की है: यांत्रिक पठन, जिसे सीखने में एक साल या इससे भी ज़्यादा लग जाता है, गणित के ज्ञान

के बिना लेखाविधि, धार्मिक तथा नैतिक उपदेश, आदि। धर्मनिरपेक्ष स्कूल के बाद मैंने गिरजों में होनेवाले दैनिक प्रवचन सुने और आश्रमों में गया, जिनमें चारवर्षीय बच्चे सिपाहियों जैसे सीटी बजने के साथ उठक-बैठक करते हैं, आदेश पर हाथ उठाते तथा जोड़ते हैं और कांपते तथा अजीब से स्वर में ईश्वर और अपने उपकारकों की वंदना के गीत गाते हैं। मुझे विश्वास हो गया कि मार्सेल्ज़ के स्कूल बहुत ही घटिया हैं। यदि कोई सड़कों, कारखानों, सार्वजनिक आहारगृहों या घरेलू वातावरण में लोगों को देखे बग़ैर चमत्कारवश सीधे इन स्कूलों, आश्रमों, आदि को ही देखे, तो इस तरह से पाली और शिक्षित की जा रही जनता के बारे में वह क्या सोचेगा? शायद यही सोचेगा कि यह जनता जाहिल, असभ्य, ढोंगी, अंधविश्वासी और लगभग जंगली है। मगर इसके विपरीत ज्यों ही आप किसी आम आदमी के संपर्क में आते हैं और उससे बातें करते हैं, आपको यक़ीन हो जाता है कि फ़्रांसीसी लोग लगभग वैसे ही हैं, जैसे वे अपने आपको समझते हैं, यानी तेज़दिमाग़, समझदार, मिलनसार, स्वतंत्रचेता और वास्तव में सभ्य। तीस-एक वर्ष की आयु के किसी शहरी कामगर को देखिये – वह पत्र लिखने में वैसी ग़लतियां नहीं करता, जैसी कभी स्कूल में किया करता था, कभी-कभी तो एक भी ग़लती नहीं होती; वह राजनीति और स्वाभाविकतः आधुनिक इतिहास और भूगोल की भी थोड़ी-बहुत जानकारी रखता है, उपन्यासों को पढ़कर उसने थोड़ा-बहुत इतिहास भी जान लिया है; उसे थोड़ी-बहुत प्राकृतिक विज्ञानों की जानकारी भी है। वह प्रायः चित्रकारी करता है और अपने धंधे में गणित के फ़ार्मूलों से काम लेता है। यह सब उसने कहां से सीखा?

स्कूलों को देखने के बाद जब मैं मार्सेल्ज़ की सड़कों पर टहलने और छोटे रेस्तरांओं, cafés chantants [संगीत कार्यक्रमवाले कैफ़े], संग्रहालयों, वर्कशापों, जहाज़घाटों और किताबों की दूकानों के चक्कर लगाने लगा, तो अनायास ही इस प्रश्न का उत्तर मुझे मिल गया। मार्सेल्ज़ में मुझे २८ सस्ती, सचित्र पत्रिकाएं मिलीं, जिनकी क़ीमत ५ सेंटीम से १० सेंटीम तक थी। ढाई लाख की आबादी के शहर में उनकी ३० हज़ार प्रतियां तक बिक जाती हैं। फलस्वरूप यदि हर अंक को १० आदमी पढ़ते और सुनते हैं, तो इसका मतलब है कि उन्हें सभी पढ़ते हैं। इसके अलावा संग्रहालय, पुस्तकालय और थियेटर हैं। फिर कैफ़े और दो बड़े

cafés chantants भी हैं, जिनमें ५० सेंटीम देकर कोई भी जा सकता है, और रोज़ाना ऐसे लोगों की तादाद २५ हज़ार तक होती है। फिर बहुत सारे छोटे-छोटे कैफ़े भी हैं, और उनमें भी इतने ही लोग बैठ सकते हैं। इनमें से हर एक में छोटी-मोटी कामेडी या नाटिका दिखायी जाती है अथवा कविताएं पढ़कर सुनायी जाती हैं। यह शहर की आबादी का कम से कम पांचवां हिस्सा होगा, जो रोज़ाना वैसे ही मौखिक शिक्षा पाता है, जैसे प्राचीन यूनानी और रोमन अपने एंफ़ीथियेटरों में पाते थे। यह शिक्षा अच्छी है या बुरी – यह दूसरा सवाल है। मगर यह अचेतन ढंग से पायी जानेवाली शिक्षा है, जो बलात् शिक्षा की तुलना में कई गुना कारगर है। यह एक ऐसा स्कूल है, जिसने बाध्यतामूलक स्कूल की जड़ काट डाली है और उसे लगभग निस्सार बना दिया है। जो बचा है, वह लगभग खोखला निरंकुश ढांचा है। मैं "लगभग" कह रहा हूं, क्योंकि एक अपवाद है – अक्षरों को जोड़कर शब्द बनाने का यांत्रिक कौशल। यह एकमात्र ज्ञान है, जो पांच या छह वर्ष की स्कूली शिक्षा में हासिल किया जाता है। वैसे इन तथ्यों पर भी ग़ौर किया जाना चाहिए कि पढ़ने और लिखने का यांत्रिक कौशल भी प्रायः स्कूल से बाहर कहीं कम अवधि में प्राप्त कर लिया जाता है, कि बहुत सारे मामलों में तो स्कूल में यह कौशल भी नहीं सीखा जाता और यदि सीखा जाता है, तो काम में न लाये जाने की वजह से प्रायः गंवा दिया जाता है, कि जहां क़ानून के अनुसार स्कूल जाना अनिवार्य है, वहां दूसरी ही पीढ़ी में स्कूल में लिखना, पढ़ना तथा गिनना सिखाना अनावश्यक हो जाता है, क्योंकि यही काम घर पर मां-बाप स्कूल की अपेक्षा कहीं अधिक आसानी से कर सकते हैं। जो कुछ मैंने मार्सेल्ज़ में देखा, वही अन्य देशों में भी देखा। हर कहीं अधिकांश शिक्षा स्कूल में नहीं, बल्कि उसके बाहर, जीवन से हासिल की जाती है। जहां जीवन शिक्षाप्रद है, जैसे लंदन, पेरिस या अन्य बड़े नगरों में, वहां लोग शिक्षित हैं, जहां जीवन शिक्षाप्रद नहीं है, जैसे गांवों में, वहां लोग इसके बावजूद अशिक्षित हैं कि स्कूल सब जगह – शहरों में भी और गांवों में भी – बिल्कुल एक जैसे हैं। शहरों में जो ज्ञान अर्जित किया जाता है, वह जैसे कि बना रहता है, जबकि गांवों में अर्जित किया हुआ ज्ञान गंवा दिया जाता है। शहरों और गांवों में जनता की शिक्षा की दिशा और भावना सर्वथा स्वतंत्र हैं और अधिकांशतः उस

भावना के विपरीत हैं, जो सार्वजनिक स्कूलों में भरना चाहते हैं। शिक्षा स्कूल से स्वतंत्र अपने ही मार्ग से आगे बढ़ रही है।

ऐतिहासिक तर्क के विरुद्ध ऐतिहासिक तर्क यह है कि शिक्षा का इतिहास हमें केवल यही नहीं बताता कि स्कूलों का विकास जातियों के विकास के समरूप होता है, बल्कि यह भी बताता है कि ज्यों-ज्यों जातियां विकास करती जाती हैं, त्यों-त्यों स्कूल अधोगति को प्राप्त होकर एक थोथी औपचारिकता में परिणत होते जाते हैं; कि कोई जाति सामान्य शिक्षा के क्षेत्र में जितनी ही प्रगति करेगी, शिक्षा उतनी ही स्कूल से निकलकर जीवन में आयेगी और स्कूल को निस्सार, निरर्थक बनायेगी। शिक्षा के अन्य साधनों–व्यापार तथा संचार के विकास, व्यक्ति-स्वातंत्र्य में वृद्धि और शासन में व्यक्ति की सहभागिता में वृद्धि तथा सभाओं, संग्रहालयों और सार्वजनिक व्याख्यानों की बात तो रही दूर, यदि हम केवल प्रकाशन व्यवसाय तथा उसके विकास पर भी दृष्टिपात करें, तो समझ जायेंगे कि पहले के स्कूल और आज के स्कूल में कितना अंतर है। अचेतन रूप से जीवन से पायी हुई शिक्षा और चेतन रूप से, स्कूल में पायी हुई शिक्षा, दोनों हमेशा सहगामी और एक दूसरी की पूरक रही हैं; मगर जब मुद्रण नहीं था, तब जीवन स्कूल की अपेक्षा कितनी कम शिक्षा दे पाता था। ज्ञान-विज्ञान चुने हुए लोगों का विशेषाधिकार था, जिनके पास शिक्षा पाने के साधन थे। और अब देखिये जीवन द्वारा दी जाने-वाली शिक्षा का हिस्सा कितना बढ़ गया है, जब शायद ही कोई आदमी होगा, जिसके पास किताबें न हों; जब किताबें बहुत सस्ती हो गयी हैं; जब सार्वजनिक पुस्तकालय सबके लिए खुले हुए हैं; जब लड़के स्कूल जाते हुए अपने स्कूली थैले में कापियों के बीच कोई सस्ता सचित्र उपन्यास भी छिपाकर ले जाते हैं; जब तीन कोपेक में दो ककहरे खरीदे जा सकते हैं और हर ऐरा-गैरा स्तेपियाई किसान ककहरा खरीदकर राह गुज़रते सिपाही से वह ज्ञान की बात दिखाने तथा सिखाने की प्रार्थना करता है, जो उसने पहले सालों पादरी के पैरों के पास बैठकर सीखी थी; जब जिम्नाजियम, यानी माध्यमिक विद्यालय का विद्यार्थी विद्या-लय से नाम कटाकर किताबों से खुद पढ़ाई करता है और सफलता-पूर्वक विश्वविद्यालय की प्रवेश-परीक्षा देता है; जब युवा लोग विश्व-विद्यालय जाना छोड़कर और प्रोफ़ेसरों के लिखाये हुए नोटों से तैयारी करना छोड़कर सीधे स्रोत-ग्रंथों का अध्ययन करते हैं; जब सच कहें

तो हर प्रकार की गंभीर शिक्षा जीवन से, न कि स्कूल से पायी जाती है।

अंतिम – और मेरे मत में सबसे महत्त्वपूर्ण – तर्क यह है: अपने यहां स्कूली प्रणाली के दो सदी लंबे अस्तित्व के आधार पर, ऐतिहासिक रूप से इस प्रणाली की पैरवी करना जर्मनों के लिए तो ठीक है, मगर हम किस आधार पर सार्वजनिक शिक्षा की पैरवी करें, जबकि वैसी शिक्षा हमारे यहां है ही नहीं? हमें यह कहने का क्या ऐतिहासिक अधिकार है कि हमारे स्कूलों को यूरोपीय स्कूलों जैसा ही होना चाहिए? हमारे यहां तो सार्वजनिक शिक्षा की अभी परंपरा भी नहीं है। सार्व-जनिक शिक्षा के विश्वव्यापी इतिहास का अध्ययन करके हम यही नहीं पायेंगे कि अध्यापक प्रशिक्षित करने के वास्ते जर्मन ढंग की सेमिनारियां बनाना और जर्मन स्वनिक विधि, आंग्ल infantschools [बाल विद्यालयों] और फ्रांसीसी लाइसियमों तथा व्यवसाय-प्रशिक्षण विद्यालयों को अपनी ज़रूरतों के मुताबिक बनाना हमारे लिए असंभव है। हम यह भी पायेंगे कि सार्वजनिक शिक्षा के मामले में हम रूसी अत्यंत सौभाग्यशाली स्थिति में हैं कि हमारे स्कूल को मध्ययुगीन यूरोप जैसे नागरिक संगठन के दायरे के बाहर नहीं निकलना चाहिए, सरकार तथा धर्म के हाथ की कठपुतली नहीं बनना चाहिए, अपने ऊपर जनमत के नियंत्रण के अभाव तथा जो शिक्षा पूर्णत: जीवन की देन है, उसके अभाव से जनित अंधकार में नहीं पनपना चाहिए और भीषण कठिनाइयों तथा पीड़ाएं भुगतते हुए उस cercle vicieux [दुश्चक्र] से नहीं गुज़रना चाहिए, जिससे यूरोपीय स्कूलों को इतने लंबे समय तक गुज़रना पड़ा था। वह cercle vicieux यह था कि स्कूल अचेतन शिक्षा को बढ़ावा देता था और अचेतन शिक्षा स्कूल को बढ़ावा देती थी। यूरोप के लोगों ने इस कठिनाई पर विजय पा ली, पर संघर्ष में उन्हें बहुत कुछ खोना भी पड़ा। हमें उस श्रम के लिए आभार मानना चाहिए, जिससे हमें लाभ उठाना है, और ठीक इसीलिए हम नहीं भूलेंगे कि इस क्षेत्र में हमें नया कार्य करना है। मानवजाति के अनुभव के आधार पर और इस आधार पर कि हमारा कार्यकलाप अभी शुरू नहीं हुआ है, हम अपने कार्य को कहीं अधिक सचेतन स्वरूप दे सकते हैं और ऐसा करना हमारा कर्त्तव्य भी है। यूरोपीय स्कूलों के तौर-तरीक़े अपनाने के लिए हमें पहले इसमें भेद करना होगा कि उनमें क्या तर्कबुद्धि

के शाश्वत नियमों पर आधारित है और क्या केवल ऐतिहासिक परिस्थितियों के कारण पैदा हुआ है। ऐसा कोई तर्कबुद्धि-संगत नियम या मापदंड नहीं है कि जो स्कूलों द्वारा लोगों के खिलाफ़ प्रयुक्त बलप्रयोग को उचित ठहराता हो और इसलिए बलात् शिक्षा के संबंध में यूरोपीय स्कूल की हर नक़ल हमारी जनता के लिए आगे की ओर नहीं, बल्कि पीछे की ओर बढ़ाया हुआ क़दम और अपने ध्येय के प्रति ग़द्दारी होगी। हम समझ सकते हैं कि फ़्रांस में परिशुद्ध विज्ञानों – गणित, ज्यामिति तथा रेखांकन – पर बल देनेवाले अनुशासित स्कूल का ही विकास क्यों हुआ, जर्मनी में गायन तथा विश्लेषण पर बल देनेवाला शांत, गंभीर स्कूल क्यों अस्तित्व में आया और इंगलैंड में ऐसी अनगिनत सोसायटियां क्यों पैदा हुईं, जो सर्वहारा के लिए घोर नैतिकतावादी तथा साथ ही व्यावहारिक परोपकारी स्कूलों की स्थापना करती हैं। किंतु रूस में स्कूल का रूप कैसा होना चाहिए – यह हम नहीं जानते और न कभी जानेंगे ही, यदि हम उसे स्वतंत्र रूप से और समयानुरूप, यानी उस ऐतिहासिक काल के अनुरूप, जिसमें उसे पनपना है, और अपने इतिहास तथा इससे भी ज़्यादा विश्व इतिहास के अनुरूप विकास करने का मौक़ा नहीं देंगे। यदि हमें विश्वास हो जायेगा कि यूरोप में सार्वजनिक शिक्षा ग़लत मार्ग पर है, तो हममें से प्रत्येक जिस चीज़ को अच्छी मानता है, उसे हमारी सार्वजनिक शिक्षा में बलात् ठूंसने का प्रयत्न करने के बजाय हमारा कुछ न करना ही ज़्यादा हितकर होगा।

इस प्रकार अल्पशिक्षित जनता शिक्षित बनना चाहती है, अधिक शिक्षित वर्ग जनता को शिक्षित बनाना चाहता है, किंतु लोग विवश किये जाने पर ही शिक्षा के आगे झुकते हैं। दर्शन, अनुभव तथा इतिहास में खोज करने पर भी हम ऐसा कोई आधार नहीं पा सके कि जो शिक्षा-दाता वर्ग को उसका अधिकार देता, बल्कि, उल्टे, हमारा यह विश्वास और दृढ़ ही हुआ कि मानव चिंतन हमेशा शिक्षा के क्षेत्र में लोगों को बल-प्रयोग से मुक्ति दिलाने के लिए ही प्रयत्नरत रहा है। शिक्षाशास्त्र का, यानी इस बात के ज्ञान का कि क्या और कैसे सिखाना चाहिए, मापदंड खोजते हुए हमारे हाथ विभिन्न मतों तथा दावों के अलावा कुछ न लगा और हमारा यह विश्वास और पक्का बना कि मानवजाति ज्यों-ज्यों आगे बढ़ती गयी है, ऐसे किसी मापदंड का होना त्यों-त्यों असंभव

बनता गया है; शिक्षा के इतिहास में ऐसे मापदंड को तलाशते हुए हमने यही नहीं जाना कि हम रूसियों के लिए ऐतिहासिकतः पनपे स्कूल आदर्श नहीं हो सकते, बल्कि यह भी जाना कि आगे बढ़ते हर क़दम के साथ ये स्कूल शिक्षा के आम स्तर से उत्तरोत्तर पिछड़ते जा रहे हैं, कि इसलिए उनका बाध्यतामूलक स्वरूप अधिकाधिक अवैध बनता जा रहा है और, अंत में, यह कि स्वयं यूरोप में शिक्षा ने रिसते पानी जैसे अपने लिए दूसरा मार्ग चुन लिया है, यानी स्कूल को एक तरफ़ छोड़ वह जीवन द्वारा अभिप्रेरित शिक्षा-धाराओं से जा मिली है।

मगर हम रूसी इस समय क्या करें? क्या मतभेदों को भुलाकर शिक्षा के बारे में अंग्रेज़ी, फ़्रांसीसी, जर्मन या उत्तर अमरीकी दृष्टिकोण को और उनकी किसी एक विधि को बतौर आधार अपना लें? या दर्शन और मनोविज्ञान में पैठकर पता लगायें कि मनुष्य की आत्मा के विकास के लिए और हमारी धारणाओं के अनुसार युवा पीढ़ियों से सर्वोत्तम लोग तैयार करने के लिए सामान्यतः क्या चाहिए? या इतिहास के अनुभव से लाभ उठायें? – इस अर्थ में नहीं कि इतिहास ने शिक्षा के जो रूप विकसित किये हैं, उनकी नक़ल करें, बल्कि इस अर्थ में कि मानवजाति ने बड़े प्रयासों के बाद जो नियम खोज निकाले हैं, उन्हें हृदयंगम करें और अपने से सीधे तथा ईमानदारी से कहें कि भावी पीढ़ियों को क्या चाहिए, यह हम न जानते हैं और न जान ही सकते हैं, लेकिन अपना कर्त्तव्य महसूस करते हुए हम इन आवश्यकताओं का पता अवश्य लगाना चाहते हैं, कि हम अपने द्वारा प्रस्तावित शिक्षा को अंगी-कार न करने के लिए जनता को जाहिल नहीं ठहराना चाहते, बल्कि ख़ुद को ही जाहिल तथा घमंडी ठहरायेंगे, अगर लोगों को अपने ढंग से शिक्षित करने की सोचेंगे। हम जनता द्वारा किये जा रहे अपनी शिक्षा पद्धति के विरोध को शिक्षाविरोधी कार्य मानना बंद कर देंगे और, इसके विपरीत, उसमें जनता की इच्छा की अभिव्यक्ति देखेंगे और याद रखेंगे कि एकमात्र जनता की इच्छा ही हमारे कार्यकलाप की निदेशक हो सकती है। अंत में, हम उस नियम को अंगीकार करेंगे, जो शिक्षा और शिक्षाशास्त्र, दोनों के इतिहास के पन्नों से हमें इतनी स्पष्टता के साथ कह रहा है कि शिक्षादाता जाने कि क्या अच्छा है और क्या बुरा, इसके लिए शिक्षा पानेवाले को अपना असंतोष व्यक्त करने, अथवा कम

से कम उस शिक्षा से मुंह मोड़ने का पूरा अधिकार होना चाहिए, जिसे वह सहजवृत्तिवश असंतोषजनक पाता है, क्योंकि स्वतंत्रता ही शिक्षाशास्त्र का एकमात्र मापदंड है।

हमने अपने शैक्षिक कार्यकलाप में यह आखिरी रास्ता चुना है।

हमारे कार्यकलाप का आधार यह विश्वास है कि हम न सिर्फ़ नहीं जानते, बल्कि जान भी नहीं सकते कि सार्वजनिक शिक्षा कैसी होनी चाहिये। हमारे कार्यकलाप का आधार यह विश्वास है कि न सिर्फ़ शिक्षा और पालन का कोई विज्ञान नहीं है, बल्कि अभी उसकी कोई बुनियाद भी नहीं रखी गयी है, कि दार्शनिक अर्थ में शिक्षाशास्त्र तथा उसके उद्देश्य को परिभाषित करना असंभव, निरर्थक और हानिकर है।*

हम नहीं जानते कि शिक्षा और पालन कैसे होने चाहिए। हम शिक्षाशास्त्र के सारे ही दर्शन को अस्वीकार्य ठहराते हैं, क्योंकि हमारे मत में मनुष्य नहीं जान सकता कि किस चीज़ का ज्ञान आवश्यक है। हमारी दृष्टि में शिक्षा और पालन कुछ लोगों द्वारा दूसरे लोगों को प्रभावित करने के ऐतिहासिक तथ्य हैं; इसलिए हम समझते हैं कि शिक्षा के विज्ञान का उद्देश्य कुछ लोगों द्वारा अन्य लोगों पर डाले जानेवाले इस प्रभाव के नियमों की तलाश करना ही है। हम न सिर्फ़ नहीं मानते कि हमारी पीढ़ी को इस बात का ज्ञान है या हमें यह जानने का अधिकार है कि मनुष्य की समुन्नति के लिए क्या आवश्यक है, बल्कि हमें इसका पक्का विश्वास है कि यदि मनुष्यजाति को यह ज्ञान होता भी, तो भी वह उसे अपनी अगली पीढ़ी को न दे पाती या न देती। हमारा दृढ़ विश्वास है कि भलाई तथा बुराई की चेतना, मनुष्य के चाहे बिना भी, सारी मानवजाति में विद्यमान है और इतिहास के साथ अचेतन रूप से बढ़ रही है, कि नयी पीढ़ी में शिक्षा के द्वारा हमारी चेतना पैदा करना वैसे ही असंभव है, जैसे उसे हमारी इस चेतना से, और इतिहास का अगला चरण उसे चेतना के जिस उच्चतर स्तर पर पहुंचायेगा, उस स्तर की चेतना से, वंचित करना असंभव है।

* लेव तोलस्तोय का आशय १९वीं सदी के अंत के रूस में विद्यमान उस शिक्षाशास्त्रीय प्रवृत्ति से था, जो अपना आधार प्रत्ययवादी दर्शन को बनाती थी (देखें: इस पुस्तक के अंत में दी गयी टिप्पणियां)।

भलाई तथा बुराई के नियमों का हमारा आभासी ज्ञान और उनके आधार पर युवा पीढ़ी को प्रभावित करने का प्रयास अधिकांशतः उस नयी चेतना के विकास में बाधक ही बनते हैं, जिसे हमारी पीढ़ी ने नहीं पैदा किया है, बल्कि जो युवा पीढ़ी में खुद पैदा हो रही है। वे शिक्षा में सहायक नहीं, बल्कि बाधक हैं।

हमारा दृढ़ विश्वास है कि शिक्षा इतिहास है और इसलिए उसका कोई अंतिम लक्ष्य नहीं है। अपने सबसे व्यापक अर्थ में, जिसमें पालन भी आ जाता है, शिक्षा हमारे मतानुसार मनुष्य का वह कार्यकलाप है, जिसका आधार समानता की आवश्यकता और शिक्षा का निरंतर आगे बढ़ने का अटल नियम हैं। मां अपने बच्चे को केवल इसीलिए बोलना सिखाती है कि दोनों एक दूसरे को समझ सकें, मां सहजवृत्तिवश वस्तुओं को देखने के बच्चे के ढंग, बच्चे की भाषा के स्तर पर उतरने का प्रयत्न करती है, किंतु आगे बढ़ने का नियम उसे ऐसा नहीं करने देता, बल्कि बच्चे को ही मां के ज्ञान के स्तर तक उठने को विवश कर डालता है। ऐसा ही संबंध लेखक और पाठक के बीच, स्कूल और विद्यार्थी के बीच, सरकार तथा सोसायटियों और जनता के बीच भी है। शिक्षा देनेवाले और शिक्षा पानेवाले, दोनों का एक ही लक्ष्य है। शिक्षा के विज्ञान का काम यह है कि जिन परिस्थितियों में एक ही और साझे लक्ष्य को पाने के लिए प्रयत्नरत इन दो लक्ष्यों का मिलन होता है, उनका अध्ययन करे और जो परिस्थितियां इस मिलन में बाधा डालती हैं, उन्हें इंगित करे। इसके परिणामस्वरूप शिक्षा का विज्ञान हमारे लिए, एक ओर, अधिक आसान हो जाता है तथा ऐसे सवाल और नहीं उठाता, जैसे शिक्षा का अंतिम उद्देश्य क्या है, युवा पीढ़ी को किस चीज़ के लिए तैयार किया जाये, वग़ैरह, और, दूसरी ओर, अकल्पनीय रूप से कठिन भी हो जाता है। हमारे लिए उन सभी परिस्थितियों का अध्ययन करना आवश्यक है, जो शिक्षा देनेवाले और शिक्षा पानेवाले, दोनों पक्षों की इच्छाओं के मेल में सहायक बनी थीं; हमें मालूम करना है कि वह स्वतंत्रता क्या है, जिसके न होने से ये दोनों इच्छाएं मिल नहीं पातीं और जो अकेली ही हमारे लिए सारे शिक्षाशास्त्र का मापदंड है; हमें चाहिए कि हम एक-एक क़दम करके अनगिनत तथ्यों से शिक्षाशास्त्र के प्रश्नों के समाधान की ओर बढ़ें।

हम जानते हैं कि हमारी दलीलें कम ही लोगों को क़ायल कर पायेंगी। हम जानते हैं कि हमारी ये बुनियादी धारणाएं कि शिक्षा की एकमात्र विधि प्रयोग है और शिक्षा का एकमात्र मापदंड स्वतंत्रता है, कुछ लोगों को बेहद घटिया, दूसरों को अस्पष्ट अमूर्तता और तीसरों को स्वप्न तथा असंभव प्रतीत होती हैं। हम सिद्धांतकार शिक्षाशास्त्रियों की शांति में विघ्न डालने और सारी दुनिया के लिए इतनी अप्रिय बातें कहने की धृष्टता न करते, अगर हमें अपने को इस लेख की बातों तक ही सीमित रखना होता, मगर हम महसूस करते हैं कि हम धीरे-धीरे और एक के बाद दूसरे तथ्य का हवाला देकर अपने इतने विलक्षण विश्वासों की व्यावहारिकता तथा औचित्य सिद्ध कर सकते हैं और हमारी पत्रिका केवल इसी लक्ष्य को समर्पित होगी।

६. स्कूलों और जनोपयोगी पुस्तकों के विवरण के महत्व के बारे में

(जनवरी, १८६२)

'नाशे व्रेम्या' [हमारा ज़माना] के पहले अंक में हमें निम्न पढ़ने को मिला है: "वर्तमान समय में एक उच्च सरकारी निकाय में सार्वजनिक स्कूलों के गठन और सार्वजनिक शिक्षा प्रणाली से संबंधित काम की समीक्षा की जा रही है।"

हमारा दृढ़ विश्वास है और पूर्ववर्ती लेख में हमने अपने ऐसे विश्वास के कारण बताने की चेष्टा भी की थी कि सार्वजनिक स्कूलों तथा शिक्षा की प्रणाली मज़बूत तभी हो सकती है कि जब वह जनता की आवश्यकताओं पर आधारित हो। सार्वजनिक शिक्षा की प्रणाली केवल तभी वह हानि नहीं पहुंचायेगी, जो सभी **प्रणालियां** पहुंचाती थीं और पहुंचाती हैं, जब शिक्षा के बारे में जनता के दृष्टिकोण के अध्ययन, जनता की आवश्यकताओं के अध्ययन और जनता के बीच पहले जो स्कूल – स्वतंत्र रूप से पैदा हुए स्कूल – हुआ करते थे, उनके अध्ययन को उसकी बुनियाद बनाया जायेगा। बहुत सारी जगहों पर सार्वजनिक स्कूल काम कर रहे हैं और आबादी की तुलना में उनका अनुपात काफ़ी बड़ा है। पिछले कुछ समय से अस्थायी रूप से बंधुआ किसानों की बस्तियों में आये रोज़ सार्वजनिक स्कूल पैदा हो रहे हैं और आबादी की तुलना में उनका अनुपात बढ़ता जा रहा है।

सार्वजनिक स्कूल क़ानून के अनुसार अभी तक स्थायी निरीक्षकों के मातहत समझे जाते हैं, जो अधिकांशतः साथ ही शिक्षक के पद पर भी काम करते हैं और इसलिए अपने मातहत स्कूलों पर मुश्किल से ही नज़र रख पाते हैं। अधिकांशतः नाममात्र के लिए ही मौजूद सार्वजनिक तथा निजी स्कूलों की स्थायी निरीक्षकों, जिम्नाज़ियमों के

प्रधानाध्यापकों और सार्वजनिक शिक्षा मंत्रालय द्वारा नाममात्र की देखरेख वर्तमान काल में हर कहीं वस्तुतः सार्वजनिक स्कूलों के आविर्भाव को देखते हुए असुविधाजनक बनती जा रही है। अभी तक ये नये स्कूल यदि सरकारी किसानों की बस्तियों में हैं, तो चैंबर के प्रशासक और इलाक़ाई मुख्याधिकारी के मातहत होते हैं, और यदि अस्थायी रूप से बंधुआ किसानों की बस्तियों में हैं, तो पंचों के मातहत होते हैं। केवल ये अधिकारी ही स्कूलों को वास्तव में प्रभावित कर सकते हैं–बेशक यदि उनके पास उन पर ध्यान देने के लिए इच्छा और समय हो। इनमें से ज़्यादातर स्कूल तो अपने हाल पर छोड़े हुए हैं, क्योंकि किसानों की सोसायटियों को अध्यापकों को बदलने या नियुक्त करने का क़ानूनन कोई अधिकार नहीं है। यह अधिकार केवल सार्वजनिक शिक्षा मंत्रालय को प्राप्त है।

हाल में पादरियों को धर्म-प्रदेश परिषदों के आदेश प्राप्त हुए थे, जिनका संबंध जनता में शिक्षा के प्रसार और स्कूलों तथा विद्यार्थियों की संख्या के बारे में जानकारियां एकत्र करने से था। इसी उद्देश्य से गृह मंत्रालय ने भी एक प्रपत्र जारी किया था।

इन दोनों क़दमों का सार्वजनिक शिक्षा पर बड़ा कम प्रभाव पड़ा, वे उसकी प्रगति के **सही-सही** आंकड़े एकत्र करने में विशेष सहायक नहीं बने और जनता ने भी उन्हें वास्तव में उस ढंग से नहीं समझा, जैसे कि उम्मीद की जाती थी। पादरियों और पुरोहितों के पास बच्चों को पढ़ाने के वास्ते न तो समय है, न साधन। लोग मुफ़्त शिक्षा को अविश्वास की नज़रों से देखते हैं। वोलोस्त [तहसील] स्तर पर स्कूल एक तो इसलिए नहीं स्थापित किये जाते कि वोलोस्त मुख्यालय आम तौर पर गांवों से दूर होता है तथा मां-बाप सरदियों में (जो पढ़ाई के लिए एकमात्र समय होता है) अपने बच्चों के पास पर्याप्त गरम कपड़े न होने के कारण उन्हें तीन-चार वर्स्ट से ज़्यादा दूर भेजने को राज़ी नहीं होते और, दूसरे, इसलिए कि लोगों के मन में–प्रायः उचित ही–वोलोस्त के बाबुओं के लिए आदर नहीं होता, क्योंकि आम तौर पर उन्हें अन्य सरकारी नौकरियों से अनौपचारिकतः निकाले हुए लोगों के बीच से भरती किया जाता है, हालांकि होना यह चाहिए कि वे अच्छे नैतिक चरित्रवाले आदमी हों।

तूला गुबेर्निया [प्रांत] के एक थाना क्षेत्र में १८६१ में एक भी

सार्वजनिक स्कूल नहीं था, जबकि आज २० स्कूल और कोई ३०० विद्यार्थी हैं। इन २० में से सिर्फ़ दो बाबुओं द्वारा और तीन पादरियों द्वारा चलाये जाते हैं, बाक़ी पंद्रह में अध्यापक प्राइवेट लोग हैं, जिनका एकमात्र धंधा पढ़ाई है, जैसे सेमिनरियों के स्नातक, उच्च शिक्षा संस्थाओं के छात्र, भूतपूर्व सिपाही या गिरजों के सेवानिवृत्त प्रवाचक। स्कूलों का ऐसा ही कम या ज़्यादा तेज़ विकास अन्य जगहों पर भी दिखायी देता है और उपरोक्त क्षेत्र की भांति ही हर कहीं यह विकास बिल्कुल स्वतंत्र रूप से हो रहा है।

इन स्कूलों के प्रकट होने का क्या कारण है? उनकी स्थापना और संचालन कैसे होता है? (जैसा कि हमने ऊपर बताया, उनपर स्थायी निरीक्षकों की फ़र्ज़ी देखरेख का कोई प्रभाव नहीं पड़ता, चाहे उनके खुलने की सूचना ऊपर तक पहुंच चुकी हो या न पहुंची हो)। इनके संचालन के लिए माली साधन कहां से और कैसे जुटाये जाते हैं? उनमें कौन से विषय पढ़ाये जाते हैं और कौन सी विधि प्रयोग की जाती है? जनता उनके संबंध में अपना संतोष या असंतोष कैसे व्यक्त करती है? क्या किसानों की सोसायटियां स्वयं ही इन स्कूलों का नियंत्रण कर सकती हैं? जनता शिक्षा के बारे में क्या सोचती है और उससे क्या चाहती है? लोगों के बीच कैसी पुस्तकों का प्रचार है, कैसी पुस्तकें उन्हें पसंद हैं और कैसी पुस्तकें वे ज़्यादा पढ़ते हैं? ये कुछ प्रश्न हैं, जिनका उत्तर पाये बिना हमें लगता है कि सार्वजनिक शिक्षा की किसी भी प्रणाली को चला पाना असंभव है। उत्तर केवल यथार्थ का अध्ययन दे सकता है। और यथार्थ अत्यधिक पेचीदा है तथा थोड़े से तथ्यों के आधार पर ही प्रतिपादित सामान्य नियम उसपर किसी भी प्रकार लागू नहीं होते। इसलिए हम समझते हैं कि बड़ी संख्या में ऐसे तथ्यों को एकत्र करना किसी भी शिक्षा प्रणाली के गठन की आवश्यक और मुख्य शर्त है, जो इस प्रश्न पर प्रकाश डालते हों। इस उद्देश्य से प्रस्तुत अंक में हम कुछ स्कूलों तथा पुस्तकों के विवरण दे रहे हैं और आशा करते हैं कि अगले अंकों में भी सार्वजनिक शिक्षा के समाचारों के तौर पर लोक पुस्तकों तथा स्कूलों के ऐसे ही कमोबेश दिलचस्प विवरण दे पायेंगे, जिनमें इन पुस्तकों के साहित्यिक मूल्य, दिशा तथा दृष्टिकोण की चर्चा नहीं की जायेगी, बल्कि उनमें दिये गये तथ्यों की रोचकता, स्वरूप तथा सच्चाई का मूल्यांकन किया जायेगा।

इस उद्देश्य से हम सभी अध्यापकों, पुस्तक-विक्रेताओं तथा अन्य लोगों से, जो सार्वजनिक शिक्षा से सीधा संबंध रखते हैं, हमें ऐसे सभी तथ्यों की जानकारी देने का अनुरोध करते हैं, जिनसे उपरिलिखित प्रश्नों का थोड़ा बहुत भी उत्तर मिलता हो। ऐसी सभी सामग्रियों को, चाहे उनका रूप कैसा भी क्यों न हो, हम मूल्यवान उपलब्धि मानेंगे। हम समझते हैं कि सार्वजनिक शिक्षा के ध्येय के लिए चार्टों से यह जानने के बजाय कि अमुक गुबेर्निया में अमुक महीने में अमुक धर्म, आयु और लिंग के इतने विद्यार्थी पढ़ते थे, ऐसी जानकारियां कहीं अधिक उपयोगिता तथा महत्त्व रखती हैं कि जैसे अमुक गांव या उयेज़्द [ज़िले] में कौन सी पुस्तकें उपलब्ध हैं, अमुक किसान ने किस बहाने स्कूल से अपने बेटे का नाम कटाया या अमुक किसान ने कैसे स्कूल में अपने बेटे का नाम लिखवाया, कौन, कहां, कितने पैसे देकर और कैसे लिखना-पढ़ना सीख रहा है और स्कूल किस इमारत में और कितनी क़ीमत या किराया देकर खोला गया है।

७. लिखना-पढ़ना सिखाने की विधियों के बारे में

(फ़रवरी, १८६२)

वर्तमान काल में ऐसे लोगों की कमी नहीं, जो लिखना-पढ़ना सिखाने की सर्वोत्तम विधि खोज निकालने, कहीं से ग्रहण करने या स्वयं बनाने में अत्यंत गंभीरता के साथ लगे हुए हैं। बहुतों ने तो यह सर्वोत्तम विधि बना या खोज भी ली है। हमारा साहित्य में और जीवन में इस प्रश्न से प्रायः साक्षात्कार होता है: आप किस विधि से सिखाते हैं? ज़्यादातर यह प्रश्न ऐसे लोगों से सुनने को मिलता है, जो या तो काफ़ी कम शिक्षित हैं, किंतु अरसे से बच्चों को पढ़ाने का धंधा कर रहे हैं, या जो अपने कक्ष से टस से मस हुए बिना सार्वजनिक शिक्षा से सहानुभूति जताते हैं और उसके पक्ष में छोटा-मोटा लेख लिखने तथा सर्वोत्तम विधि से लिखे गये ककहरे की छपाई के लिए चंदा जमा करने को भी तैयार रहते हैं, या जो अपनी ही विधि पर फ़िदा हैं, या फिर जिन्होंने पढ़ाने का काम कभी नहीं किया है, अर्थात् जो उसे ही दोहरा देते हैं, जो ज़्यादातर लोग कहते हैं। गंभीरतापूर्वक काम में लगे और शिक्षित लोग ऐसे प्रश्न कभी नहीं करते।

सभी इसे जैसे कि निर्विवाद सत्य मानते हैं कि सार्वजनिक स्कूल का काम लिखना-पढ़ना सिखाना है, कि साक्षरता शिक्षा की पहली सीढ़ी है, कि इसलिए इस शिक्षण के लिए किसी सर्वोत्तम विधि की खोज करना आवश्यक है। एक कहेगा कि स्वनिक विधि बहुत अच्छी है, दूसरा विश्वास दिलायेगा कि ज़ोलोतोव विधि सर्वोत्तम है, तीसरा उस और भी बढ़िया विधि को जानता है, जिसका नाम लैंकास्टर विधि है, इत्यादि। केवल आलसी ही इस मामले में कोई दिल्लगी नहीं करता, क्योंकि उसे विश्वास है कि जनता में शिक्षा फैलाने के लिए किसी

उत्कृष्ट विधि की नकल कर लेना, मकान किराये पर ले लेना और अध्यापक रख लेना या खुद ही रविवार को सुबह की प्रार्थना और मेल-मुलाक़ातों के बीच के वक़्त में अपनी शिक्षा का, जो बहुत ज़्यादा है, एक छोटा सा भाग अभागे, अज्ञान के गढ़े में गिरे लोगों को दे देना काफ़ी है, और सारी समस्या हल हो जायेगी।

बुद्धिमान, शिक्षित और अमीर लोग जमा होते हैं। उनमें से किसी के दिमाग़ में यह उदात्त और सुखद विचार कौंध जाता है: क्यों न इस गंवार रूसी जनता का कुछ उपकार किया जाये! "हां, हां, क्यों नहीं!" सब सहमत हो जाते हैं और एक सोसायटी बन जाती है, जिसका उद्देश्य जनता को शिक्षित बनाना, यानी उसके लिए सस्ती अच्छी किताबें छापना, स्कूल खोलना, अध्यापकों को प्रोत्साहन देना, आदि होता है। नियमावली बनायी जाती है, महिलाएं भी भाग लेती हैं, सभी औपचारिकताएं पूरी की जाती हैं और सोसायटी काम शुरू कर देती है। जनता के लिए अच्छी किताबें छापना! – सभी उदात्त विचारों की तरह यह भी कितना सरल और आसान लगता है। कठिनाई सिर्फ़ एक है: अच्छी किताबें हैं कहां? हमारे यहां की बात तो रही दूर, यूरोप में भी नहीं हैं।* ऐसी किताबें छापने के लिए पहले उन्हें लिखना होगा, मगर परोपकार करने पर तुले लोगों में से किसी को भी यह काम स्वयं करने की नहीं सूझती। सोसायटी चंदे के पैसों से किसी को किताब लिखने या यूरोप के जन साहित्य में से सबसे अच्छी चीज़ें चुनकर (जो ख़ास कठिन नहीं है) अनुवाद करने का काम सौंप देती है और सोचती है कि जनता सुखी हो जायेगी और तेज़ क़दमों से शिक्षा की ओर बढ़ेगी। सोसायटी बहुत संतुष्ट है। स्कूलों के कार्यकलाप के दूसरे पहलू के संबंध में भी सोसायटी का रवैया ठीक ऐसा ही रहता है। केवल विरले, आत्मत्याग की भावना से प्रेरित लोग ही अपना बहुमूल्य खाली समय जनता को लिखने-पढ़ाने पर खर्च करते हैं। (यह बात ध्यान में नहीं रखी जाती कि इन लोगों ने कभी कोई शिक्षाशास्त्र की पुस्तक नहीं पढ़ी थी और स्वयं जिस स्कूल में शिक्षा

* लेव तोलस्तोय का आशय विभिन्न विषयों पर सरल साहित्यिक भाषा में विशेष रूप से बच्चों के लिए लिखी हुई पाठ्यपुस्तकों से था। आगे चलकर तोलस्तोय ने स्वयं ही इस कमी को पूरा करने का प्रयत्न किया।

पायी थी, उसके अलावा और कोई स्कूल नहीं देखा था।) दूसरे लोग स्कूलों को प्रोत्साहन देते हैं। उन्हें भी सब कुछ बड़ा आसान लगता है, मगर फिर एक अप्रत्याशित कठिनाई सामने आती है। वह यह है कि शिक्षा में योग देने का इसके अलावा अन्य कोई साधन नहीं है कि खुद ही पढ़ाया जाये और अपने को पूरी तरह इस काम को समर्पित कर दिया जाये।

किंतु परोपकारी सोसायटियों और लोगों को ये कठिनाइयां जैसे कि दिखायी नहीं देतीं और वे सार्वजनिक शिक्षा के क्षेत्र में इस तरीक़े से अपना काम जारी रखे रहते हैं। उन्हें सब कुछ बड़ा संतोषजनक प्रतीत होता है। यह परिघटना एक ओर तो हास्यजनक तथा अहानिकर है, क्योंकि इन सोसायटियों और लोगों के कार्यकलाप का वास्तव में जनता से कोई संबंध नहीं होता, दूसरी ओर वह ख़तरनाक भी है, क्योंकि सार्वजनिक शिक्षा के बारे में हमारी वैसे भी धुंधली धारणा को और भी ज़्यादा धुंधली बना देती है। इस परिघटना का कारण आंशिकतः हमारे समाज में व्याप्त क्षोभ है और आंशिकतः मनुष्य की यह आम विशेषता कि वह हर अच्छे विचार को आत्मप्रदर्शन और मनोरंजन के निमित्त खिलौना बना लेता है। फिर भी हमारी दृष्टि में मुख्य कारण इस बात को ठीक से न समझ पाना है कि साक्षरता क्या है, जिसके प्रसार को जनता के सभी प्रबोधकों ने अपना लक्ष्य बनाया हुआ है और जिसने हमारे यहां अजीबोग़रीब बहसों को जन्म दिया है।

साक्षरता की संकल्पना हमारे यहां ही नहीं, बल्कि सारे यूरोप में पायी जाती है। यह माना जाता है कि साक्षरता फैलाना ही जनता के लिए निर्मित आधारिक स्कूलों का उद्देश्य है – lesen und schreiben, lire et écrire, reading and writing [पढ़ना और लिखना]। मगर साक्षरता है क्या और उसका शिक्षा की पहली सीढ़ी से क्या संबंध है? साक्षरता, लिखना-पढ़ना जानना कुछ निश्चित चिह्नों से शब्द बनाकर उनका उच्चारण करने और उन्हीं चिह्नों से शब्द बनाकर उन्हें चित्रित करने की कला है। साक्षरता और शिक्षा के बीच क्या संबंध है? साक्षरता एक निश्चित कला (Fertigkeit) है, जब कि शिक्षा तथ्यों और उनके सहसंबंधों के ज्ञान को कहते हैं। मगर हो सकता है कि शब्द बनाने की यह कला मनुष्य को शिक्षा की पहली सीढ़ी पर पहुंचाने के लिए आवश्यक है

6-942

और इसके लिए अन्य कोई रास्ता नहीं है? हम न सिर्फ़ ऐसी कोई बात नहीं देखते, बल्कि प्रायः इससे बिल्कुल उल्टी बात ही देखते हैं – बेशक अगर शिक्षा से हमारा तात्पर्य स्कूली शिक्षा ही नहीं, जीवन द्वारा दी जानेवाली शिक्षा भी हो। शिक्षा की नीची सीढ़ी पर खड़े लोगों के बीच हम देखते हैं कि लिखना-पढ़ना जानना या न जानना उनकी शिक्षा के स्तर को तनिक भी प्रभावित नहीं करता। हम ऐसे लोग पाते हैं, जो सस्यविज्ञान के लिए आवश्यक सभी तथ्यों को, इन तथ्यों के बीच बहुत से संबंधों को तो जानते हैं, मगर लिखना-पढ़ना नहीं जानते। हम ऐसे उत्कृष्ट सेनानी, व्यापारी, प्रबंधक, कार्य-निरीक्षक, कारीगर, दस्तकार, ठेकेदार और सीधे जीवन से शिक्षा पाये हुए लोग पाते हैं, जिनमें ज्ञान की और इस ज्ञान पर आधारित सामान्य बुद्धि की तो कमी नहीं, पर जो निरक्षर हैं। इसके विपरीत, ऐसे लोग भी बहुत मिलते हैं, जो लिखना-पढ़ना तो जानते हैं, मगर जिन्होंने इस कला Fertigkeit के ज़रिये कोई भी नया ज्ञान अर्जित नहीं किया है। रूस ही नहीं, यूरोप में भी सार्वजनिक शिक्षा पर दृष्टिपात करके हर कोई अनायास ही इस निष्कर्ष पर पहुंचेगा कि जनता द्वारा शिक्षा साक्षरता से बिल्कुल निरपेक्ष रूप से अर्जित की जाती है और लिखने-पढ़ने की योग्यता – कुछ बहुत ही विरले अपवादों को छोड़कर – से व्यवहार में कोई लाभ नहीं उठाया जाता तथा अधिकांश मामलों में तो वह हानिकारक तक सिद्ध होती है। हानिकारक इसलिए कि जीवन में कुछ भी ऐसा नहीं होता कि जो अपनी छाप न छोड़ता हो। यदि लिखने-पढ़ने का ज्ञान व्यवहार में उपयोग नहीं हो सकता तथा बेकार है, तो वह हानि ही पहुंचायेगा।

मगर कहीं ऐसी बात तो नहीं कि शिक्षा के किसी निश्चित स्तर को, जो साक्षरताहीन शिक्षा की ऊपर दी गयी मिसालों से ऊंचा है, लिखना-पढ़ना जाने बिना नहीं प्राप्त किया जा सकता? हो सकता है कि बात ऐसी ही हो, मगर हम इसे नहीं जानते और भावी पीढ़ी की शिक्षा के लिए ऐसा सोचने का हमारे पास कोई आधार भी नहीं है। शिक्षा का केवल वह स्तर प्राप्त करना असंभव है, जिस तक हम पहुंच चुके हैं और जिसके अलावा और किसी स्तर की कल्पना हम न तो कर सकते हैं, न ही करना चाहते हैं। साक्षरता स्कूल का एक नमूना हमारे पास मौजूद है, जो हमारे मत में शिक्षा की आधारशिला

का काम करता है, और हम शिक्षा की उन और सभी सीढ़ियों को नहीं जानना चाहते, जो हमारे स्कूल से नीचे नहीं, बल्कि उसके बिल्कुल बाहर तथा उससे स्वतंत्र हैं।

हम कहते हैं: सभी निरक्षर समान रूप से अशिक्षित हैं, कि हमारे लिए वे सभी असभ्य हैं। शिक्षा की शुरूआत के लिए अक्षरज्ञान आवश्यक है, और हम जाने-अनजाने जनता को अपनी शिक्षा के इस रास्ते पर ले जाते हैं। मैंने जो शिक्षा पायी है, उसे देखते हुए मैं इस राय से सहर्ष सहमत हो जाता; मैं तो यह भी मानता हूं कि साक्षरता शिक्षा के एक निश्चित स्तर के लिए आवश्यक है; मगर मैं इस बारे में निश्चित नहीं हूं कि मेरी शिक्षा अच्छी है, कि विज्ञान जिस मार्ग पर जा रहा है, वह ठीक मार्ग है, और, जो मुख्य बात है, मैं साक्षरता के बिना शिक्षित बन रही तीन चौथाई मानवजाति की उपेक्षा नहीं कर सकता। अगर हम जनता को अवश्य ही शिक्षित बनाना चाहते हैं, तो हमें उससे पूछना होगा कि वह शिक्षा कैसे ग्रहण करती है और इसके लिए उसके प्रिय औज़ार क्या हैं। अगर हम आरंभ, शिक्षा की पहली सीढ़ी खोज निकालना चाहते हैं, तो क्यों उसे अनिवार्यतः पढ़ाई-लिखाई में ही ढूंढें, क्यों न इससे भी अधिक गहराई में जायें? शिक्षा के असंख्य औज़ारों में से किसी एक पर ही क्यों रुक जायें और क्यों उसमें ही शिक्षा का आदि और अंत देखें, जबकि वह शिक्षा का एक संयोगिक और थोड़ा ही महत्त्व रखनेवाला कारक है? यूरोप में लिखना-पढ़ना अरसे से सिखाया जा रहा है, मगर जन साहित्य नहीं है, यानी जनता, या जिन लोगों को केवल शारीरिक श्रम करना पड़ता है, उन लोगों का वर्ग कहीं भी किताबें नहीं पढ़ता। कहां तो इस तथ्य पर ध्यान देते हुए इसके कारणों का पता लगाया जाना चाहिए था, मगर हो यह रहा है कि पढ़ना-लिखना सिखाना जारी रखकर ही शिक्षा के काम में मदद करने की सोची जा रही है।

सिद्धांत में सभी बुनियादी प्रश्न बड़ी आसानी और सरलता से हल हो जाते हैं। किंतु जब उन्हें व्यवहार में हल करने की कोशिश की जाती है, तो यह काम इतना आसान नहीं प्रतीत होता और साथ ही हज़ारों दूसरे मुश्किल से हल होनेवाले प्रश्न पैदा हो जाते हैं। देखने में लगता है कि जनता को शिक्षित करना बड़ा सरल और आसान है: बस उसे, चाहे जबर्दस्ती ही सही, लिखना-पढ़ना सिखा दो, अच्छी

किताबें दे दो और सारी समस्या हल हो जायेगी। मगर व्यवहार में बिल्कुल उल्टा ही होता है। लोग लिखना-पढ़ना नहीं सीखना चाहते। मगर उन्हें मजबूर किया जा सकता है। दूसरी कठिनाई यह है कि किताबें नहीं हैं। किताबें लिखवायी जा सकती हैं। पर ऐसी किताबें खराब होती हैं, और अच्छी किताबें लिखने के लिए मजबूर नहीं किया जा सकता। फिर सबसे बड़ी कठिनाई तो यह है कि लोग इन खराब किताबों को पढ़ना नहीं चाहते और उन्हें पढ़ने के लिए मजबूर करने का अभी तक कोई तरीक़ा खोजा नहीं जा सका है। जनता अपनी शिक्षा साक्षरता स्कूलों में नहीं, बल्कि अपने ही ढंग से जारी रखती है। हो सकता है कि जनता के लिए सार्विक शिक्षा में भाग लेने की ऐतिहासिक घड़ी अभी नहीं आयी है और लिखना-पढ़ना सीखने के लिए अभी सौ साल और चाहिए; हो सकता है कि जनता बिगड़ चुकी है (जैसा कि बहुत से लोग सोचते हैं); हो सकता है कि जनता का स्वयं अपने लिए किताबें लिखना ठीक रहेगा; हो सकता है कि अभी सर्वोत्तम विधि नहीं खोजी गयी है; यह भी हो सकता है कि किताबों और साक्षरता के ज़रिये शिक्षा अभिजातीय तरीक़ा है और मज़दूर वर्ग उसे आज के युग में विकसित शिक्षा के अन्य औज़ारों की अपेक्षा कम सुविधाजनक पाता है। हो सकता है कि आज जनता साक्षरता के ज़रिये शिक्षा के इस मुख्य लाभ को नहीं देखती कि वह सहायक साधनों के बिना भी ज्ञान दे सकती है। हो सकता है कि कामगर आदमी के लिए वनस्पतिविज्ञान वनस्पतियों से, प्राणिविज्ञान पशुओं से और गणित बीजकों से सीखना ज़्यादा आसान है, बजाय किताबों से सीखने के। हो सकता है कि कामगर आदमी को कहानी सुनने, संग्रहालय या प्रदर्शनी देखने के लिए वक़्त मिल जाये, जबकि किताब पढ़ने के वास्ते वक़्त न मिले। यह भी संभव है कि सीखने का किताबी तरीक़ा उसकी जीवन-पद्धति और उसके स्वभाव से मेल नहीं खाता। हम प्रायः देखते हैं कि जब कोई जानकार आदमी कुछ बता और समझा रहा होता है, तो कामगर आदमी उसकी बातें ध्यान और चाव से और समझने की स्पष्ट कोशिश करते हुए सुनता है। मगर ऐसा कामगर आदमी मुश्किल से ही मिलेगा, जो अपने घट्ठेदार हाथों में किताब लिये हुए हो और उसके लिए दो पन्नों पर सरल शैली में बतायी हुई ज्ञान-विज्ञान की बातों को समझना चाहता हो। ये सब कारणों से संबंधित

अनुमान हैं, जो बहुत ग़लत भी हो सकते हैं। फिर भी यह तथ्य है कि सारे यूरोप में जनता के लिए रचे हुए साहित्य का अभाव है और जनता साक्षरता के ज़रिये शिक्षित बनाये जाने का विरोध करती है।

ठीक इसी प्रकार हम यह भी पाते हैं कि सारे यूरोप में शिक्षा देनेवाला वर्ग लिखना-पढ़ना सिखानेवाले स्कूलों को शिक्षा की पहली सीढ़ी मानता है। शिक्षा के ऐतिहासिक क्रम पर दृष्टिपात करके हम इस इतने अतर्कसंगत प्रतीत होनेवाले दृष्टिकोण के स्रोत को जान सकते हैं। पहले निम्नतर स्कूलों की नहीं, उच्चतर स्कूलों की स्थापना हुई थी: पहले मठों के विद्यालय स्थापित हुए, फिर जिम्नाज़ियम, फिर उयेज़्दस्तरीय स्कूल और फिर सार्वजनिक स्कूल। हमारे यहां पहले अकादमी की स्थापना हुई, फिर विश्वविद्यालयों, फिर जिम्नाज़ियमों, फिर उयेज़्दस्तरीय स्कूलों और अंत में सार्वजनिक प्राथमिक स्कूलों की। शिक्षा संस्थाओं के इस संगठित सोपानक्रम में लिखना-पढ़ना जानना शिक्षा की अंतिम सीढ़ी अथवा आखिर से पहली सीढ़ी है और इसलिए निम्नतर स्कूल का काम केवल उन्हीं आवश्यकताओं को पूरा करना है, जो उच्चतर स्कूल पेश करता है। मगर एक और दृष्टिकोण भी पाया जाता है, जिसके अनुसार सार्वजनिक स्कूल एक स्वतंत्र संस्था है, जिसमें उच्च शिक्षा संस्था जैसी कमियों का होना आवश्यक नहीं है और सार्वजनिक शिक्षा के रूप में जिसका अपना स्वतंत्र लक्ष्य होता है। हम राज्य द्वारा निर्मित शिक्षा के सोपानक्रम की जितनी ही निचली सीढ़ी पर उतरते हैं, उतना ही ज़्यादा हर सीढ़ी पर शिक्षा को पूर्ण तथा स्वतंत्र बनाने की आवश्यकता अनुभव करते हैं। जिम्नाज़ियमों के केवल १/५ विद्यार्थी ही विश्वविद्यालयों में नहीं भरती होते। जबकि उयेज़्दस्तरीय स्कूलों के केवल १/५ विद्यार्थी जिम्नाज़ियमों में और सार्वजनिक स्कूलों के केवल १/१००० विद्यार्थी ही उच्च शिक्षा संस्थाओं में भरती हो पाते हैं। अतः सार्वजनिक स्कूल का उच्च शिक्षा संस्था के अनुरूप होना सार्वजनिक शिक्षा का सबसे गौण लक्ष्य होना चाहिए। मगर यह अनुरूपता ही है जिससे सार्वजनिक स्कूल को साक्षरता स्कूल समझा जाता है।

साक्षरता के लाभ या हानि के बारे में हमारे साहित्य में चलनेवाली यह बहस, जिसपर हंसना इतना आसान था, हमारे मत में एक काफ़ी

गंभीर बहस है, और उसे बहुत से प्रश्नों को स्पष्ट करना है। प्रसंगतः ऐसी बहस अकेले हमारे यहां ही नहीं चली है, अथवा चल रही है। कुछ लोग कहते हैं कि जनता के लिए किताबें और पत्रिकाएं पढ़ने की संभावना पाना हानिकर है, क्योंकि ये किताबें और पत्रिकाएं प्रकाशन व्यवसायियों और राजनीतिक दलों द्वारा उसे मुहैया की जाती हैं। ये लोग कहते हैं कि साक्षरता मजदूर वर्ग को उसके परिवेश से जुदा करके उसमें अपनी स्थिति के प्रति असंतोष जगाती है और दुर्गुणों तथा नैतिक पतन को जन्म देती है। दूसरे लोग कहते हैं या कहना चाहते हैं कि शिक्षा हानिकर नहीं हो सकती, कि वह सदा लाभकारी ही होती है। पहले कमोबेश ईमानदार प्रेक्षक हैं और दूसरे सिद्धांतकार। जैसा कि बहसों में हमेशा होता है, दोनों ही पक्ष बिल्कुल सही हैं। हमें लगता है कि बहस केवल इसलिए हो रही है कि प्रश्न को अस्पष्ट ढंग से पेश किया गया है। पहले साक्षरता पर सर्वथा उचित ही हमला करते हैं कि वह मनुष्य में अलग से पैदा की गयी और हर तरह के ज्ञान से रहित पढ़ने और लिखने की योग्यता है (अधिकांश स्कूल अभी तक यही करते आ रहे हैं, क्योंकि रटकर जो सीखा था, वह तो भूल जाता है और अकेला अक्षरज्ञान ही बचा रहता है); दूसरे साक्षरता की हिमायत करते हैं, उसका अर्थ शिक्षा की पहली सीढ़ी लगाते हैं और ग़लत केवल इस बात में होते हैं कि साक्षरता की उनकी समझ ठीक नहीं है। यदि प्रश्न को यों पेश किया जाये कि जनता के लिए प्राथमिक शिक्षा उपयोगी है या नहीं, तो नकारात्मक उत्तर कोई भी नहीं देगा। लेकिन यदि पूछते हैं कि क्या जनता को पढ़ना सिखाना उपयोगी है, जब वह पढ़ना नहीं जानती और उसके पास पढ़ने के लिए किताबें नहीं हैं, तो मैं आशा करता हूं कि किसी भी निष्पक्ष व्यक्ति का उत्तर होगा: मालूम नहीं, ठीक वैसे ही नहीं मालूम, जैसे यह कि सभी लोगों को वायलिन सिखाना उपयोगी होगा कि जूते बनाना सिखाना। लोगों को जिस रूप में अक्षरज्ञान दिया जाता है, उस रूप में उसके परिणाम पर अधिक नज़दीक से ग़ौर करके मैं सोचता हूं कि लंबे समय तक की जानेवाली ज़ोर-ज़बर्दस्ती, स्मरणशक्ति के असंतुलित विकास, विज्ञान की पूर्णता विषयक भ्रांत धारणा, आगे शिक्षा से विरक्ति, मिथ्या अहंकार तथा निरर्थक पठन के जो साधन इन स्कूलों में हासिल किये जाते हैं, उन्हें ध्यान में रखकर अधिकांश लोग साक्षरता

को अनुपयोगी ही बतायेंगे। यास्नाया पोल्याना स्कूल में साक्षरता स्कूलों* से आये हुए सभी विद्यार्थी जीवन के स्कूल से आये हुए विद्यार्थियों से हमेशा पिछड़े रहते हैं और साक्षरता स्कूलों में उन्होंने जितने ही ज्यादा लंबे समय तक पढ़ा होता है, उनका यह पिछड़ापन उतना ही ज्यादा होता है।

सार्वजनिक स्कूल का उद्देश्य और कार्यक्रम क्या है, इसे हम यहां न सिर्फ़ नहीं बता सकते, बल्कि अन्यथा भी इसे असंभव मानते हैं। इस प्रश्न के उत्तर में हम बस इतनी ही सकारात्मक बात कह सकते हैं कि सार्वजनिक स्कूल को जनता की आवश्यकताएं पूरी करनी चाहिए। ये आवश्यकताएं क्या हैं, इसका उत्तर उनका अध्ययन और स्वतंत्र प्रयोग ही दे सकते हैं। लिखना-पढ़ना जानना तो इन आवश्यकताओं का एक छोटा सा, अत्यंत मामूली हिस्सा ही है, जिसके कारण साक्षरता स्कूल, चाहे उनके संस्थापक उन्हें ही वास्तविक शिक्षा केंद्र समझते हुए उनपर कितने भी मुग्ध क्यों न हों, जनता के लिए लगभग अनुपयोगी और प्रायः हानिकर सिद्ध हो जाते हैं और आरंभिक शिक्षा देनेवाले स्कूलों से भी कोई समानता नहीं रखते। इसी कारण यह प्रश्न सार्वजनिक शिक्षा के लिए कम महत्त्व रखनेवाला प्रश्न बन जाता है कि लिखना-पढ़ना जल्दी से जल्दी कैसे और किस विधि से सिखाया जाये। इसी कारण वे लोग, जो दिल बहलाने के लिए साक्षरता स्कूल चलाते हैं, यदि इसे छोड़कर कोई अधिक रोचक काम करने लगेंगे, तो कहीं अच्छी बात करेंगे, क्योंकि सार्वजनिक शिक्षा का कार्य अकेली साक्षरता तक ही सीमित नहीं है। इसके अलावा वह कठिन ही नहीं, बल्कि प्रत्यक्ष तथा निरंतर श्रम और जनता के अध्ययन की अपेक्षा करनेवाला कार्य भी है। साक्षरता स्कूलों की ज़रूरत उसी हद तक है, जिस हद तक साक्षरता जनता के लिए ज़रूरी है। इसलिए साक्षरता स्कूल ठीक उतने चलते हैं, जितनी उनकी आवश्यकता होती है। हमारे यहां इन स्कूलों की तादाद ज़्यादा इसलिए है कि इनमें काम करनेवाले अध्यापक लिखने-पढ़ने के अलावा और कुछ नहीं सिखा सकते और जनता भी नामपट्ट पढ़ने, रक़में लिखने, पैसे लेकर मृतक के लिए प्रार्थना की पुस्तक से पाठ करने, आदि व्यावहारिक कार्यों के लिए थोड़ा-बहुत लिखना-

* यहां आशय विभिन्न सरकारी प्राथमिक स्कूलों के विद्यार्थियों से है।

पढ़ना जानने की आवश्यकता महसूस करती ही है। ये स्कूल वैसे ही चलते हैं, जैसे दर्ज़ियों और बढ़इयों की कर्मशालाएं; यहां तक कि उनके बारे में जनता का दृष्टिकोण और उनमें सिखानेवालों के तरीक़े भी वैसे ही हैं: वैसे ही विद्यार्थी खुद, समय के साथ, जैसे-तैसे कुछ सीख लेता है; वैसे ही उस्ताद विद्यार्थी को अपने कामों – वोद्का लाना, लकड़ी फाड़ना, आदि – के लिए इस्तेमाल करता है और वैसे ही उनमें सीखने-पढ़ने की अवधि तय की जाती है। उन हुनरों जैसे यह साक्षरता भी कभी आगे शिक्षा के लिए नहीं इस्तेमाल की जाती, बल्कि केवल व्यावहारिक उद्देश्यों के लिए इस्तेमाल की जाती है। पढ़ानेवाला गिरजे का पादरी हो या भूतपूर्व सैनिक, किसान अपने तीन बेटों में से एक को वैसे ही पढ़ने को दे देता है, जैसे दर्ज़ी का काम सीखने को दे रहा हो, और इससे दोनों की ही क़ानूनी जरूरत पूरी हो जाती है, मगर इसमें शिक्षा का एक निश्चित स्तर देखना, और यह सोचते हुए कि ऐसे स्कूल की एकमात्र ख़ामी उसकी लिखना-पढ़ना सिखाने की विधि है, इस आधार पर सरकारी स्कूल की स्थापना करना तथा उसमें बच्चों को चालाकी से या ज़ोर-ज़बर्दस्ती से भरती करवाना अपराध या ग़लती करना होगा।

मगर आप कहेंगे कि सार्वजनिक शिक्षा की प्रणाली में, जिस अर्थ में कि आप उसे समझते हैं, लिखना-पढ़ना सीखना फिर भी शिक्षा की एक पहली शर्त है – इसलिए भी कि जनता शिक्षा के लिए लिखना-पढ़ना जानने को आवश्यक मानती है और इसलिए भी कि अधिकांश अध्यापक सबसे ज़्यादा लिखना-पढ़ना ही जानते हैं, और इस कारण लिखना-पढ़ना सिखाने की विधि का प्रश्न एक कठिन प्रश्न है, जिसका समाधान अभी किया जाना है। इसका हम यह जवाब देंगे कि जनता और शिक्षाशास्त्र के हमारे अपर्याप्त ज्ञान के कारण अधिकांश स्कूलों में शिक्षा वस्तुतः लिखना-पढ़ना सिखाने से आरंभ होगी; मगर छपाई और लिखाई के चिन्हों को सिखाने की प्रक्रिया हमें बहुत ही घटिया और पुरानी प्रतीत होती है। पादरी लिखना-पढ़ना सिखाने में तीन महीने लगा देता है; जबकि बुद्धिमान पिता या भाई इसी विधि से कहीं कम समय में सिखा डालते हैं; ज़ोलोतोव और लाउतियेर की विधि*

* Lautiermethode – स्वनिक विधि।

से तो कहते हैं कि और भी कम समय लगता है। मगर इनमें से किसी भी विधि से क्यों न सीखें, अगर पढ़े हुए को समझना नहीं सीखा जायेगा, जो कि पढ़ना-लिखना सीखने का मुख्य उद्देश्य है, तो फ़ायदा कुछ भी नहीं होगा। इस ज़रूरी, कठिन और अभी तक न पायी गयी विधि के बारे में ही कुछ नहीं सुना जा रहा है। इसलिए लिखना-पढ़ना सिखाने का सबसे अच्छा तरीक़ा क्या है, यह प्रश्न हालांकि अभी अपने उत्तर की प्रतीक्षा कर रहा है, फिर भी हमें वह बड़ा बेकार प्रतीत होता है। इसी तरह हमें लगता है कि इस विधि को खोजने में जो श्रम तथा शक्ति का व्यय हो रहा है, जिनका आगे शिक्षा में अधिक कारगर इस्तेमाल हो सकता है, वह एक बड़ी भूल है, और इस भूल का कारण साक्षरता तथा शिक्षा की सही समझ का अभाव है।

जहां तक हमें मालूम है, सभी विद्यमान विधियों को तीन विधियों और उनके संयोजनों में वर्गीकृत किया जा सकता है:

१. वर्णमाला, वर्ण-संयोजनों तथा अर्थों को सीखने और एक किताब को लगभग रट लेने की विधि — Buchstabiermethode [वर्ण-संयोजन विधि]।

२. स्वरों और उनसे व्यंजनों को, जो केवल स्वरों के साथ ही आते हैं, जोड़ना सीखने की विधि।

३. स्वनिक विधि।

ज़ोलोतोव की विधि २ और ३ का विदग्ध मेल है। अन्य विधियों का सार भी इन तीन मुख्य विधियों का विविध प्रकार से संयोजन है।

सभी विधियां समान रूप से अच्छी हैं, हालांकि किसी ख़ास पहलू, भाषा और यहां तक कि विद्यार्थी की योग्यताओं की दृष्टि से देखे जाने पर कोई विधि अन्य विधियों से उत्कृष्ट या निकृष्ट भी सिद्ध हो सकती है और हर एक की अपनी कठिनाइयां हैं।

ज़ोलोतोव की विधि अक्षरों को जोड़कर शब्द बनाने और स्वरहीन व्यंजनों को समझाने में बड़ी सहायक सिद्ध होती है, किंतु जटिल वर्ण-संयोजनों में वर्णों को याद रखने में इसमें कुछ कठिनाइयां उत्पन्न होती हैं। वह अन्य विधियों की तुलना में अधिक सुविधाजनक इसलिए है कि उसमें दो विधियों का संयोग पाया जाता है। उसे पूर्ण क़तई नहीं कहा जा सकता।

हमने विधियों को तीन भागों में विभाजित किया, मगर यह वि-

भाजन कोई खास महत्त्व नहीं रखता। हमने केवल स्पष्टता की खातिर ही ऐसा किया था, क्योंकि सच कहें, तो ऐसी कोई विधि नहीं हैं और हर विधि में अन्य सभी विधियां भी समाविष्ट हैं। दूसरे को लिखना-पढ़ना सिखानेवाला हर आदमी इसके लिए जाने-अनजाने सभी विद्यमान और विगत विधियों को इस्तेमाल करता है। नयी विधि का आविष्कार विद्यार्थी को जिस नये पहलू से सिखाया-समझाया जा सकता है, उस पहलू की चेतना मात्र ही होता है। इसलिए नयी विधि पुरानी विधि का अपवर्जन नहीं करती और न सिर्फ़ पुरानी विधि से उत्कृष्ट नहीं होती, बल्कि ख़राब ही होती है, क्योंकि अधिकांशतः पहले जो सबसे महत्त्वपूर्ण युक्ति होती है, उसपर ही चोट की जाती है। ज़्यादातर पुराने के विनाश को ही नये का आविष्कार माना जाता है, हालांकि यथार्थ में पुरानी युक्ति ही सबसे महत्त्वपूर्ण बनी रहती है और आविष्कारक जानबूझकर पुरानी युक्तियों को नकारते हुए अपने इस निषेध से इस काम को और कठिन ही बना देते हैं और उनसे भी पीछे चले जाते हैं, जो सचेतन रूप से पुरानी युक्ति और अचेतन रूप से नयी तथा भावी युक्तियों को इस्तेमाल कर रहे होते हैं। उदाहरण के तौर पर हम सबसे पुरानी और सबसे नयी विधियों का उल्लेख कर सकते हैं। ये हैं किरील्ल और मेफ़ोदी की विधि और Fisch-Buch [मछली–पुस्तक] के नाम से ज्ञात तथा जर्मनी में बहुप्रचलित स्वनिक विधि।

हर अध्यापक ककहरे से पढ़ाता है, विद्यार्थी को **भगवान** शब्द का लिखित रूप देखने को बाध्य करता है तथा साथ ही इस शब्द को बोलकर भी दिखाता है। इस प्रकार वह उसके साथ सारी पुस्तक पढ़ डालता है और विद्यार्थी आंगिक को पृथक से जोड़ते हुए, परिचित वाक् (प्रार्थना, जिसे जानने की आवश्यकता के बारे में बालक के मन में संदेह भी नहीं हो सकता) को इस वाक् के संघटक अंगों में विभाजन से जोड़ते हुए अक्षर-संयोजन की प्रक्रिया को आसानी से हृदयंगम कर लेता है। ये ही वे नयी विधियां और सैकड़ों दूसरी युक्तियां हैं, जिन्हें हर बुद्धिमान तथा अनुभवी अध्यापक अपने विद्यार्थी को पढ़ने की प्रक्रिया समझाने के लिए अचेतन रूप से इस्तेमाल करता है। ऐसा करते हुए वह अध्यापक अपने विद्यार्थी को पढ़ने की प्रक्रिया का मर्म स्वयं ही तथा अपने लिए सबसे सहज तरीक़े से समझने की स्वतंत्रता देता है।

इसका हवाला दिये बिना भी कि मैं पुरानी विधि से काफ़ी जल्दी

लिखना-पढ़ना सीख लेने की सैकड़ों और नयी विधि से काफ़ी धीमी गति से लिखना-पढ़ना सीखने की भी सैकड़ों मिसालें जानता हूं, मैं केवल यही कहना चाहता हूं कि पुरानी विधि नयी विधि से हमेशा इस कारण उत्कृष्ट होती है कि उसमें सभी नयी विधियां समाविष्ट रहती हैं, हालांकि लोगों को उनकी जानकारी नहीं होती, जबकि नयी विधि सभी पुरानी विधियों का अपवर्जन कर देती है। नयी की तुलना में पुरानी विधि की एक श्रेष्ठता यह भी है कि वह स्वतंत्रतामूलक होती है, जबकि नयी विधि बाध्यता पर ज़ोर देती है। आप कहेंगे कि मैं यह क्या बात कर रहा हूं, क्योंकि पुरानी विधि में बेंतें मार-मारकर अक्षर जोड़ना सिखाया जाता था, जबकि नयी विधि में बच्चों को आप कहकर संबोधित किया जाता है और उनसे सिर्फ़ समझने की प्रार्थना की जाती है? बच्चे के लिए यही तो सबसे असहनीय तथा हानिकर हिंसा है, जब उससे भी ठीक वैसे ही समझने को कहा जाता है, जैसे अध्यापक ख़ुद समझता है।

जर्मन सेमिनरी का अध्यापक, जिसने सर्वोत्तम विधि से प्रशिक्षण पाया है, बेधड़क और आत्मविश्वास के साथ कक्षा में आकर बैठता है। पढ़ाई के सभी उपकरण – अक्षर लिखी तख्तियां, पटरियों से युक्त ब्लैकबोर्ड और मछली के चित्रवाली किताब – तैयार हैं। अध्यापक अपने विद्यार्थियों पर एक नज़र डालता है और जान जाता है कि उन्हें क्या समझना चाहिए। वह जान जाता है कि उनकी आत्मा किस चीज़ से बनी है। उसे और भी बहुत सारी बातें मालूम हैं, जो उसने सेमिनरी में सीखी थीं।

वह पुस्तक खोलता है और मछली दिखाता है। "बच्चो, यह क्या है?" कृपया ध्यान दें कि यह Anschauungsunterricht [दृश्य शिक्षण] है। बच्चे मछली देखकर ख़ुश होते हैं – बेशक अगर उन्होंने अन्य स्कूलों के बच्चों या बड़े भाइयों से नहीं सुना है कि कैसे यह मछली उन्हें नाकों चने चबवा देगी। कुछ भी हो, वे कहेंगे: "यह मछली है।" "नहीं," अध्यापक उत्तर देता है। (यह सब जो मैं बता रहा हूं, कपोलकल्पना या व्यंग्य नहीं है, बल्कि मैं उन्हीं तथ्यों को दोहरा रहा हूं, जो मैंने जर्मनी के निरपवाद रूप से सभी अच्छे स्कूलों में और इंगलैंड के उन स्कूलों में देखा था, जहां इस शानदार और उत्कृष्ट विधि को अपनाया जा चुका है।) "नहीं," अध्यापक फिर कहता

है और पूछता है : "आप क्या देख रहे हैं ?" बच्चे कोई उत्तर नहीं देते। भूलें नहीं कि उनके लिए खामोशी से, अपनी-अपनी जगह पर, बिना हिले-डुले बैठे रहना ज़रूरी है —Ruhe und gehorsam! [चुप रहो और सुनो !] "हां, तो क्या देख रहे हैं आप ?" "पुस्तक," सबसे भोंदू बच्चा बोलता है। जो बुद्धिमान हैं, वे इस बीच हज़ार बार अपना मत बदल चुके हैं कि क्या देख रहे हैं, और अपनी सहज-बुद्धि से जानते हैं कि अध्यापक जो सुनना चाहता है, उसे जान पाना उनके लिए कठिन है, और उन्हें कहना चाहिए कि मछली मछली नहीं है, बल्कि कोई ऐसी चीज़ है, जिसे वे बता नहीं सकते। "शाबाश !" अध्यापक हर्षपूर्वक कहता है, "बहुत ठीक कहा। पुस्तक है।" बुद्धिमानों का हौसला बढ़ जाता है और भोंदू खुद भी नहीं जान पाता कि उसे शाबाशी क्यों दी गयी है। "और पुस्तक में क्या है ?" अध्यापक पूछता है। बच्चों में जो सबसे चुस्त और तेज़ है, वह भांप जाता है और गर्वमिश्रित हर्ष के साथ जवाब देता है, "अक्षर"। "नहीं, बिल्कुल नहीं," अध्यापक दुखी आवाज़ में कहता है, "बोलने से पहले थोड़ा सोचना भी चाहिए।" सभी बुद्धिमान बच्चे फिर मुंह लटकाकर चुप बैठे रहते हैं और जवाब खोजने के बजाय यही सोचते रहते हैं कि अध्यापक का चश्मा कैसा है, क्यों वह उसे उतारता नहीं, क्यों उसमें से देखता है, वग़ैरह-वग़ैरह। "हां, तो पुस्तक में क्या है ?" सभी चुप रहते हैं। "यह इस जगह पर क्या है ?" अध्यापक मछली की ओर इशारा करता है। "मछली," एक हिम्मती लड़का जवाब देता है। "हां, मछली तो है, पर ज़िंदा मछली नहीं, है न ?" "नहीं, मछली ज़िंदा नहीं है।" "बहुत अच्छा। तो क्या मुर्दा मछली है ?" "नहीं।" "बहुत ठीक। तो कैसी मछली है ?" Ein Bild, यानी तस्वीर है। "बहुत बढ़िया।" सभी दोहराते हैं : यह तस्वीर है, और सोचते हैं कि अब आगे कुछ नहीं पूछा जायेगा। मगर नहीं, अभी यह भी तो कहना है कि यह तस्वीर है, जिसमें मछली दिखायी गयी है। ठीक उसी तरीक़े से अध्यापक बच्चों से कहलवाता है कि यह तस्वीर है, जिसमें मछली बनी हुई है। उसे लगता है कि बच्चे सोच-विचार के बाद ही जवाब दे रहे हैं। उसे एक क्षण के लिए भी नहीं सूझता कि अगर उसे बच्चों को यह कहने के लिए विवश करने का हुक्म मिला हुआ है कि यह तस्वीर है, जिसमें मछली बनी हुई है, या वह

खुद ही बच्चों से ऐसा कहलवाना चाहता है, तो कहीं आसान होता कि वह इस बुद्धिमत्तापूर्ण उक्ति को उनसे सीधे-सीधे रटवा डालता।

वे बच्चे तो भाग्यशाली हैं, जिन्हें अध्यापक इतने पर ही छोड़ देता है। मैंने खुद देखा है कि कैसे उसने उन्हें यह कहने को बाध्य किया था कि यह मछली नहीं, बल्कि एक चीज़ —Ein Ding— है और यह चीज़ मछली है। कृपया ध्यान दें कि यह अक्षरज्ञान के साथ जोड़ी हुई नयी Anschauungsunterricht है, यह बच्चों को सोचने के लिए बाध्य करने की कला है। जब Anschauungsunterricht खत्म हो जाती है, तो शब्द के विच्छेदन की बारी आती है। तख्तियों पर लिखे अक्षरों से बना हुआ "मछली" शब्द दिखाया जाता है। अच्छे और तेज़ विद्यार्थी सोचते हैं कि यहां वे अपनी प्रतिष्ठा बहाल कर लेंगे, और तुरंत अक्षरों की आकृति तथा नाम याद करने लगते हैं। लेकिन होता कुछ और ही है। "मछली के आगे क्या है ?" सहमे हुए बच्चे कोई जवाब नहीं देते। आखिरकार एक लड़का बड़ी हिम्मत करके कहता है : "सिर"। "बहुत ठीक। मगर सिर कहां है ?" "आगे।" "बहुत अच्छा। और सिर के बाद क्या है ?" "मछली।" "नहीं, फिर सोचिये।" उन्हें कहना चाहिए : शरीर, Leib। यह भी कह दिया जाता है, लेकिन बच्चे अब तब सारी आशा और सारा आत्मविश्वास खो चुके हैं और उनकी सारी बौद्धिक शक्ति यही अटकल लगाने पर केंद्रित है कि अध्यापक क्या सुनना चाहता है। सिर, शरीर और मछली का अंतिम भाग पूंछ। बहुत अच्छा ! सभी सहसा बोल उठते हैं : "मछली के सिर, शरीर और पूंछ होते हैं।" "यह अक्षरों से बनी हुई मछली है और यह तस्वीर में बनी हुई मछली है।" अक्षरों से बनी मछली सहसा तीन भागों में बंट जाती है : म, छ और ली। अध्यापक जादूगर जैसे आत्मसंतोष के साथ **म** को अलग करता है, दिखाता है और कहता है, "यह सिर है, **छ** शरीर है और **ली** पूंछ है", और फिर हर अक्षर का उच्चारण बार-बार दोहराता है। वह यह सलाह देकर बेचारे बच्चों की मदद नहीं करता कि म का उच्चारण मकान, मंदिर से, छ का उच्चारण छतरी, छलनी से और ल का उच्चारण लड़का, लड्डू, आदि से याद कर लें, बल्कि ज़िद करता है कि वे उनका सही उच्चारण बिना किसी शब्द से जोड़े हुए ही अथवा बिना सचित्र ककहरे की मदद से ही सीखें। वह उन्हें अक्षर-संयोजनों को, यदि वे

उन्हें नहीं जानते, तो याद कर लेने और जो परिचित है, उसे पढ़ने की इजाज़त नहीं देता। संक्षेप में, वह समझता है कि मछली-पुस्तक विधि के अलावा और विधियां जानना उसका कर्तव्य नहीं है और इसलिए वह और सब कुछ की अपेक्षा करता है।

अक्षरज्ञान पाने के लिए विधि है, और सोचने की शक्ति के आरंभिक विकास के लिए भी Anschauungsunterricht है। दोनों को संयोजित किया जाता है और बच्चों को इन सूई की आंखों से गुज़रना पड़ता है। हर उपाय किया जाता है कि स्कूल में इस मार्ग पर चलने से जो विकास होता है, उसके अलावा और कोई विकास न होने पाये। हर तरह की हरकत, शब्द, प्रश्न वर्जित हैं। Die Hände fein zusammen! Ruhe und Gehorsam! [हाथ ठीक से रखो! चुप रहो और सुनो!] ऐसे लोग भी हैं, जो "ब+आ=बा" विधि का मज़ाक़ उड़ाते हुए कहते हैं कि यह सोचने की क्षमता ख़त्म करनेवाली विधि है, कि इसके बजाय Lautier-methode in Verbindung mit Anschauungsunterricht [स्वनिक और दृष्टिमूलक विधियों को मिलाकर बनायी हुई विधि] इस्तेमाल की जानी चाहिए, यानी वे प्रार्थनाओं तथा भजनों के बजाय यह रटने की सलाह देते हैं कि मछली एक चीज़ है, कि म सिर है, छ शरीर तथा ली पूंछ।

अंग्रेज़ और फ़्रांसीसी शिक्षाशास्त्री ज़बानतोड़ होने के बावजूद Anschauungsunterricht शब्द का सगर्व उच्चारण करते हैं और कहते हैं कि वे उसे शिक्षण के बिल्कुल आरंभ में ही इस्तेमाल करने लग जाते हैं। मगर हमें यह Anschauungsunterricht बिल्कुल ही अस्पष्ट चीज़ लगती है। सचमुच, यह अध्यापन की दृष्टिमूलक विधि क्या है? अध्यापन क्या दृष्टिमूलक के अलावा किसी और प्रकार का भी हो सकता है? शिक्षण में पांचों इंद्रियां भाग लेती हैं और इसलिए वह दृष्टिमूलक पहले भी था और आगे भी रहेगा।

यूरोपीय स्कूल के संदर्भ में, जो मध्ययुगीन आकारवाद से मुक्ति पा रहा है, दृष्टिमूलक शिक्षण की बात समझ में आ सकती है, क्योंकि उसे पहले के शिक्षण के विरोध में रखा जाता है। इसी तरह उसके संदर्भ में वे ग़लतियां भी क्षम्य हैं, जो पुरानी विधि को मात्र बाह्य युक्तियों को बदलकर यथावत् बनाये रखने की शक्ल में प्रकट होती हैं। मगर मैं दोहराता हूं कि हमारे लिए तो Anschauungsunterricht

की नक़ल करने में कोई तुक नहीं है। सारे यूरोप में इस Anschauungsunterricht का गंभीर अध्ययन कर लेने पर भी मुझे अभी तक उसमें कोई ख़ूबी नहीं दिखायी दी है, सिवाय इसके कि अगर उभारदार मानचित्र उपलब्ध हैं, तो भूगोल उनकी मदद से पढ़ाया जाना चाहिए, रंगों को रंगों की मदद से, रेखागणित को आरेखों की मदद से, प्राणि-विज्ञान को जीव-जंतुओं की मदद से, आदि-आदि और यह एक ऐसी बात है, जिसे हममें से हर कोई जन्म से ही जानता है तथा जिसके लिए दिमाग़ खपाने की तनिक भी ज़रूरत नहीं है, क्योंकि प्रकृति इसमें अपना दिमाग़ बहुत पहले ही खपा चुकी है, जिसकी वजह से इसे हर कोई जानता है, बेशक अगर उसके दिमाग़ में उल्टी बातें घर न कर गयी हों। और इन तथा इनके ही ढंग की अन्य विधियों को, कुछ निश्चित मान्यताओं के अनुसार अध्यापक प्रशिक्षित करने की विधियों को अपनाने की सलाह हमें भी दी जा रही है – हमें, जो १९वीं सदी के उत्तरार्ध में अपने स्कूल आरंभ कर रहे हैं, इतिहास के बोझ तथा ग़लतियों से अभी तक मुक्त नहीं हैं, उससे बिल्कुल भिन्न चेतना रखते हैं, जिसपर यूरोपीय स्कूल का ढांचा टिका हुआ था। इन विधियों के झूठी होने की बात और वे विद्यार्थियों की आत्मा पर जो ज़ोर-ज़बर्दस्ती करती हैं, उसकी बात अगर जाने भी दें, तो भी सवाल तो रहता ही है: हम जिनके यहां बाराखड़ी विधि से पादरी छह महीने में लिखना-पढ़ना सिखा देता है, Lautier-anschauungsunterrichtmethode [स्वनिक तथा दृष्टिमूलक विधियों को मिलाकर बनायी हुई विधि] को भला क्यों अपनायें, अगर उससे लिखना-पढ़ना सीखने में साल भर से भी ज़्यादा लग जाता है?

हम ऊपर बता चुके हैं कि हमारे मत में हर विधि अच्छी है और हर विधि एकांगी है। हर विधि किसी न किसी भाषा तथा जाति के लिए अधिक उपयुक्त होती है।

तो रूसी भाषा लिखना-पढ़ना सिखाने के लिए सर्वोत्तम विधि कौन-सी है? यह न तो नयी स्वनिक विधि, न सबसे पुरानी वर्णमाला, वर्ण-संयोजनों तथा अर्थों को रटने की विधि, न स्वरों की विधि और न ही ज़ोलोतोव की विधि है। संक्षेप में, सर्वोत्तम विधि कोई नहीं है। किसी भी अध्यापक के लिए सर्वोत्तम विधि वह है, जिसे वह सबसे अच्छी तरह जानता है। अन्य जो विधियां वह जानता है या जिन्हें

उसने ईजाद किया है, उन्हें पूर्वोक्त विधि से आरंभ किये गये अध्यापन में मददगार ही होना चाहिए। हर जाति और हर भाषा के लिए कोई एक विधि ही अन्य विधियों की अपेक्षा अधिक उपयुक्त होती है। इस विधि को मालूम करने के लिए यही जानना काफ़ी होगा कि वह जाति सबसे ज़्यादा समय तक किस विधि के अनुसार सीखती रही है; यही विधि उस जाति या जनता की प्रकृति के सर्वाधिक अनुरूप होगी। हमारे लिए यह वर्णमाला, वर्ण-संयोजन तथा अर्थ याद करने की विधि है, जिसमें अन्य विधियों जैसे ही काफ़ी कमियां हैं और इसलिए इसमें हम नयी विधियों की अच्छी बातों का समावेश करके पहले से बेहतर बना सकते हैं।

हर व्यक्ति को, ताकि वह जल्दी से जल्दी लिखना-पढ़ना सीख सके, औरों से बिल्कुल भिन्न ढंग से पढ़ाया जाना चाहिए, और इसलिए हरेक के लिए अलग, विशिष्ट विधि होनी चाहिए। एक को जो दुर्लंघ्य बाधा लगती है, दूसरे को वह बिल्कुल भी नहीं रोक पाती। एक विद्यार्थी की स्मृति प्रबल होती है और उसके लिए व्यंजन की स्वर-हीनता को समझ पाने की बजाय बाराखड़ी को याद करना अधिक आसान होता है; दूसरा स्वनिक, सबसे तर्कसंगत विधि को बड़ी सहजता से समझ जाता है; तीसरे का सहजज्ञान या सहजबुद्धि प्रबल होती है और वह पूरे शब्दों को पढ़ते हुए शब्दों के संयोजन के नियमों को हृदयंगम कर लेता है।

सर्वोत्तम अध्यापक वह होगा, जिसके पास ऐसी हर चीज़ का स्पष्टीकरण तैयार होगा, जिसने विद्यार्थी को रोका था। ये स्पष्टीकरण उसे अधिकतम विधियों का ज्ञान, नयी विधियां विकसित करने की क्षमता और, जो सबसे मुख्य बात है, किसी एक विधि में अंध आस्था नहीं, बल्कि यह दृढ़ विश्वास प्रदान करते हैं कि सभी विधियां एकांगी हैं और सर्वोत्तम विधि वह होगी, जो विद्यार्थी के सामने आनेवाली सभी संभव कठिनाइयों का समाधान करती है, यानी जो विधि नहीं, बल्कि कला और प्रतिभा है।

लिखना-पढ़ना सिखानेवाले हर अध्यापक को किसी एक विधि का, जनता के बीच विकसित हुई विधि का पक्का ज्ञान होना चाहिए और उसे अपने अनुभव की कसौटी पर परखना चाहिए। उसे अधिक से अधिक विधियां जानने के लिए निरंतर प्रयत्नशील रहना चाहिए

और उन्हें आनुषंगिक साधन ही समझना चाहिए। उसे चाहिए कि विद्यार्थी की समझने की कठिनाइयों को उसकी कमी न माने, बल्कि अपने अध्यापन की कमी माने और अपने में नयी शिक्षण युक्तियां ईजाद करने की योग्यता विकसित करे। हर अध्यापक को मालूम होना चाहिए कि हर नवाविष्कृत विधि मात्र एक सीढ़ी ही है, जिसपर केवल इसीलिए रुका जाना चाहिए कि आगे जाना है। उसे जानना चाहिए कि अगर वह स्वयं ऐसा नहीं करेगा, तो कोई दूसरा उस विधि को सीखकर उसके आधार पर आगे बढ़ जायेगा, और यह भी कि चूंकि अध्यापन एक कला है, इसलिए पूर्णता प्राप्त कर पाना असंभव है, जबकि विकास और सुधार की कोई सीमा नहीं है।

लेव तोलस्तोय यास्नाया पोल्याना स्कूल की स्थापना के काल में

८. यास्नाया पोल्याना स्कूल की नवंबर और दिसंबर महीनों की रिपोर्ट
(१८६२)

स्कूल का सामान्य विवरण। यांत्रिक और क्रमिक पठन। व्याकरण और लेखन

हमारे यहां बिल्कुल शुरू से पढ़ना-सीखनेवाले नहीं हैं। सबसे निचली कक्षा के विद्यार्थी भी पढ़ना, लिखना, जोड़, घटाव और गुणा के सवाल करना और बाइबिलीय इतिहास सुनाना जानते हैं। इसलिए समय-सारिणी के अनुसार विषयों का विभाजन इस प्रकार है:

१) यंत्रवत् तथा क्रमिक पठन, २) लेखन, ३) सुलेख, ४) व्याकरण, ५) बाइबिलीय इतिहास, ६) रूस का इतिहास, ७) चित्रकला, ८) आरेखण, ९) गायन, १०) गणित, ११) प्राकृतिक विज्ञानों की वार्ताएं और १२) ईश्वरीय क़ानून।

अध्यापन के बारे में कुछ कहने से पहले मैं संक्षेप में यह बताना आवश्यक समझता हूं कि यास्नाया पोल्याना स्कूल क्या है और इस समय वह अपनी प्रगति की किस अवस्था में है।

हर जीवित प्राणी की भांति स्कूल भी समय गुज़रने के साथ न केवल बदलता है, बल्कि अस्थायी संकटों, गड़बड़ियों, बीमारियों तथा उदासी का शिकार बनता है। इन गरमियों में यास्नाया पोल्याना स्कूल एक ऐसे ही कष्टदायी संकट से गुज़रा। इसके कारण कई थे। सबसे पहले तो यह जैसा कि गरमियों में हमेशा होता है, सभी अच्छे विद्यार्थी निकल गये और अब वे सिर्फ़ कभी-कभार खेतों में काम करते हुए या चरागाहों में ही मिलते हैं। दूसरे, स्कूल में नये अध्यापक आये और इस कारण स्कूल पर नये प्रभाव दिखायी देने लगे। तीसरे, गरमी के सारे मौसम में स्कूल देखने आनेवालों का तांता लगा रहा। ये अन्य जगहों के अध्यापक थे, जो अपनी गरमियों की छुट्टियों का इस्तेमाल कर रहे थे। किसी भी स्कूल के लिए ऐसे मेहमानों से अधिक हानिकर

और कुछ नहीं होता, क्योंकि अध्यापक अपने को उनकी नज़र में ऊंचा दिखाने की कोशिश करने लगता है।

अध्यापक चार हैं। दो पुराने हैं, यानी दो साल से स्कूल में पढ़ा रहे हैं और विद्यार्थियों, अपने काम, स्वच्छंदता और स्कूल के बाहर से अव्यवस्थित लगनेवाले स्वरूप के आदी बन गये हैं। दो अध्यापक नये हैं और दोनों ने अभी हाल ही में स्कूल ख़त्म किया था। दोनों बाहरी सजधज, समय-सारिणी, घंटी, कार्यक्रम, आदि को महत्व देते हैं और स्कूल के जीवन में अभी वैसे नहीं घुलमिल पाये हैं, जैसे कि पहले दो अध्यापक। जो चीज़ पहले दो अध्यापकों को तर्कसंगत तथा आवश्यक लगती है, जो चीज़ उन्हें लगती है कि और किसी प्रकार की हो ही नहीं सकती, ठीक वैसे ही जैसे कि आंखों के सामने बड़े हुए अपने प्यारे – चाहे असुंदर ही सही – बच्चे के नैन-नक्श, वही चीज़ नये अध्यापकों को कभी-कभी ऐसी कमी लगती है, जिसे सुधारा जा सकता है।

स्कूल एक दोमंज़िली पक्की इमारत में स्थित है। दो कमरों में कक्षाएं लगती हैं, एक में कार्यालय है और दो में अध्यापक रहते हैं। बरामदे में छज्जे के नीचे घंटी टंगी है, जिसकी लटकन पर रस्सी बंधी है; निचली मंज़िल पर अग्रकक्ष में व्यायाम के उपकरण रखे हैं और ऊपरी मंज़िल पर बढ़ई की मेज़। सीढ़ी और अग्रकक्ष बर्फ़ या कीचड़ से गंदे रहते हैं। यहीं समय-सारिणी भी टंगी होती है।

पढ़ाई की व्यवस्था इस प्रकार है: अध्यापक, जो स्कूल में ही रहता है और सब कुछ देखने में ठीक-ठाक हो, इसका शौक़ीन है और साथ ही स्कूल का प्रशासक भी है, वह लगभग हमेशा स्कूल में ही रात बितानेवाले किसी एक लड़के को सुबह आठ बजे घंटी बजाने भेजता है।

अभी अंधेरा ही होता है कि गांव में लोग उठ जाते हैं। स्कूल से गांव के घरों की खिड़कियों में उजाला दिखायी देने लगता है। घंटी बजने के कोई आधे घंटे बाद कोहरे, बारिश या शारदी सूरज की टेढ़ी किरणों के प्रकाश में टीलों पर दो-दो, तीन-तीन या अकेले बच्चों की काली आकृतियां प्रकट होती हैं (गांव और स्कूल के बीच में एक बड़ी खाई पड़ती है)। झुंड में रहने या चलने की भावना विद्यार्थियों में बहुत पहले ही ख़त्म

हो चुकी है। अब किसी को इंतज़ार करने और चिल्लाने की ज़रूरत नहीं पड़ती कि चलो, स्कूल का वक़्त हो गया है! अब विद्यार्थी ख़ुद बहुत कुछ जानता है और इसलिए उसे झुंड की ज़रूरत नहीं होती। ज्यों ही वक़्त होता है, वह स्कूल के लिए चल पड़ता है। मेरी धारणा बनती जा रही है कि सबका व्यक्तित्व उत्तरोत्तर स्वतंत्र और चरित्र उत्तरोत्तर प्रखर बनता जा रहा है। मैंने लगभग कभी नहीं देखा कि विद्यार्थी रास्ते में खेलने लग जाते हों, सिवाय उनके कि जो बहुत छोटे हैं या दूसरे स्कूलों से आकर भरती हुए हैं। अपने साथ कोई कुछ नहीं ले जाता, न तो किताबें ही और न कापियां ही। गृहकार्य कोई नहीं दिया जाता।

इतना ही नहीं कि हाथों में कुछ नहीं ले जाना होता, विद्यार्थी को दिमाग़ में भी कुछ नहीं ढोना पड़ता। कोई भी पाठ या कल किया हुआ कोई भी अभ्यास याद रखना उसके लिए आवश्यक नहीं है। उसे अगले पाठ की चिंता नहीं सताती। वह केवल अपने को, अपनी ग्राही प्रकृति और इस दृढ़ विश्वास को ही लेकर आता है कि स्कूल में आज भी वैसा ही मज़ा आयेगा, जैसा कल आया था। वह कक्षा के बारे में तब तक नहीं सोचता, जब तक वह शुरू नहीं हो जाती। कभी किसी को देर से आने के लिए सज़ा नहीं दी जाती और न कोई देर से आता ही है, सिवाय उन बड़े विद्यार्थियों के, जिन्हें उनके मां-बाप कभी किसी काम से घर पर रोक लेते हैं। और वे भी दौड़ते और हांफते हुए स्कूल पहुंचते हैं। जब तक अध्यापक नहीं आता, वे इकट्ठे होते हैं और इस समय कोई बरामदे के पास सीढ़ी से कूद रहा होता है, तो कोई चिकने रास्ते की बर्फ़ पर फिसलने का खेल खेलने लगता है, तो कोई अंदर कमरे में जा बैठता है। जब ज़्यादा ठंड होती है, तो अध्यापक के आने तक कोई किताब लेकर बैठ जाता है, तो कोई कुछ लिखने लगता है और कोई किसी अन्य काम में व्यस्त हो जाता है। लड़कियां लड़कों से नहीं घुलती-मिलतीं। लड़के भी जब लड़कियों को छेड़ना चाहते हैं, तो किसी एक को नहीं, बल्कि सभी लड़कियों को निशाना बनाते हैं। सिर्फ़ एक ही लड़की, जो किसी ज़मींदार के नौकर की बेटी है और बड़ी चतुर तथा योग्य है, लड़कियों के गिरोह से अलग रहने लगी है। उसकी उम्र कोई दस साल है। लड़के उससे बराबरी का, जैसे कि वह लड़का हो, व्यवहार करते हैं, हालांकि

इसमें हल्का सा शालीनता, अनुकंपा और संयम का पुट भी रहता है।

अब माना कि समय-सारिणी के अनुसार पहली, सबसे निचली कक्षा में यंत्रवत् पठन, दूसरी में क्रमिक पठन और तीसरी में गणित का पाठ है। अध्यापक कमरे में प्रवेश करता है और लड़के आपस में गुत्थमगुत्था हुए फ़र्श पर गिरे पड़े हैं और चिल्ला रहे हैं: "ढेर अभी कम है!" या "अरे, कुचल डाला!" या "बहुत हो गया! अब छोड़!" वगैरह। तभी अध्यापक को देखकर सबसे नीचेवाला चिल्लाता है: "प्योत्र मिखाइलोविच, इनसे कहो कि अब छोड़ दें!" मगर दूसरे फिर भी अपना ऊधम जारी रखते हुए चिल्लाते हैं: "नमस्ते, प्योत्र मिखाइलोविच!" अध्यापक आलमारी से किताबें लेता है और जो उसके साथ आलमारी तक आये थे, उन्हें देता है। जो फ़र्श पर गुत्थमगुत्था हैं, उनमें से ऊपरवाले भी किताबें मांगते हैं। धीरे-धीरे ढेर कम होता जाता है। ज्यों ही ज्यादातर को किताबें मिल जाती हैं, बाक़ी भी आलमारी की ओर लपकते हैं और चिल्लाते हैं: "मुझे? और मुझे? और मुझे भी?" अगर फिर भी दो-एक, जिनका कुश्ती का भूत अभी नहीं उतरा है, फ़र्श पर लोटते रहते हैं, तो जिन्हें किताबें मिल गयी हैं और बैठे हुए हैं, वे उनपर चिल्लाते हैं: "क्या तुम लोगों ने तमाशा मचाया हुआ है? कुछ नहीं सुनायी दे रहा। बहुत हो गया!" आखिरकार जोशीले कहना मान जाते हैं और हांफते हुए किताबें ले लेते हैं और सिर्फ़ शुरू में ही उत्तेजना के मारे पैर हिलाते रहते हैं। कमरे से लड़ाई का वातावरण ग़ायब हो जाता है और पढ़ाई का वातावरण छा जाता है। लड़का जैसे जोश से अब तक लड़ रहा था, वैसे ही जोश से अब कोल्त्सोव की कविताएं पढ़ने लगता है। उसकी आंखों में एक अजब चमक आ जाती है और किताब के अलावा उसे और कुछ नहीं दिखायी देता। पढ़ाई से अब उसका ध्यान हटाने के लिए उतनी ही कोशिश करनी पड़ेगी, जितनी कि पहले कुश्ती से हटाने के लिए करनी पड़ी थी।

जो जहां चाहता है, बैठ जाता है, कोई बेंच पर, कोई मेज़ पर, कोई खिड़की के दासे पर, कोई फ़र्श पर और कोई कुर्सी पर। लड़कियां सदा साथ-साथ बैठती हैं। दोस्त, एक ही गांववाले, विशेषतः जो छोटे हैं (उनके बीच ज्यादा गहरी दोस्ती होती है), वे भी सदा पास-पास बैठते हैं। ज्यों ही उनमें से कोई तय करता है कि उस कोने में

जाकर बैठेगा, त्यों ही उसके दूसरे साथी भी एक दूसरे को धकियाते और झुककर बेंचों के नीचे से निकलते हुए वहीं इकट्ठा हो जाते हैं और इधर-उधर नज़र दौड़ाते हुए चेहरे पर सुख और संतोष का ऐसा भाव प्रकट करते हैं कि जैसे ऐसी जगहों पर बैठकर वे शायद बाक़ी सारे जीवन में भी ऐसे ही सुख अनुभव करते रहेंगे। ऊपर हमने जिस लड़की का ज़िक्र किया, उसके और दूसरे अधिक स्वतंत्र क़िस्म के लड़कों के बीच कमरे में न जाने कैसे आयी एक बड़ी आरामकुर्सी पर बैठने की होड़ सी लगी रहती है। ज्यों ही किसी के मन में उस कुर्सी पर बैठने का ख़याल आता है, दूसरा उसकी नज़र से ही उसका इरादा भांप जाता है, और फिर वे आपस में टकराते हैं तथा सिकुड़कर इकट्ठे कुर्सी में धंस जाते हैं। कुछ समय बाद उनमें से कोई एक दूसरे को धकियाता है, शरीर को तानता है, कुर्सी में पसरकर बैठ जाता है। इस बीच औरों जैसे वह भी किताब पढ़ने में डूबा रहता है। पाठों के दौरान मैंने कभी किसी को खुसरपुसर करते, दूसरे को चिकोटी काटते, खिखियाते या अध्यापक से किसी दूसरे की शिकायत करते नहीं देखा है।

दो निचली कक्षाएं एक कमरे में बैठती हैं और ऊंची कक्षा दूसरे कमरे में। अध्यापक पहली कक्षा को पढ़ाने आता है, तो सब ब्लैकबोर्ड के पास उसे घेर लेते हैं, या बेंचों पर पसर जाते हैं, या अध्यापक अथवा जिसे पढ़कर सुनाने को कहा गया है, उसके गिर्द मेज़ पर बैठ जाते हैं। अगर लिखने को दिया जाता है, तो सब अपेक्षाकृत शांति से बैठ जाते हैं, लेकिन बीच में बार-बार उठते भी रहते हैं, ताकि दूसरे की कापी में झांक सकें या अपना लिखा अध्यापक को दिखा सकें। समय-सारिणी के अनुसार दिन के खाने के समय तक चार पाठ हो जाने चाहिए, पर कभी-कभी तीन या दो ही हो पाते हैं और कभी-कभी तो बिल्कुल ही दूसरे विषयों की पढ़ाई हो जाती है। अध्यापक शुरू करता है अंकगणित और पढ़ाने लग जाता है रेखागणित, शुरू करता है बाइबिलीय इतिहास से और खत्म करता है व्याकरण के साथ। कभी-कभी अध्यापक और विद्यार्थी, सभी ऐसे मग्न हो जाते हैं कि पाठ एक घंटे के बजाय तीन घंटे तक चलता रहता है। ऐसा भी होता है कि विद्यार्थी खुद ही चिल्लाते हैं: "नहीं, अभी और! अभी और!" जो कहते हैं कि बस हो गया, उन्हें हिक़ारतभरे शब्दों में जवाब दिया जाता है: "ऊब गये हो, तो जाओ छोटे बच्चों के साथ खेलो!"

ईश्वरीय क़ानून के पाठ में, जो सप्ताह में दो बार नियमित रूप से होनेवाला अकेला पाठ है, क्योंकि उसका अध्यापक दो वर्स्ट दूर से आता है, और चित्रकला के पाठ में सभी विद्यार्थी मौजूद होते हैं। सबसे ज़्यादा हलचल, ऊधम, शोर-शराबा और अव्यवस्था इन पाठों से पहले देखने में आते हैं: कोई दूसरे कमरे से बेंचें खींचकर ला रहा होता है, कोई झगड़ रहा होता है, कोई रोटी लाने घर भागता है, कोई अंगीठी में रोटी को गरम करता है, कोई किसी से कुछ छीन रहा होता है तो कोई व्यायाम में जुटा होता है, और फिर सुबह की धमाचौकड़ी की तरह ही कहीं बेहतर है कि उन्हें ज़बर्दस्ती अपनी-अपनी जगह बिठाने के बजाय खुद ही शांत हो लेने और अपनी सहज अवस्था में आ लेने दिया जाये। स्कूल के वर्तमान वातावरण को देखते हुए उन्हें शारीरिक रूप से रोकना असंभव है। अध्यापक जितना ही ज़ोर से चिल्लायेगा – और ऐसा हुआ भी है – वे भी उतना ही ज़्यादा ज़ोर से चिल्लायेंगे; अध्यापक का चिल्लाना उन्हें उल्टे और अधिक उत्तेजित करता है। अगर उन्हें रोक पाओगे या उनका ध्यान किसी और चीज़ की ओर मोड़ दोगे, तो इस छोटे से समुद्र का उफान धीरे-धीरे कम होता जायेगा और आखिर में वह पूरी तरह शांत हो जायेगा। ज़्यादातर मामलों में तो कुछ भी कहने की ज़रूरत ही नहीं पड़ती। चित्रकारी की कक्षा सबकी प्रिय कक्षा है। वह दोपहर में लगती है, जब भूख लग आयी होती है, बैठे हुए तीन घंटे हो चुके होते हैं और ऊपर से, अभी बेंचों और मेज़ों को एक कमरे से दूसरे कमरे में ले जाना होता है। स्वाभाविकतः भयंकर धमाचौकड़ी मच जाती है। लेकिन इसके बावजूद ज्यों ही अध्यापक तैयार होता है, विद्यार्थी भी तैयार हो जाते हैं और जिस विद्यार्थी की वजह से विलंब होता है, उसे सबसे खरी-खोटी सुननी पड़ती है।

मैं यहां एक बात स्पष्ट कर दूं। यास्नाया पोल्याना स्कूल का विवरण देकर मैं उसे इस आदर्श के रूप में उपस्थित नहीं करना चाहता कि क्या होना चाहिए और स्कूल के लिए अच्छा क्या है, बल्कि मैं सिर्फ़ उसका यथार्थ वर्णन कर रहा हूं। मैं सोचता हूं कि ऐसा वर्णन उपयोगी हो सकता है। अगर मैं अगले अंकों में स्कूल के अब तक के विकास का स्पष्ट चित्र प्रस्तुत कर सका, तो पाठक को समझने में कठिनाई नहीं होगी कि स्कूल का स्वरूप ठीक वैसा ही क्यों बना,

क्यों मैं ऐसी व्यवस्था को अच्छी मानता हूं और क्यों चाहने पर भी मेरे लिए उसे बदलना बिल्कुल असंभव होगा। स्कूल का विकास शुरू से स्वतंत्र रूप से और अध्यापकों तथा विद्यार्थियों ने उसमें जिन तत्त्वों का समावेश किया है, उनके आधार पर हुआ है। अध्यापक के प्रभाव के सारे महत्त्व के बावजूद विद्यार्थी को स्कूल न जाने, और यदि जाता है, तो अध्यापक जो पढ़ाता है, उसे न सुनने का सदा अधिकार रहा है। दूसरी ओर, अध्यापक को विद्यार्थी को अपने पास न आने देने का अधिकार रहा है और अधिकांश विद्यार्थियों को स्कूली विद्यार्थियों से बने हुए समाज को यथाशक्ति प्रभावित करने का अवसर प्राप्त रहा है। विद्यार्थी ज्यों-ज्यों आगे बढ़ते हैं, त्यों-त्यों अध्यापन का शाखा-विस्तार होता है और व्यवस्था ज़रूरी बनती जाती है। फलस्वरूप यदि स्कूल का सामान्य और सहज ढंग से विकास हो रहा है, तो विद्यार्थी जितना ही ज़्यादा सीखेंगे-पढ़ेंगे, उतना ही ज़्यादा वे अनुशासन में बंध सकेंगे, व्यवस्था तथा अनुशासन की आवश्यकता को महसूस करेंगे और इस मामले में उनपर अध्यापक का प्रभाव बढ़ेगा। यास्नाया पोल्याना स्कूल में इस नियम को सदा – स्कूल की स्थापना के दिन से ही – ध्यान में रखा गया है। आरंभ में स्कूल के समय का पाठों, विषयों, मध्यांतरों, आदि में विभाजन कर पाना कठिन था: सब कुछ स्वयं ही एक में मिल जाता था और बंटवारे की सभी कोशिशें नाकाम रहती थीं। अब पहली कक्षा में ऐसे विद्यार्थी मिल जायेंगे, जो खुद ही समय-सारिणी का पालन किये जाने की मांग करते हैं, पाठ के बीच से हटाये जाने पर नाराज़ होते हैं और जो अपने पास आकर बैठे नन्हे बच्चों को खुद ही कक्षा से बाहर भगाते रहते हैं।

मेरी समझ में बाहरी अव्यवस्था उपयोगी और आवश्यक है, चाहे वह अध्यापक को कितनी भी अजीब और असुविधाजनक क्यों न लगे। उसके लाभों की मुझे प्रायः चर्चा करनी पड़ेगी। जहां तक कथित असुविधाओं का सवाल है, तो उनके बारे में मैं यह कहूंगा। पहली बात तो यह है कि इस अव्यवस्था, अथवा मुक्त व्यवस्था से हमें डर केवल इसलिए लगता है कि हम बिल्कुल भिन्न व्यवस्था के, जिसमें हमने खुद शिक्षा पायी है, आदी हैं। दूसरे, इस तरह के बहुत से अन्य मामलों की तरह इसमें भी बलप्रयोग सिर्फ़ जल्दबाज़ी के कारण, मनुष्य के स्वभाव का पर्याप्त सम्मान न किये जाने के कारण किया

जाता है। हमें लगता है कि अव्यवस्था बढ़ती ही जा रही है और इस बढ़ने की कोई सीमा नहीं है, कि उसे रोकने का बलप्रयोग के अलावा और कोई उपाय नहीं है, हालांकि अगर थोड़ा सा इंतज़ार किया जाता, तो अव्यवस्था (अथवा हलचल) खुद ही शांत होकर ऐसी व्यवस्था में बदल जाती, जो हम जिस व्यवस्था की सोचते हैं, उससे कहीं अधिक उत्कृष्ट और पुख्ता है। स्कूली विद्यार्थी भी आदमी हैं, चाहे छोटे ही सही, पर आदमी हैं; उनकी भी हमारी जैसी ही ज़रूरतें हैं और हमारे जैसे ही सोचने के ढंग हैं; वे सब पढ़ना चाहते हैं, इसके लिए ही वे स्कूल आते हैं और इसलिए उनके लिए इस निष्कर्ष पर पहुंचना काफ़ी आसान होगा कि पढ़ने के लिए किन्हीं निश्चित शर्तों को मानना, उनके अनुसार आचरण करना आवश्यक है। इतना ही नहीं कि वे आदमी हैं, वे एक ही विचार रूपी सूत्र में बंधे हुए लोगों का समाज भी हैं। "जहां तीन 'मैं' के नाम पर जमा होंगे, उनमें से एक मैं भी होऊंगा!" वे सिर्फ़ प्राकृतिक, अपने स्वभाव के अनुरूप नियमों को मानते हैं। जब उन्हें आपके असामयिक हस्तक्षेप के सामने झुकना पड़ता है, तो वे नाराज़ होते और भुनभुनाते हैं, क्योंकि आपकी घंटियों, समय-सारिणियों और नियमों की वैधता में उन्हें विश्वास नहीं है। कितनी ही बार मैंने देखा है कि बच्चे लड़ रहे हैं और अध्यापक लपककर उन्हें अलग कर देता है। अलग हुए दुश्मन एक दूसरे को टेढ़ी निगाहों से देखते रहते हैं और अध्यापक की उपस्थिति में भी एक दूसरे को आखिरी बार, और पहले से भी ज़्यादा ज़ोर से धकियाने से बाज़ नहीं आते। हर रोज़ न जाने कितने बार मैं इसका साक्षी बनता हूं कि दांत किटकिटाते हुए कोई किर्यूशा किसी तरास पर टूट पड़ता है, उसको कनपटियों पर पकड़कर ज़मीन पर गिरा देता है और लगता है कि उसका कचूमर निकालकर ही दम लेगा, चाहे इसमें अपनी जान भी क्यों न चली जाये। मगर एक मिनट भी नहीं गुज़र पाता कि किर्यूशा के नीचे पड़ा तरास हंसने लगता है और मुक्के हल्के पड़ते जाते हैं। पांच-एक मिनट बाद ही हम देखते हैं कि दोनों आपस में गलबहियां डाले बैठे हैं। हाल में दो पाठों के बीच की छुट्टी में एक कोने में दो लड़के गुत्थमगुत्था हो रखे थे। उनमें से एक गणित में बहुत तेज़, कोई नौ-एक साल की उम्र का और दूसरी कक्षा का विद्यार्थी था। दूसरा छोटे बालोंवाला, किसी ज़मींदार के

नौकर का बेटा, बुद्धिमान, मगर प्रतिशोधी स्वभाववाला, छोटा सा, काली आंखोंवाला लड़का था, जिसे बिल्ला कहकर पुकारा जाता था। बिल्ले ने गणितज्ञ की कनपटी के लंबे बालों को पकड़कर उसके सिर को दीवार से भींचा हुआ था, जबकि गणितज्ञ बिल्ले के छोटे बालों को पकड़ पाने की व्यर्थ कोशिश कर रहा था। बिल्ले की काली आंखों में विजय की चमक थी, जबकि गणितज्ञ बड़ी मुश्किल से आंसू रोके हुए था और कह रहा था: "तो क्या? तो क्या?" मगर साफ़ था कि उसकी यह बहादुरी दिखावटी ही थी। ऐसा काफ़ी देर तक चलता रहा। मैं तय नहीं कर पा रहा था कि क्या करना चाहिए। "लड़ रहे हैं, लड़ रहे हैं!" बच्चे चिल्ला रहे थे और कोने में जमा हो गये थे। जो छोटे थे, वे हंस रहे थे और जो बड़े थे, वे लड़नेवालों को गंभीरता से देख रहे थे। इन निगाहों तथा मौन की बिल्ला उपेक्षा नहीं कर सका। वह समझ गया कि वह ठीक नहीं कर रहा है, और अपराधभाव से मुस्कराने तथा गणितज्ञ की कनपटी को धीरे-धीरे छोड़ने लग गया। गणितज्ञ ने पलटा खाया और बिल्ले को ऐसा धक्का दिया कि उसका सिर दीवार से जा टकराया। इसके बाद गणितज्ञ को जैसे कि संतोष हो गया और वह वहां से हट गया। बिल्ला रो पड़ा, पर फिर अपने दुश्मन का पीछा करके उसने पूरी ताक़त से उसे घूंसा मारा, पर फ़र का कोट पहने होने से गणितज्ञ को कुछ महसूस न हुआ। अब गणितज्ञ बदला लेनेवाला था कि उसी क्षण कुछ नाराज़गी-भरी आवाज़ें सुनायी दीं: "शर्म नहीं आती, छोटे से लड़ते हुए?" "अरे बिल्ले, भागो!" सारा क़िस्सा यों खत्म हो गया कि जैसे कुछ हुआ ही न हो, सिवाय, जैसा कि मैं सोचता हूं, दोनों को इस बात के धुंधले से अहसास के कि लड़ना ठीक नहीं है, क्योंकि दोनों को पीड़ा पहुंची थी। यहां मैंने जैसे कि एक न्याय भावना के दर्शन किये, जो भीड़ का निर्देशन कर रही थी। कितनी ही बार ऐसे मसले यों हल होते हैं कि समझ में नहीं आता कि किस क़ानून के आधार पर। लेकिन फिर भी वे हल होते हैं और दोनों पक्षों के लिए संतोषजनक ढंग से। ऐसे मामलों में प्रयुक्त सभी शैक्षिक तरीक़े इसकी तुलना में कितने मनमाने और अनुचित प्रतीत होते हैं। "दोनों क़सूरवार हो! मांगो दोनों माफ़ी!" शिक्षक कहता है, और वह ठीक नहीं है, क्योंकि क़सूरवार एक है और माफ़ी मांगने पर भी और अपने पूरी तरह न

निकले गुस्से को पीने को मजबूर होने पर भी विजय उसकी हुई है, जबकि दूसरे को, जो बेकसूर है, दोहरी सज़ा मिली है। या: "तुम्हारा कसूर यह है कि तुमने अमुक काम किया, और इसलिए तुम्हें सज़ा मिलेगी," शिक्षक कहेगा और सज़ा पानेवाला अपने दुश्मन से इसलिए और भी ज़्यादा नफ़रत करने लगेगा कि निरंकुश सत्ता, क़ानून, जिसे वह नहीं मानता, उसका – दुश्मन का – तरफ़दार है। या: "ईश्वर कहता है कि अपने शत्रु को क्षमा कर दो, उससे बेहतर बनो!" शिक्षक कहेगा। आप उससे कहते हैं: बेहतर बनो, पर वह सिर्फ़ अधिक **शक्ति-शाली** बनना चाहता है, क्योंकि उसके लिए बेहतर की और कोई परि-भाषा न तो है, न हो ही सकती है। या: "तुम दोनों का दोष है। इसलिए, बच्चो, एक दूसरे को क्षमा कर दो और चूम लो।" यह तो सबसे ग़लत है – इस चुंबन के झूठे, दिखावटी स्वरूप के कारण भी और इसलिए भी कि ज़बर्दस्ती दबाया हुआ ग़ुस्सा जल्दी ही फिर भड़क उठेगा। इसलिए उन्हें अकेले ही छोड़ दें, बेशक अगर आप बाप या मां नहीं हैं, जिन्हें अपना बच्चा हमेशा बेचारा लगता है और इसलिए जो अपने बेटे को पीटनेवाले को सज़ा देने में कोई अनुचित बात नहीं देखते। उन्हें छोड़ दें और देखें कि कैसे जीवन में हमारे जाने बिना भी बननेवाले संबंधों की भांति ही सरल तथा सहज ढंग से और साथ ही जटिल तथा बहुविध ढंग से सारा झगड़ा साफ़ हो जाता है और निबट जाता है। लेकिन जिन अध्यापकों ने ऐसी अव्यवस्था अथवा मुक्त व्यव-स्था नहीं देखी है, वे शायद सोचेंगे कि बिना उनके हस्तक्षेप के इस अव्यवस्था के सिर-फुटौवल जैसे शारीरिक तौर पर हानिकारक परिणाम निकल सकते हैं, यानी किसी का हाथ-पैर टूट सकता है। यास्नाया पोल्याना स्कूल में पिछले वसंत में ऐसे दो क़िस्से हुए थे जब किसी को चोट लगी थी। एक लड़के को किसी ने बरामदे से धकेल दिया था, जिससे उसका पैर काफ़ी गहरा कट गया था (घाव दो हफ़्ते में भरा), और दूसरे के गाल पर किसी ने जलता हुआ रबड़ रख दिया था, जिससे उसे दो हफ़्ते तक पट्टी बांधे रहनी पड़ी। हफ़्ते में एक-आध बार तो ऐसा होता ही है कि कोई दर्द के मारे नहीं, बल्कि अफ़सोस या शर्म के मारे रो पड़ता है। मुझे याद नहीं कि सारी गरमियों में और ३०-४० विद्यार्थियों के होने पर भी, जिन्हें पूरी तरह उनकी मरज़ी पर छोड़ा गया था, मारपीट, चोट, नील या गुमटा पड़ने

की उपरोक्त दो घटनाओं के अलावा और कोई घटना हुई हो।

मैं मानता हूं कि चारित्रिक शिक्षा के काम में, जो केवल परिवार के ही अधिकार क्षेत्र में आता है, स्कूल को दखल नहीं देना चाहिए, कि स्कूल को दंड देने या पुरस्कृत करने का न कोई अधिकार है और न होना ही चाहिए, कि स्कूल सबसे अच्छी तरह तब चलता है, जब विद्यार्थियों को इच्छानुसार सीखने-पढ़ने और मिलने-जुलने की पूरी आज़ादी होती है। ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है, लेकिन इसके बावजूद हममें पुरानी आदतें इतने गहरे जड़ें जमाये हुई हैं कि यास्नाया पोल्याना स्कूल में हम प्रायः इस नियम को भूल जाते हैं। पिछली छमाही में, ठीक-ठीक कहें तो नवंबर के महीने में, सज़ा देने के दो मामले हुए।

चित्रकारी की कक्षा में अध्यापक ने, जो स्कूल में हाल ही में आया था, देखा कि एक लड़का उसकी बातें सुनने के बजाय चिल्ला रहा है और बिला वजह अपने पड़ोसियों पर घूंसे बरसाये जा रहा है। शब्दों से उसे शांत करने में असमर्थ रहकर अध्यापक ने उसे सबके सामने खड़ा दिया और उससे स्लेट वापस ले ली। यह सज़ा थी। लड़का सारे पाठ के दौरान आंसू बहाता रहा। यह वही लड़का था, जिसे मैंने यास्नाया पोल्याना स्कूल के खुलते समय भरती करने से इंकार कर दिया था, क्योंकि मुझे वह बौद्धिक रूप से अविकसित लगा था। वह भोंदू और दब्बू है। साथी उसे कभी अपने साथ नहीं खेलने देते, उसपर हंसते हैं, उसकी खिल्ली उड़ाते हैं और ऊपर से हैरानी भी दिखाते हैं: "अजीब है यह पेत्का भी! मारो, तो भी असर नहीं पड़ता! और तो और, छोटे बच्चे भी उसे मारने से नहीं चूकते।" एक लड़के ने मुझे उसके बारे में कहा था: "उसमें तो जान ही नहीं है!" अगर ऐसे लड़के को भी इस हालत में पहुंचाया जा सकता है कि वह आपा खो बैठे, जिसके लिए कि अध्यापक ने उसे सज़ा दी थी, तो वह सज़ा निश्चय ही असली क़सूरवार को नहीं मिली थी। एक और मिसाल दूं। गरमियों में, जब स्कूल की इमारत का पुनर्निर्माण चल रहा था, प्रकृतिविज्ञान के कक्ष से एक मर्तबान ग़ायब हो गया, जिसे प्रयोगों में इस्तेमाल किया जाता था। कई बार पेंसिलें और किताबें भी ग़ायब हुईं। और यह सब तब हुआ, जब इमारत में न बढ़ई काम कर रहे थे, न रंग या पलस्तर करनेवाले। हमने लड़कों से पूछा। सबसे अच्छे विद्यार्थी, स्कूल में सबसे पहले आये हुए विद्यार्थी,

हमारे पुराने साथी शर्म के मारे यों पानी-पानी हो गये और झेंप गये कि कोई वकील होता, तो वह इसे उनके क़सूरवार होने का पक्का सबूत मानता। मगर मैं तो उन्हें जानता था और अपने ही जैसे उनके भी बेक़सूर होने की ज़मानत कर सकता था। मैं समझ गया कि संदेह का विचार मात्र भी उन्हें बहुत अपमानजनक लगा है। एक लड़का, जिसे मैं फ़्योदोर के नाम से पुकारूंगा और जो बड़ा प्रतिभाशाली और संवेदनशील है, पीला पड़ा हुआ कांप रहा था और रो रहा था। उन्होंने वादा किया कि उन्हें अगर कुछ पता चला, तो बता देंगे, मगर चोर को खोजने से उन्होंने इंकार कर दिया। कुछ दिन बाद चोर का खुद ही पता चल गया – वह एक दूर के गांव का लड़का था। उसने अपने ही गांव से एक किसान लड़के को अपना साथी बना लिया था और फिर दोनों ने मिलकर चोरी की चीज़ों को एक बक्से में छिपा डाला। चोर का पता चल जाने से बच्चों ने राहत और बल्कि कहें, तो खुशी भी महसूस की। लेकिन इसके साथ ही उनके मन में चोर के लिए नफ़रत और दया का भाव भी उपजा। हमने सुझाव रखा कि सज़ा वे खुद तय करें। कुछ ने चोर को कोड़े लगाने की मांग की और कहा कि यह वे खुद करना चाहेंगे, दूसरों की मांग थी कि चोर के गले में "**चोर**" की तख़्ती लटका दी जाये। हमारे लिए शर्म की बात है कि यह दूसरी सज़ा पहले हमने ही इस्तेमाल की थी और जिस लड़के को सालभर पहले अपने गले में "**झूठा**" की तख़्ती लटकाये रखनी पड़ी थी, वही लड़का अब चोर को भी वैसी ही सज़ा दिये जाने की मांग करनेवालों में सबसे आगे था। हम तख़्ती के लिए तैयार हो गये और जब एक लड़की ने चोरों के गले में तख़्ती लटकायी, तो और सभी बच्चे उन्हें दुर्भावपूर्ण खुशी के साथ देखने और ताने मारने लगे। उन्होंने सज़ा को और बढ़ाने की मांग की। उनका सुझाव था कि चोरों को तख़्ती के साथ सारे गांव में घुमाया जाये और त्यौहार के दिन तक तख़्ती उनके गले में लटकी रहे। दोनों लड़के, जिन्हें दंड मिला था, रो रहे थे। किसान लड़का, जिसने अपने साथी के कहने से चोरी में भाग लिया था और जो बड़ा अच्छा किस्सेबाज़ तथा मज़ाक़िया और देखने में गोल-मटोल और गोरा था, ढाड़ें मार-मारकर रो रहा था। दूसरा, जो मुख्य अपराधी था और तोते जैसी नाक तथा दुबले, बुद्धिमत्तापूर्ण चेहरेवाला था, पीला पड़ गया था।

उसके होंठ कांप रहे थे और आंखें जानवरों जैसे क्रोध से भरी हुई खुश हो रहे साथियों को देख रही थीं। रोते हुए कभी-कभी उसका चेहरा अप्राकृतिक रूप से ढेढ़ा हो उठता। उसकी अधफटी टोपी सिर के बिल्कुल पिछले भाग पर टिकी हुई थी, बाल बिखरे हुए थे और कमीज़ पर जगह-जगह खड़िया के धब्बे लगे हुए थे। यह सब मुझे और दूसरों को इस समय इतना अजीबोग़रीब लग रहा था कि जैसे हम उसे पहली बार देख रहे हों। सबकी सहानुभूतिरहित निगाहें उसपर केंद्रित थीं। और इसे वह पीड़ा के साथ महसूस कर रहा था। जब वह इधर-उधर देखे बिना, सिर झुकाये हुए और एक खास तरह की अपराधी जैसी चाल से घर जाने लगा, तो मैंने पाया कि दूसरे बच्चे भी झुंड बनाकर उसके पीछे भागने लगे और साथ-साथ उसे ऐसी अस्वाभाविक और अजीब बेरहमी के साथ चिढ़ाते जा रहे थे कि जैसे कोई दुष्टात्मा उनके चाहे बिना ही उनसे ऐसा करवा रही हो। मुझे लग रहा था कि यह ठीक नहीं है। मगर सब कुछ वैसे ही रहा और चोर को पूरे चौबीस घंटे तक तख़्ती गले में लटकाये रखनी पड़ी। इसके बाद से वह, जैसा कि मुझे लगा, पढ़ाई में पिछड़ने लगा और खेलकूद तथा साथियों से बातचीत में भाग लेना उसने लगभग बंद ही कर दिया।

एक बार मैं कक्षा में आया, तो सभी बच्चों ने जैसे कि कोई भयंकर घटना हो गयी हो, मुझे सूचित किया कि उस लड़के ने फिर चोरी की है। अध्यापक के कमरे से उसने २० कोपेक चुराये थे और जब वह उन्हें सीढ़ी के नीचे छिपा रहा था, उसे पकड़ लिया गया। हमने फिर उसके गले में तख़्ती लटकायी और फिर वही अशोभनीय दृश्य शुरू हो गया। जैसी कि अध्यापकों की आदत होती है, मैं उसे नसीहत देने लगा। उस समय वहां एक और, उम्र में काफ़ी बड़ा तथा बातूनी लड़का भी मौजूद था, वह भी उसे नसीहत देने और शायद अपने पिता से, जो एक स्थानीय ज़मींदार के घर में नौकर था, सुने हुए शब्दों को दोहराने लगा। "एक बार चोरी करोगे, दो बार चोरी करोगे," वह शब्दों पर ज़ोर देता हुआ और धीरे-धीरे कह रहा था, "फिर आदत हो जायेगी और नतीजा अच्छा नहीं निकलेगा।" मुझे अफ़सोस सा होने लगा। मुझे चोर पर गुस्सा आ रहा था। मगर अब उसके और भी ज़्यादा ज़र्द, व्यथित और कठोर चेहरे को देखकर मुझे सहसा अपने पर इतनी शर्म आयी कि मैंने उसके गले से वह बेवक़ूफ़ीभरी

तख्ती झटककर हटा दी और उसे जहां मन आये, चले जाने को कहा। मस्तिष्क ही नहीं, मेरा सारा सत्व ही सहसा मुझसे कह रहा था कि मुझे इस अभागे बच्चे को सताने का कोई अधिकार नहीं है, कि मैं उसे वह नहीं बना सकता, जो मैं और ज़मींदार के नौकर का लड़का उसे बना देखना चाहते थे। मुझे पक्का विश्वास हो गया कि आत्मा के कुछ ऐसे भी रहस्य होते हैं, जिन्हें हम नहीं जान सकते और जिन्हें कोई भी नसीहतें या सज़ाएं नहीं, बल्कि अकेला जीवन ही प्रभावित कर सकता है। और फिर बात थी भी क्या? लड़के ने किताब चुरायी – भावनाओं, विचारों और भ्रांत धारणाओं के एक पूरे, लंबे और जटिल रास्ते ने उसे इस स्थिति में पहुंचा दिया था कि उसने परायी किताब उठा ली और न जाने क्यों, उसे अपने बक्से में छिपा लिया। और मैं हूं कि उसके गले में "चोर" की तख्ती लटका रहा हूं, हालांकि "चोर" शब्द का बिल्कुल दूसरा ही मतलब होता है! किसलिए? आप कहेंगे: ताकि उसे शर्म आये। शर्म आये? किसलिए? शर्म क्या है? क्या शर्म सचमुच चोरी की प्रवृत्ति को खत्म कर देती है? हो सकता है कि वह उसे बढ़ावा ही देती हो। उसके चेहरे से जो झलक रहा था, हो सकता है कि वह शर्म नहीं थी? बल्कि मुझे तो लगता है कि वह शर्म थी ही नहीं, बल्कि कोई और ही चीज़ थी, कोई ऐसी चीज़, जो शायद उसकी आत्मा में हमेशा ही दबी रहती और जिसे उभारना उचित नहीं था। जिसे यथार्थ की दुनिया कहते हैं, जो पाम-रस्टनों की दुनिया है और जिस दुनिया में विवेकसगत वह नहीं है कि जो सचमुच विवेकसंगत है, बल्कि वह है, जो यथार्थ है, उस दुनिया में लोग, जिन्हें खुद सज़ा मिली हुई है, अपने लिए सज़ा देने के अधिकार और कर्त्तव्य गढ़ते रहें। लेकिन हमारी दुनिया बच्चों की, सीधे, सरल और स्वतंत्र लोगों की दुनिया है और उसे आत्मप्रवंचना से, दंड की वैधता में अपराधपूर्व विश्वास से, इस बारे में विश्वास तथा अपने को धोखा देने से मुक्त रहना चाहिए कि प्रतिशोध को अगर हम दंड का नाम देंगे, तो वह न्यायपूर्ण हो जायेगा ...

हां, तो स्कूल की दिनचर्या का वर्णन आगे जारी रखें। दिन में दो बजे, जब तक भूख लग आयी होती है, बच्चे घर भागते हैं। लेकिन भूख के बावजूद वे यह जानने के लिए कुछ मिनट रुके रहते हैं कि किसको कितने अंक मिले हैं। बेशक अंकों के कम-ज़्यादा होने

से किसी को अभी कोई हानि-लाभ नहीं होता, फिर भी उनमें उनकी बेहद रुचि होती है। "मुझे पांच प्लस मिला है, जबकि ओल्यूश्का को इतना बड़ा शून्य!" "और मुझे चार मिले हैं!" वे चिल्लाते हैं। अंक उनके लिए उनकी मेहनत को आंकने की कसौटी हैं और उनसे वे असंतुष्ट सिर्फ़ तब होते हैं, जब आंकने में ग़लती की जाती है। आफ़त हो जायेगी, अगर विद्यार्थी ने अपनी ओर से पूरी कोशिश की है, लेकिन अध्यापक जानने पर भी उसे जितने का वह अधिकारी है, उससे कम अंक देता है। वह अध्यापक को चैन से नहीं बैठने देगा और तब तक बुरी तरह आंसू बहाता रहेगा, जब तक कि अंक बदल नहीं दिये जाते। ख़राब अंक अगर ठीक होते हैं, तो उनको लेकर प्रतिवाद नहीं किया जाता है। प्रसंगतः अंक देने की प्रथा हमारी पुरानी व्यवस्था का एक अवशेष है और अब वह खुद-बखुद खत्म होती जा रही है।

दिन के खाने की छुट्टी के बाद पहले पाठ के लिए सभी फिर से ठीक सुबह जैसे ही जमा होते हैं और अध्यापक की प्रतीक्षा करते हैं। आम तौर पर यह बाइबिलीय इतिहास या रूस के इतिहास का पाठ होता है, जिसमें सभी कक्षाओं के विद्यार्थी जमा होते हैं। आम तौर पर यह दिन ढलने के समय होता है। अध्यापक कमरे के बीच में खड़ा होता या बैठता है और बच्चे अर्धवृत बनाकर उसके गिर्द बैठ जाते हैं – कोई बेंचों पर, तो कोई डेस्कों पर और कोई खिड़की के दासों पर।

सभी अपराह्नकालीन पाठ और विशेषतः यह पहला पाठ सुबह के पाठों की अपेक्षा बिल्कुल भिन्न – शांत, विचारप्रेरक और काव्यमय – होता है। धुंधलके में कभी स्कूल आयें। खिड़कियों में उजाला नहीं दिखायी देता, लगभग नीरवता छायी होती है और सिर्फ़ सीढ़ियों पर जूतों के साथ आयी बर्फ़, दरवाज़े के पीछे हल्का सा शोर और रेलिंग पकड़कर एक साथ दो-दो सीढ़ियां चलते किसी लड़के की सरसराहट ही सिद्ध करते हैं कि स्कूल में विद्यार्थी मौजूद हैं। कमरे में प्रवेश करें। बर्फ़ जमी खिड़कियों के पार लगभग अंधेरा छाया हुआ है। बड़े और पढ़ने में अच्छे विद्यार्थी पीछे से औरों से दबे हुए अध्यापक के बिल्कुल पास बैठे हैं और सिर उठाये सीधे उसके मुंह की ओर देख रहे हैं। एक आज़ाद तबीयत और चिंताग्रस्त से चेहरेवाली लड़की,

8 942

जो किसी ज़मींदार के नौकर की बेटी है और हमेशा एक ऊंची मेज़ पर बैठती है, लगता है कि अध्यापक के हर शब्द को निगल रही है; जो ज़रा पिछड़े हैं और छोटे हैं, वे कुछ दूर हटकर बैठे हैं। बड़े बच्चों जैसे वे भी अध्यापक की बातें ध्यान से और बल्कि कहें तो गंभीरता से सुन रहे हैं, मगर उनकी सारी एकाग्रता के बावजूद, हम जानते हैं कि वे पूछने पर कुछ नहीं बता पायेंगे, हालांकि उन्हें याद बहुत सारी बातें रहेंगी। कोई किसी के कंधे पर सिर टिकाये हुए है, तो कोई मेज़ पर खड़ा है। उस भीड़ में शायद ही कोई अपने से आगेवाले की पीठ पर नाखून से कुछ बना रहा होगा। शायद ही कोई आपकी ओर नज़र उठायेगा। जब कोई नयी कहानी चल रही होती है, सब दम साधकर सुनते हैं। जब वह दोहरायी जाती है, तो कहीं-कहीं से शेख़ीभरी आवाज़ें अवश्य सुनायी दे जाती हैं – ये वे बच्चे होते हैं, जो अध्यापक को आगे क्या हुआ, इसकी याद दिलाने से अपने को नहीं रोक पाते। बच्चे अध्यापक से पुरानी कहानी को भी, जो उन्हें अच्छी लगी थी, अपने शब्दों में बार-बार सुनाने का आग्रह करते हैं और किसी को बीच में नहीं बोलने देते। जो बोलता है, उसे यह कहकर चुप करा दिया जाता है: "चुप रहो! बीच में बोलना ज़रूरी है क्या?" अध्यापक की कहानी के स्वरूप तथा कलात्मकता में विघ्न डाला जाना उनसे सहन नहीं होता। पिछली बार यह ईसा की कहानी थी। वे उसे बार-बार सुनाने की मांग करते रहे। अगर पूरी नहीं सुनायी जाती, तो वे उसका अपना मनपसंद अंत – पीटर के संन्यास और परित्राता के कष्टों की कथा – स्वयं सुना डालते हैं। लगता है कि सब कुछ जड़ हो गया है, कहीं कोई हरक़त नहीं। क्या सब सो तो नहीं गये? इस अर्ध-अंधकार में आप कुछ और क़रीब जाते हैं, और किसी छोटे बच्चे के चेहरे में झांकते हैं। वह बैठा हुआ है, आंखें अध्यापक पर टिकी हुई हैं, एकाग्रता के कारण माथे पर बल पड़ गये हैं और शायद दसवीं बार वह बच्चा अपने कंधे से साथी के अनजाने में पड़े हाथ को हटा रहा है। आप उसकी गरदन पर गुदगुदी करें और वह मुस्करायेगा भी नहीं और सिर को यों झटक लेगा कि जैसे मक्खी को भगा रहा हो, और फिर पूरी तरह रहस्यात्मक तथा काव्यमय कहानी में खो जायेगा। कहानी सुनते हुए उसे रोमांच भी होता है और अच्छा भी लगता है। आखिरकार अध्यापक कहानी ख़त्म कर देता

है। सब अपनी जगह से उठते हैं, अध्यापक के गिर्द जमा हो जाते हैं और जो कुछ उन्हें याद हो सका है, एक दूसरे से ज़ोर से चिल्लाते हुए उसे बताने की कोशिश करते हैं। शोर इतना भयंकर होता है कि अध्यापक मुश्किल से ही सभी को सुन पाता है। जिन्हें पहले ही बोलने से रोक दिया गया था, वे इस विश्वास के कारण कि वे जानते हैं, चैन से नहीं बैठ पाते। वे दूसरे अध्यापक के पास चले जाते हैं और अगर वह नहीं हुआ, तो किसी बड़े साथी या किसी बाहरी आदमी के पास और अगर वह भी न मिला, तो अंगीठी जलानेवाले के पास ही, और दो-दो, तीन-तीन के गिरोहों में इधर से उधर, उधर से इधर चक्कर लगाते हुए अपने को सुने जाने का अनुरोध करते हैं। ऐसा विरले ही होता है कि जब कोई अकेला ही बताता हो। वे ख़ुद ही एक जैसों के गिरोहों में बंट जाते हैं, एक दूसरे की मदद करते तथा ग़लतियां सुधारते हैं और अपनी बारी आने पर ख़ुद जो बताना चाहते हैं, बताते हैं। "आओ, तुम्हारे साथ ज्ञान-परीक्षा करें," एक लड़का दूसरे लड़के से कहता है, लेकिन जिससे कहा गया है, वह जानता है कि दूसरा उसकी बराबरी का नहीं है और इसलिए वह उसे किसी दूसरे के पास भेज देता है। ज्यों ही भड़ास निकल जाती है और चैन मिल जाता है, कमरे में मोमबत्तियां जला दी जाती हैं और लड़कों पर अब दूसरी ही मनःस्थिति छा जाती है।

शामों को आम तौर पर और आखिरी पाठों में भी बच्चे कम शोर-शराबा तथा ऊधम मचाते हैं और अध्यापक का कहना ज़्यादा मानते हैं। गणित तथा विश्लेषण के प्रति विशेष विरक्ति पायी जाती है, जबकि गायन, पठन और ख़ासकर कथा-कहानियों के प्रति अधिक रुझान दिखाया जाता है। "गणित और लिखने से तो तंग आ गये। बेहतर है कि पृथ्वी की कहानी या इतिहास की कोई घटना सुनाइये। हम ख़ुशी-ख़ुशी सुनेंगे," विद्यार्थी कहते हैं। आठ बजते-बजते पलकें भारी हो जाती हैं, जम्हाइयां आने लगती हैं, मोमबत्तियों का प्रकाश मंद हो जाता है। बड़े तो फिर भी जगे रहते हैं, पर जो छोटे और कमज़ोर हैं, वे अध्यापक के बोलने की सुखद आवाज़ के प्रभाव से मेज़ पर कोहनियां टेके-टेके ही सो जाते हैं। कभी-कभी जब पाठ रोचक होते हैं – और ऐसे पाठ बहुत होते हैं (कभी-कभी तो सात-सात घंटे जारी रहते हैं) – बच्चे थक जाते हैं, या त्यौहार से पहले जब घरों में ग़ुसलख़ाने

गरमाये जाते हैं, दिन के खाने के बाद के दूसरे या तीसरे पाठ में दो या तीन लड़के भागे-भागे कमरे में आते हैं और जल्दी-जल्दी अपनी टोपियां उठाने लगते हैं। "क्या बात है?" "हम घर जा रहे हैं।" और पढ़ाई? अभी तो संगीत का पाठ बाक़ी है!" "लड़के कह रहे हैं कि घर चलो," एक लड़का जवाब देता है और अपनी टोपी उठाकर भाग जाता है। "कौन लड़के कह रहे हैं?" "चलो, चलें।" "लेकिन क्यों?" हैरान-परेशान अध्यापक पूछता है। उसने पाठ की अच्छी तैयारी की हुई थी। तभी कमरे में हांफता हुआ एक और लड़का आता है और देर करनेवाले लड़के पर, जो दुविधा में पड़ा हुआ अपनी टोपी में भरी रूई को ठीक कर रहा है, गुस्सा होते हुए पूछता है, "खड़ा क्या है? और लड़के तो लुहारखाने तक पहुंच चुके होंगे!" "चलें?" "चलो!" और दोनों ही दरवाज़े के बाहर से अध्यापक को अलविदा चिल्लाते हुए हवा हो जाते हैं। भगवान ही जानता है कि घर जाने का फ़ैसला करनेवाले ये बच्चे कौन थे और कैसे उन्होंने यह फ़ैसला किया था। पता लगाना मुश्किल होता है कि पहल किसने की थी। उनके बीच कोई बातचीत, कोई मशविरा नहीं हुआ था। घर जाने की बात उन्हें ऐसे ही सूझ गयी थी। "लड़के जा रहे हैं!" और सीढ़ियों पर शोर होने लग जाता है। बर्फ़ पर कूदते-फांदते और कला-बाज़ियां खाते, संकरी पगडंडी पर एक दूसरे से आगे निकलने की कोशिश करते, चीखते-चिल्लाते बच्चे घर की ओर दौड़ पड़ते हैं। ऐसी घटनाएं हफ़्ते में एक-दो बार हो जाती हैं। बेशक इससे अध्यापक को ठेस पहुंचती है, मगर यह भी मानना होगा कि ऐसी एक घटना से ही हर कक्षा के लिए रोज़ाना उन पांच, छह या सात पाठों का महत्त्व बहुत अधिक बढ़ जाता है, जिनमें विद्यार्थी बिना किसी ज़ोर-ज़बर्दस्ती के और स्वेच्छा से आखिर तक बैठे रहते हैं। सिर्फ़ ऐसी घटनाओं की पुनरावृत्ति से ही निश्चित हुआ जा सकता है कि स्कूल की पढ़ाई अपर्याप्त और एकांगी होने के बावजूद बुरी और हानिकर क़तई नहीं है। यदि सवाल को यों पेश किया जाये कि बेहतर क्या है – सारे साल ऐसी एक भी घटना न हो या आधे से अधिक पाठों में वे दोहरायी जायें, तो हम निश्चय ही बादवाली बात को चुनेंगे। कम से कम यास्नाया पोल्याना स्कूल में मैं महीने में कई बार होनेवाली इन घटनाओं का स्वागत ही करता। बच्चों को प्रायः याद दिलाये जाने के बावजूद कि वे जब चाहें, घर

जा सकते हैं, अध्यापक का प्रभाव इतना प्रबल है कि पिछले समय में मुझे डर लगने लगा था कि कहीं कक्षाओं, समय-सारिणी और अंकों का अनुशासन बच्चों के जाने बिना उनकी स्वतंत्रता को यों न दबा दे कि वे हमारे बिछाये हुए व्यवस्था के चालाकीभरे जाल में पूरी ही तरह फंस जायें और स्वयं चुनने और प्रतिवाद करने की क्षमता खो दें। अगर स्वतंत्रता मिली होने के बावजूद वे खुशी-खुशी स्कूल आते हैं, तो मैं नहीं समझता कि यह यास्नाया पोल्याना स्कूल की उत्कृष्टता का प्रमाण है, क्योंकि मैं सोचता हूं कि दूसरे भी ज़्यादातर स्कूलों में ऐसा ही होता है, और बच्चों में पढ़ने की इच्छा इतनी प्रबल है कि इस इच्छा की तुष्टि के लिए वे बहुत सी कठिनाइयां झेल सकते हैं और बहुत सी कमियां माफ़ कर सकते हैं। मगर पाठों से इस तरह भागना उसी हद तक उपयोगी और आवश्यक है, जिस हद तक कि वह अध्यापक को अत्यंत गंभीर ग़लतियां और अपनी हैसियत का दुरुप-योग करने से रोकने के साधन का काम करता है।

शामों को गायन, क्रमिक पठन, वार्तालाप, भौतिक प्रयोगों और निबंध लेखन की कक्षाएं होती हैं। इनमें से सबसे प्रिय विषय पठन और प्रयोग हैं। पठन की कक्षा में बड़े बच्चे एक बड़ी मेज़ पर सितारा सा बनाकर लेट जाते हैं – सिर एक दूसरे से सटे हुए और पैर दूर-दूर। एक पढ़ता है और दूसरे सुने हुए को दोहराते हैं। छोटे बच्चों में दो के बीच एक किताब होती है और अगर वह दिलचस्प हुई, तो वे उसे हमारे जैसे ही ढंग से पढ़ते हैं – उजाले की ओर मुंह करके और कुहनियां टेककर। लगता है कि ऐसे उन्हें मज़ा आता है। कुछ दो मज़े एकसाथ उठाने के इरादे से अंगीठी के पास बैठ जाते हैं और इस तरह पढ़ाई के साथ-साथ गरमी भी पाते हैं। प्रयोगों की कक्षा में सबको नहीं आने दिया जाता। जो बड़े, पढ़ाई में अच्छे और समझदार हैं और दूसरी कक्षा में पढ़ते हैं, उन्हें ही उसमें आने की इजाज़त है। हमारे यहां इस कक्षा ने जो स्वरूप धारण कर लिया है, उसके अनुसार वह सबसे रहस्यजनक, सबसे कल्पनामय और परीकथाएं पढ़ने से जो मनःस्थिति बनी थी, उससे पूरी तरह मेल खानेवाली कक्षा है। जो परीकथा जैसा है, वह यहां यथार्थ में घटता है। लाख द्वारा परे ठेला जाता हुआ जुनिपर का दाना, एक ओर को झुकती हुई चुंबकयुक्त सूई, नीचे चुंबक रखा होने के कारण कागज़ पर दौड़ती लोहे की छीलनें,

आदि सब कुछ उन्हें जीवित प्राणियों जैसे लगते हैं। जो लड़के सबसे तेज़ हैं और इन परिघटनाओं का कारण समझते हैं, वे जल्दी ही उनमें खो जाते हैं।

अगर बढ़ईगीरी का पाठ बड़े लड़कों को अधिक देर नहीं रोके रखता, तो आम तौर पर कक्षाएं ८ या ९ बजे खत्म होती हैं और तब सारा झुंड शोर मचाता हुआ एक साथ बाहर लपकता है और अलग-अलग दिशाओं में जानेवाले गिरोहों में बंटने लग जाता है। कभी-कभी उनपर फाटक के बाहर खड़ी बड़ी स्लेजों पर फिसलने का फ़ितूर सवार हो जाता है। स्लेजों के डंडों को बांधकर वे खुद स्लेजों पर लेट जाते हैं और सरपट फिसलते तथा बर्फ़ की धूल उड़ाते हुए आंखों से ओझल हो जाते हैं। सिर्फ़ कहीं-कहीं रास्ते में स्लेजों से गिरे हुए लड़कों के काले धब्बे ही नज़र आते हैं। हालांकि स्कूल में भी पूरी आज़ादी होती है, फिर भी स्कूल के बाहर विद्यार्थियों और अध्यापक के बीच जो संबंध बनते हैं, वे अधिक स्वतंत्रता, अधिक निष्कपटता और अधिक परस्पर विश्वास के संबंध होते हैं, यानी ठीक वे संबंध, जिन्हें हमारी राय में स्कूल का आदर्श होना चाहिए।

कोई ज़्यादा ठंड नहीं थी। सरदियों की कृष्णपक्ष की रात थी और ऊपर से आसमान में बादल भी छाये हुए थे। चौराहे पर पहुंचकर हम रुक गये। बड़े बच्चे, जो तीन साल से स्कूल आ रहे थे, मुझसे और कुछ दूर तक साथ चलने का अनुरोध करने लगे, पर जो छोटे थे, वे टीले पर से नीचे लुढ़कने लग गये। छोटे विद्यार्थियों को नया अध्यापक पढ़ाने लगा था, इसलिए मेरे और उनके बीच वह परस्पर विश्वास नहीं था, जो मेरे और बड़े बच्चों के बीच था। "तो, क्या चलें जंगल में?" उनमें से एक ने कहा (उसका मतलब गांव से कोई २०० क़दम की दूरी पर स्थित छोटे से जंगल से था)। सबसे ज़्यादा ज़ोर फ़ेद्का दे रहा था, जिसकी उम्र कोई १० वर्ष है और स्वभाव से जो नाज़ुक, संवेदनशील, भावुक और निर्भीक क़िस्म का लड़का है। उसे जैसे कि सबसे अधिक मज़ा उसी काम में आता है, जिसमें ख़तरा हो। गरमियों में हमेशा यह देखकर डर लगता था कि कैसे वह दो और लड़कों के साथ तैरता हुआ झील के बीचोंबीच तक पहुंच जाता था (यह कोई १०० गज़ चौड़ी झील थी) और कभी-कभी तो सूरज की गरम परछाइयों में नज़र से ओझल हो जाता था – गहरे पानी पर पीठ के बल लेटा, मुंह से

पानी की धार छोड़ता और किनारे पर खड़े साथियों को अपनी पतली आवाज़ से यह देखने के लिए पुकारता हुआ कि देखो, मैं कितना बहादुर हूं, वह बहुत दूर निकल जाता था। अब वह जानता था कि जंगल में भेड़िये होते हैं, और इसलिए वह जंगल में जाना चाहता था। सबने जिद की और हम चारों जंगल की ओर चल पड़े। दूसरा, जिसे मैं स्योम्का कहकर पुकारूंगा, शारीरिक और नैतिक, दोनों ही दृष्टियों से हृष्ट-पुष्ट कोई बारह-एक साल का लड़का है और साथियों ने उसका नाम वावीलो रखा हुआ है। वह आगे-आगे चल रहा था और लगातार चिल्लाता और गूंजती हुई आवाज़ से किसी को पुकारता जा रहा था। प्रोन्का, जो एक कमज़ोर, दब्बू सा, मगर बहुत प्रतिभासंपन्न लड़का है, मेरे साथ चल रहा था। वह एक ग़रीब बाप का बेटा है। उसकी बीमार सी शक्ल की मुख्य वजह शायद अपर्याप्त पोषण है। फ़ेद्का मेरे और स्योम्का के बीच चल रहा था और लगातार बहुत ही मुलायम आवाज़ में बोले जा रहा था। कभी वह बताता कि कैसे गरमियों में उसने यहां घोड़ों की रखवाली की थी, कभी कहता कि उसे किसी चीज़ से डर नहीं लगता और कभी पूछता कि अगर एकाएक कोई सामने आ जाये, तो क्या होगा? आखिरी सवाल पूछते हुए उसका आग्रह होता कि मैं जवाब में कुछ न कुछ अवश्य कहूं। हम जंगल में बहुत अंदर नहीं गये, क्योंकि ऐसा करना खतरे से खाली न था : जंगल के बाहरी छोर पर ही अंधेरा हो गया था, पगडंडी मुश्किल से दिखायी दे रही थी और गांव की बत्तियां नज़रों से ओझल हो गयी थीं। स्योम्का रुक गया और सुनने लगा। "ठहरो! यह क्या है?" एकाएक उसने कहा। हम खामोश हो गये, पर कुछ नहीं सुनायी दिया। लेकिन भय बढ़ने लग गया। "सचमुच, अगर कोई एकाएक आ जाये और हमारा पीछा करने लगे, तो हम क्या करेंगे?" फ़ेद्का ने पूछा। हम काकेशियाई डाकुओं की बातें करने लगे। बच्चों को एक काकेशियाई कहानी याद हो आयी, जो मैंने उन्हें बहुत पहले सुनायी थी, और मैं फिर से उन्हें अबरेकों, कज़ाकों और हाजी मुरात के बारे में बताने लगा। स्योम्का अपने बड़े जूतों से चौड़े-चौड़े डग भरता और स्वस्थ पीठ को लयबद्ध ढंग से झुलाता हुआ आगे चल रहा था। प्रोन्का की कोशिश यह थी कि मेरे साथ चले, मगर फ़ेद्का बार-बार उसे पगडंडी से हटा देता था। फिर भी प्रोन्का, जो शायद अपनी ग़रीबी

के कारण सदा झुकने को मजबूर था, सबसे दिलचस्प जगहों पर बग़ल में आ जाता था, हालांकि घुटने-घुटने तक बर्फ़ में धंस जाता था।

जो किसानों के बच्चों को थोड़ा-बहुत भी जानता है, उसने देखा होगा कि उन्हें प्यारभरे शब्दों, चुंबनों, सहलाये जाने, आदि की आदत नहीं होती और न इन्हें वे सहन ही कर पाते हैं। मैंने ख़ुद देखा है कि किसान बच्चों के स्कूल को देखने आयी हुई कोई संभ्रात महिला जब किसी बच्चे को दुलारने की इच्छा से कहती है, "इधर आओ, मैं तुम्हें चूमना चाहती हूं", और चूम लेती है, तो बच्चा शर्म से गड़ जाता है, बुरा मानता है और समझ नहीं पाता कि उसके साथ ऐसा ही क्यों किया गया। बच्चा पांच साल का होते ऐसे लाड़-प्यार से ऊपर उठ जाता है। इसलिए मुझे बड़ी हैरानी हुई, जब मेरी बग़ल में चल रहे फ़ेद्का ने कहानी की सबसे रोमांचकारी जगह पर सहसा हल्के से मेरे आस्तीन को छुआ और फिर मेरी दो उंगलियों को अपनी मुट्ठी में ले लिया और देर तक छोड़ा नहीं। मैं चुप हुआ ही था कि फ़ेद्का ने मांग की कि मैं कहना जारी रखूं। उसकी आवाज़ इतनी अनुनयभरी और उत्तेजित थी कि मना करना संभव न था। "क्या बार-बार बीच में आ जा रहे हो?" फ़ेद्का ने आगे भाग आये प्रोन्का पर गुस्सा होते हुए कहा। वह कहानी सुनने में इतना तल्लीन था और डरने के साथ-साथ उसे मेरी उंगली पकड़े हुए अच्छा भी इतना ज्यादा लग रहा था कि किसी का उसके आनंद में खलल डालना उसे बर्दाश्त नहीं हो सकता था। "थोड़ा और! कितना अच्छा लग रहा है!" हमने जंगल पार कर लिया था और दूसरी ओर से गांव के निकट पहुंच रहे थे। "कुछ और घूमें!" गांव की बत्तियां दिखायी देने पर सब बोले। हम चुपचाप चल रहे थे। बर्फ़ भुरभुरी थी और पगडंडी अभी ठीक से नहीं बनी थी। कहीं-कहीं हम धंस भी पड़ते थे। सफ़ेद अंधेरा आंखों के सामने जैसे कि झूल रहा था। बादल इतने नीचे घिरे हुए थे कि जैसे कोई उन्हें हमारे ऊपर लुढ़का रहा हो। इस सफ़ेद नीरवता का कोई अंत न था और बर्फ़ पर हमारे चलने की चरमराहट से ही वह भंग हो रही थी। एस्प वृक्षों की नंगी चोटियों से टकराकर हवा आवाज़ कर रही थी, पर यहां जंगल की ओट में सब शांत था। मैंने कहानी इसपर ख़त्म की कि घिरा हुआ अबरेक गाने लगा और फिर उसने ख़ुद अपने सीने में कटार भोंक ली। सब चुप हो गये। "घिर

जाने पर वह गाने क्यों लगा?" सहसा स्योम्का ने पूछा। "तुम्हें बताया तो कि मरने जा रहा था!" फ़ेद्का ने दुखभरे स्वर में जवाब दिया। "मैं सोचता हूं कि वह प्रार्थना-गीत गा रहा था," प्रोन्का ने अपनी ओर से जोड़ा। सब उससे सहमत थे। हम गांव के ऐन छोर पर अनाज मांडने की जगह के पास पेड़ों के झुंड के बीच रुक गये। स्योम्का ने बर्फ़ पर से एक सूखी टहनी उठायी और उससे लिंडन के पेड़ के जमे हुए तने पर मारा। पेड़ की टहनियों से बर्फ़ उसकी टोपी पर गिर पड़ी और आवाज़ सारे जंगल में गूंज गयी। "लेव निकोलायेविच," फ़ेद्का ने कहा, "गाना क्यों सीखते हैं? सचमुच, मैं अक्सर सोचता हूं: हम गाते क्यों हैं?"

फ़ेद्का की बहुत अच्छी आवाज़ है और संगीत की उसमें प्रतिभा भी बहुत है। उसने अनुभव किया कि अब मन की बात कहने का वक़्त आ गया है, और वे बहुत सारे प्रश्न उसके सामने खड़े हो गये, जिनका समाधान अपेक्षित था। उसके प्रश्न से हममें से किसी को भी हैरानी नहीं हुई। "और चित्रकारी क्यों करते हैं? अच्छा क्यों लिखते हैं?" मैंने कहा, हालांकि मेरी समझ में बिल्कुल नहीं आ रहा था कि उसे कैसे बताऊं कि कला किसलिए होती है। "चित्रकारी क्यों करते हैं?" फ़ेद्का ने सोच में डूबे हुए दोहराया। वह सवाल कर रहा था: कला की क्या जरूरत है? मैं न तो बताने की हिम्मत कर पाया न जानता ही था कि कैसे बताऊं। "तस्वीरें बनाने के लिए। तस्वीर देखकर कोई भी चीज़ बना सकते हो," स्योम्का ने कहा। "पर यह तो ड्राइंग है!" फ़ेद्का ने कहा, "फिर भी आकृतियां क्यों बनायी जाती हैं?" स्वस्थ ढंग से सोचनेवाले स्योम्का को उत्तर देने में कठिनाई नहीं हुई। लिंडन के तने को ठकठकाते हुए उसने कहा, "और डंडे की क्या जरूरत है? लिंडन का पेड़ किसलिए चाहिए?" "सचमुच, लिंडन का पेड़ किसलिए चाहिए?" मैंने भी पूछा। "तख़्ते और शहतीर बनाने के लिए," स्योम्का ने जवाब दिया। "और गरमियों में किसलिए? जब तक काटा नहीं गया है, तब तक किसलिए?" "किसी काम के लिए नहीं।" "नहीं, सचमुच, किसलिए चाहिए?" फ़ेद्का ने पूछना छोड़ा नहीं। "लिंडन का पेड़ क्यों उगता है?" और हम इस बारे में बातें करने लगे कि हर किसी चीज़ का उपयोगी होना जरूरी नहीं है, कि सुंदरता नाम की भी कोई चीज़ होती है, कि कला सौंदर्य है, वग़ैरह।

हम एक दूसरे को समझ गये। फ़ेद्का की समझ में पूरी तरह आ गया कि लिंडन क्यों उगता है और आदमी गाता क्यों है। प्रोन्का भी सहमत था, पर वह नैतिक सौंदर्य, यानी भलाई को ज्यादा समझता था। स्योम्का दिमाग़दार था, पर वह उपयोगितारहित सौंदर्य को सौंदर्य नहीं मानता था। उसे संदेह था, जैसा कि दिमाग़दार लोगों के साथ आम तौर पर होता है, जो महसूस तो करते हैं कि कला एक शक्ति है, पर अपने में इस शक्ति की आवश्यकता महसूस नहीं करते। उनके जैसे वह भी दिमाग़ के ज़रिये कला तक पहुंचना चाहता था और अपने में यह आग सुलगाने का प्रयत्न कर रहा था। "कल हम प्रार्थना गायेंगे। मुझे अपना स्वर याद है।" उसमें सुर की अच्छी पकड़ थी, पर उसके गाने में मिठास और लालित्य नहीं था। दूसरी ओर, फ़ेद्का अच्छी तरह जानता था कि लिंडन का पेड़ उसपर पत्ते होने पर ही अच्छा लगता है, कि गरमियों में मन करता है कि उसे बस देखते ही रहें। प्रोन्का समझता था कि उसे काटना अच्छा नहीं है, क्योंकि उसमें भी जान है। "जब हम भूर्ज का रस पीते हैं, तो उसका रक्त ही पीते हैं।" स्योम्का हालांकि बोल नहीं रहा था, पर शायद सोच ज़रूर रहा था कि पेड़ अगर सड़ गया है, तो वह किसी काम का नहीं। मुझे दोहराते अजीब लगता है कि तब हमारे बीच क्या-क्या बातें हुईं, पर मुझे याद है कि उपयोगिता के बारे में, शारीरिक और नैतिक सौंदर्य के बारे में जो कुछ भी कहा जा सकता है, हमने अपनी बातचीत में कहा था।

हम गांव तक पहुंच गये। फ़ेद्का मेरा हाथ अभी भी पकड़े हुए था, पर शायद अब, जैसा कि मुझे लगा, कृतज्ञता के कारण। अरसे से पहली बार इस शाम हम एक दूसरे के इतने निकट आये थे।

मैं ऐसे बहुत सारे ईमानदार, भले, उदारपंथी लोगों, परोपकारी संस्थाओं के सदस्यों को जानता हूं, जो अपनी संपत्ति का सौवां हिस्सा ग़रीबों को देने को तैयार हैं और देते भी हैं, जिन्होंने स्कूल क़ायम किये हैं और करते हैं, मगर जो इसे पढ़कर असहमति से सिर हिलायेंगे: "अच्छी बात नहीं है! उनके विकास पर इतना ज़ोर देने की क्या ज़रूरत है? उनमें ऐसी भावनाएं और विचार भरने की क्या ज़रूरत है, जो उन्हें अपने परिवेश से बेमेल बना देंगे? उन्हें उनके जीवन की परिस्थितियों से अलग करने की क्या ज़रूरत है?" मैं उन लोगों की बात नहीं कर रहा हूं, जो अपने को पूरी तरह बेनक़ाब कर देते हैं और

कहते हैं: "यह भी क्या राज्य प्रणाली होगी कि जिसमें सब विचारक और कलाकार ही बनना चाहेंगे और काम कोई नहीं करेगा!" ये लोग बिना किसी लाग-लपेट के कहते हैं कि उन्हें काम करना पसंद नहीं और इसलिए आवश्यक है कि ऐसे लोग भी हों, जो ऐसा नहीं कि और कोई काम न कर सकते हों, बल्कि जो सीधे-सीधे ग़ुलाम हों और दूसरों के लिए काम करें। कौन जाने, यह ठीक है या ग़लत और क्या यह ज़रूरी भी है कि उन्हें उनके परिवेश से बाहर निकाला जाये? और बाहर निकालेगा भी कौन? क्या यह कोई यांत्रिक काम है? आटे में शक्कर और बीयर में मिर्च मिलाना ठीक है या ग़लत? फ़ेद्का को इसकी परवाह नहीं कि उसका कोट फटा है, पर नैतिक सवाल और संदेह उसे अवश्य सताते हैं। लेकिन आप उसे तीन रूबल देना, धर्मशिक्षा की किताब थमाना और यह घुट्टी पिलाना चाहते हैं कि काम और आज्ञापालन आदमी के लिए अत्यंत लाभदायक हैं, हालांकि आप ख़ुद उन्हें बरदाश्त नहीं कर सकते। उसे तीन रूबल नहीं चाहिए और जब ज़रूरत होगी, वह उन्हें पा लेगा और ले लेगा, मगर आपके बिना काम करना सीखना उसके लिए वैसा ही है, जैसे सांस लेना। उसे वह चीज़ चाहिए, जिसपर आपके जीवन ने, आपकी काम के बोझ से मुक्त दस पीढ़ियों ने आपको पहुंचाया है। आपको खोजने, सोचने और भुगतने की फ़ुरसत रही है, तो जो आपने भुगता है, वह उसे भी दें। उसे सिर्फ़ यही चाहिए, जबकि आप मिस्री पुरोहित की तरह रहस्यमय चोगे की आड़ में अपने को उससे छिपा रहे हैं, इतिहास ने आपको जो प्रतिभा दी है, उसे ज़मीन में गाड़ रहे हैं। डरें नहीं, जो कुछ भी मानवोचित है, वह मनुष्य के लिए हानिकारक नहीं हो सकता। आपको संदेह है? अपने को भावना के भरोसे छोड़ दें, और वह आपको धोखा नहीं देगी। उसकी प्रकृति पर यक़ीन करें और आप पायेंगे कि वह सिर्फ़ वही लेगा, जिसे उसे संप्रेषित करने का इतिहास ने आपको आदेश दिया है और जो भुगतने के फलस्वरूप आपके भीतर पनपा है।

यास्नाया पोल्याना स्कूल निःशुल्क है और आरंभ में इसके सभी विद्यार्थी यास्नाया पोल्याना गांव के रहनेवाले थे। उनमें से बहुतों ने स्कूल इसलिए छोड़ दिया कि उनके मां-बाप पढ़ाई को अच्छा नहीं मानते थे। बहुतों ने पढ़ना और लिखना सीख लेने के बाद स्कूल आना छोड़ दिया और स्टेशन पर काम करने लगे (यह हमारे गांववालों का मुख्य

धंधा है)। पड़ोस के ग़रीब गांवों से बच्चे पहले आते थे, पर रोज़ आने-जाने की असुविधा के कारण या रहने तथा खाने के ख़र्च के कारण (हमारे यहां सबसे कम ख़र्च दो रूबल माहवार लिया जाता है) जल्दी ही उन्हें वापस ले लिया गया। दूर के गांवों के अपेक्षाकृत खाते-पीते किसान निःशुल्क शिक्षा और लोगों में फैली इस बात से लालच में आ गये थे कि यास्नाया पोल्याना स्कूल में अच्छा पढ़ाया जाता है, और वे अपने बच्चों को भेजने को तैयार हो गये थे, पर इन सरदियों में जब गांवों में स्कूल खुले, तो उन्हें वापस ले लिया गया और फ़ीस पड़ने के बावजूद उन स्कूलों में रख दिया गया। यास्नाया पोल्याना स्कूल में यास्नाया पोल्याना के किसानों के बच्चे, जो सरदियों में तो स्कूल आते हैं, पर गरमी में, अप्रैल से अक्तूबर के पूर्वार्ध तक, खेतों में काम करते हैं, और सरायमालिकों, कारिंदों, सिपाहियों, ज़मीदारों के नौकरों, शराब बेचनेवालों, गिरजे के प्रवाचकों और अमीर किसानों के ३०-५० वर्स्ट दूर से आये हुए बच्चे ही रह गये हैं।

विद्यार्थियों की कुल संख्या ४० है, पर एक बार में ३० से ज़्यादा विरले ही मौजूद रहते हैं। लड़कियों की संख्या कुल संख्या के दसवें से छठे हिस्से तक – ३ से ५ तक – रहती है। सबसे ज़्यादा लड़के सात से तेरह वर्ष तक की आयु के हैं। इसके अलावा हर साल ३–४ वयस्क भी पढ़ते हैं, जो महीने भर तक और कभी तो सारी सरदियों भर स्कूल आते हैं और फिर आना बिल्कुल छोड़ देते हैं। वयस्कों के लिए, जो अकेले स्कूल आते हैं, स्कूल की व्यवस्था काफ़ी असुविधाजनक है। अपनी आयु और हैसियत की वजह से वे स्कूल की चहल-पहल में भाग नहीं ले सकते, बच्चों को तुच्छता की दृष्टि से देखना छोड़ नहीं सकते और इसलिए बिल्कुल अकेले रहते हैं। स्कूल की चहल-पहल उन्हें अखरती ही है। वे ज़्यादातर अपनी पढ़ाई की कमी पूरी करने और इस विश्वास के साथ स्कूल आते हैं कि शिक्षा का अर्थ किताबों में जो लिखा है, उसे याद कर लेना भर है। स्कूल आने के लिए उन्हें अपने भय और उच्छृंखल प्रकृति पर क़ाबू पाना और घरवालों से झगड़ों और साथियों के तानों को सहना पड़ा था। इसके अलावा वे लगातार महसूस करते हैं कि स्कूल में बिताये हुए हर दिन का मतलब है काम के लिए, जो उसकी मुख्य पूंजी है, एक दिन की हानि, और इसलिए स्कूल में लगभग सारे समय वे चिड़चिड़े रहते हैं तथा हड़बड़ी मचाते हैं और अतिशय मेहनतपसंदगी

दिखाते हैं, जो पढ़ाई के लिए सबसे ज़्यादा हानिकारक है। मैं जिन महीनों की बात कर रहा हूं, उन महीनों में स्कूल में ऐसे तीन वयस्क विद्यार्थी थे, जिनमें से एक अब भी पढ़ता है। स्कूल में वयस्क ठीक वैसा होता है, जैसे आग बुझानेवाला। वह लिखना ख़त्म करता ही है कि एक हाथ से कलम तुरंत अलग रख देता है और दूसरे हाथ से किताब उठा लेता है और खड़े-खड़े ही पढ़ने लग जाता है। ज्यों ही उससे यह किताब ले ली जाती है, वह स्लेट-पेंसिल उठा लेता है और जब उससे ये भी छीन लिये जाते हैं, वह समझ नहीं पाता कि आगे क्या करे। एक कामगर था, जो पढ़ता भी था और इस शरद में स्कूल की इमारत को गरम रखने का काम भी करता था। उसने दो हफ़्ते में पढ़ना और लिखना सीख लिया, पर यह पढ़ाई नहीं, बल्कि बहुत ज़्यादा शराब पीने जैसी बीमारी थी। कक्षा में लकड़ियां लेकर गुज़रते हुए वह रुक जाता और लकड़ियां उठाये हुए ही किसी लड़के के सिर के ऊपर से झुककर अक्षरों को जोड़ता हुआ पढ़ने लगता – **क-म-ल** कमल, और फिर आगे जाता। जब वह ऐसा नहीं कर पाता, तो लड़कों को ईर्ष्या से, लगभग ग़ुस्से से देखता। मगर जब वह ख़ाली होता, तो उसके साथ कुछ नहीं किया जा सकता था: वह किताब में खो जाता और रटता रहता: **र-आ रा, र-इ रि**, आदि। जब तक वह इस स्थिति में रहता, वह और सब कुछ को समझने की क्षमता से वंचित हो जाता। जब भी वयस्क विद्यार्थियों को गाना, चित्रकारी करना, इतिहास की कोई कहानी सुनना या प्रयोग देखना पड़ता था, तो साफ़ दिखायी दे जाता था कि उन्होंने कठोर आवश्यकता को मन मारकर ही अंगीकार किया है और भूखों जैसे, सामने रखे खाने से वंचित किये हुओं जैसे वे मौक़ा मिलते ही वर्णमाला की किताब पर फिर टूट पड़ते। अपने नियम पर अटल रहते हुए मैं जैसे छोटे बच्चों को उनकी मरज़ी के ख़िलाफ़ वर्णमाला सीखने के लिए मजबूर नहीं करता, वैसे ही बड़ों को अगर उनकी इच्छा वर्णमाला सीखने की है, तो यांत्रिकी या ड्राइंग सीखने के लिए मजबूर नहीं करता था। हर कोई वही लेता था, जिसकी उसे आवश्यकता थी।

कुछ मिलाकर वयस्क, जिन्होंने पहले भी **थोड़ा-बहुत पढ़ा हुआ है**, यास्नाया पोल्याना स्कूल में अभी अपने लिए जगह नहीं बना पाये हैं और उनकी शिक्षा ठीक नहीं चल रही है। स्कूल के प्रति उनके रवैये में कुछ ऐसी बात है, जो अस्वाभाविक और अप्रिय सी लगती है। मैंने

जो रविवासरीय स्कूल देखे हैं, उनमें भी बड़ों के संबंध में वही बात पायी जाती है, और इसलिए वयस्कों की सफल तथा स्वतंत्र शिक्षा के बारे में सभी सूचनाएं हमारे लिए अत्यंत मूल्यवान होंगी।

स्कूल की स्थापना के समय से अब तक उसके बारे में लोगों का दृष्टिकोण काफ़ी बदल गया है। पहले जो सोचा जाता था, वह इतिहास बन चुका है। अब लोग कहते हैं कि यास्नाया पोल्याना स्कूल में सब कुछ सिखाया जाता है। बच्चे समझदार बन जाते हैं, लिखने-पढ़ने लग जाते हैं। कुछ लोग, ख़ास तौर से अमीर सरायमालिक, बच्चों को सीखने-पढ़ने के लिए देना, ताकि वे गुणा-भाग कर सकें (गुणा-भाग को स्कूल में दिये जानेवाले ज्ञान की पराकाष्ठा माना जाता है), अपने लिए बड़प्पन की बात मानते हैं। दूसरे बाप सोचते हैं कि सीखना-पढ़ना बड़े फ़ायदे की चीज़ है। ज़्यादातर लोग बिना सोचे-समझे और ज़माने की रवायत को देखते हुए ही अपने बच्चों को पढ़ने के लिए भेजते हैं। इन बच्चों में से, जिनकी बहुसंख्या है, हमारे लिए सबसे ज़्यादा ख़ुशी का स्रोत वे बच्चे हैं, जिन्हें स्कूल में **यों ही** भेज दिया गया था, मगर जिन्हें सीखने-पढ़ने से इतना प्यार हो गया है कि मां-बाप अब उनकी इच्छा के सामने झुकते हैं और उन्हें स्कूल से हटाने की हिम्मत नहीं कर पाते, क्योंकि अचेतन रूप से महसूस करते हैं कि बच्चों के साथ कुछ अच्छा ही घट रहा है। एक अभिभावक ने मुझे बताया कि कैसे एक बार उसने पूरी मोमबत्ती जला डाली, क्योंकि बेटा किताब पढ़ रहा था। उसने बेटे और किताब, दोनों की बड़ी तारीफ़ की। यह इंजील की किताब थी। "मेरे पिता भी," एक स्कूली लड़के ने बताया, "अगर कोई क़िस्सा-कहानी होगी, तो सुन लेंगे, हंसेंगे और चले जायेंगे। लेकिन अगर यह इंजील हुई, तो आधी-आधी रात तक बैठे रहेंगे और ख़ुद मोमबत्ती पकड़े रहेंगे।" एक बार मैं नये अध्यापक के साथ एक विद्यार्थी के घर गया हुआ था। अध्यापक पर रौब झाड़ने के लिए मैंने लड़के से बीज-गणित का एक सवाल हल करने को कहा। उसकी मां चूल्हे के पास काम कर रही थी और उसे हम भूल ही गये थे। बेटे को एकाग्र होकर जल्दी-जल्दी समीकरण बनाते और २ अ ब–स=द भागे ३, आदि बोलते सुनकर उसने हाथ से अपना मुंह कसकर बंद कर लिया था, ताकि हंसी न फूट पड़े। आख़िरकार वह अपने को और न रोक सकी और हंसी के मारे लोट-पोट हो गयी। हमारे पूछने पर वह बता न सकी कि

क्यों हंस रही है। एक सिपाही बाप जब स्कूल में बेटे से मिलने आया, तो बेटा चित्रकारी की कक्षा में था। बेटे की कला देखकर वह उसे "आप" कहने लगा और उसके लिए जो खाने की चीज़ें लाया था, उन्हें कक्षा में ही उसे देने की हिम्मत न कर पाया। मुझे लगता है कि आम राय यह है: स्कूल में सब कुछ (बड़े लोगों के बच्चों के स्कूलों जैसे) सिखाते हैं, लेकिन बहुत कुछ बेकार ही; पर चूंकि लिखना-पढ़ना जल्दी ही सिखा देते हैं, तो बच्चों को यहां पढ़ने भेजना ग़लत नहीं है। बेशक, ऊटपटांग बातें भी कही जाती हैं, पर अब उनका ज़्यादा असर नहीं पड़ता। हाल में दो अच्छे विद्यार्थियों से इसलिए स्कूल छुड़वा दिया गया कि स्कूल में मानो लिखना नहीं सिखाया जाता। एक और सिपाही बाप भी अपने बेटे को स्कूल में भरती करना चाहता था, पर हमारे सबसे बढ़िया विद्यार्थी की परीक्षा लेकर और यह पाकर कि वह भजनों की किताब को रुक-रुककर पढ़ता है, उसने तय किया कि स्कूल का तो बस नाम ही है, जहां तक उसकी पढ़ाई का सवाल है, तो वह खराब है। यास्नाया पोल्याना का कोई-कोई किसान तो अभी तक डरता है कि पहले की अफ़वाहें कहीं सच न निकलें। उन्हें लगता है कि स्कूल में किसी ख़ास मतलब से पढ़ाया जाता है और एक दिन सभी विद्यार्थियों को गाड़ियों पर लादकर मास्को ले जायेंगे। इस बात को लेकर जो असंतोष था कि स्कूल में बच्चों को पीटते नहीं और छोटे-बड़े का भेद नहीं किया जाता, वह लगभग ख़त्म हो गया है। मैंने प्रायः पाया है कि अपने बच्चे से मिलने आया अभिभावक यह देखकर हैरान रह जाता है कि बच्चे स्कूल में भी दौड़-भाग, शरारतें, ऊधम, आदि करते हैं। उसका विश्वास है कि बच्चों को ऐसे सिर चढ़ाना ठीक नहीं है, हालांकि वह यह भी मानता है कि स्कूल में पढ़ाई अच्छी होती है। दोनों चीज़ें साथ-साथ कैसे चलती हैं, यह वह नहीं समझ पाता। कुछ अभिभावकों के लिए, हालांकि उनकी संख्या ज़्यादा नहीं है, स्कूल में बराबरी की भावना भी असंतोष का कारण बनती है। नवंबर में स्कूल में दो ऐसी लड़कियां – एक अमीर सरायमालिक की बेटियां – थीं, जो टोपी पहनती थीं और शुरू में दूसरों से अलग-थलग रहती थीं, पर पढ़ती अच्छा थीं। एक बार उनका बाप, जिसने आगे से खुला हुआ भेड़ की खाल का कोट पहना हुआ था, स्कूल में आया और उन्हें उसने गंदे किसान बच्चों के साथ बैठा पाया। किसान बच्चे लड़कियों

की टोपी पर हाथ टिकाये अध्यापक को सुन रहे थे। पिता को बुरा लगा और स्कूल से उसने अपनी लड़कियों का नाम कटवा दिया, हालांकि इसका कारण बताने की उसकी हिम्मत न हो पायी।

तो स्कूल में १२ विषय पढ़ाये जाते हैं, ३ कक्षाएं, ४० विद्यार्थी तथा ४ अध्यापक हैं और दिनभर में ५-७ पाठ होते हैं। अध्यापक अपने पाठों का दैनिक विवरण लिखते हैं, रविवार को उससे एक दूसरे को परिचित कराते हैं और तभी अगले सप्ताह के अध्यापन कार्यक्रम भी तैयार किये जाते हैं। इन कार्यक्रमों पर दृढ़ अमल जरूरी नहीं है, क्योंकि विद्यार्थियों के चाहने पर उनमें परिवर्तन किया जा सकता है।

यांत्रिक पठन। पठन भाषा के अध्यापन का एक अंग है। हमारी राय में भाषा के अध्यापन का उद्देश्य विद्यार्थियों को साहित्यिक भाषा में लिखी हुई पुस्तकों की विषयवस्तु को समझने का मार्ग दिखाना है। साहित्यिक भाषा का ज्ञान इसलिए आवश्यक है कि अच्छी किताबें इसी भाषा में होती हैं।

पहले, यानी स्कूल के आरंभिक दिनों में, पठन का यांत्रिक और क्रमिक में विभाजन नहीं किया गया था। विद्यार्थी सिर्फ़ वही पढ़ते थे, जो समझ सकते थे: अपना लिखा हुआ, श्यामपट्ट पर खड़िया से लिखे शब्द तथा वाक्य और बाद में खुद्याकोव और अफ़ानासियेव की बाल-कथाएं। मैं सोचता था कि बच्चे पढ़ना सीख सकें, इसके लिए पठन से प्रेम जरूरी है, और पठन से प्रेम हो, इसके लिए जो पढ़ा जाना है, उसका बोधगम्य तथा रोचक होना जरूरी है। लगता था कि यह सर्वथा स्पष्ट और तर्कसंगत है, मगर वास्तव में यह एक भ्रामक विचार था। पहली बात तो श्यामपट्ट पर लिखे हुए को पढ़ने से किताब में लिखे हुए को पढ़ने पर आने के लिए हर विद्यार्थी को अलग से किसी किताब के यांत्रिक पठन का अभ्यास करवाना जरूरी होता है। विद्यार्थी थोड़े होने और विषयों का विभाजन न होने के कारण ऐसा किया जा सकता था और मैं पहले विद्यार्थियों से बिना किसी खास कठिनाई के किताब में लिखे हुए को पढ़ना शुरू करवा सका। मगर नये विद्यार्थियों के साथ यह संभव न था। छोटे बच्चे अभी इस लायक़ न थे कि परीकथाओं को पढ़ और समझ सकें। शब्दों को जोड़ना और अर्थ समझना, दोनों काम एक साथ कर पाना उनके लिए काफ़ी कठिन होता है। दूसरी असुविधा यह थी कि क्रमिक पठन इन परीकथाओं के साथ ही समाप्त हो

जाता था और हम कोई भी किताब क्यों न लेते, चाहे वह पुश्किन की हो या गोगोल अथवा करामज़िन की, पता चलता कि जैसा छोटे बच्चों के साथ परीकथाओं के मामले में होता है, वैसे ही बड़े विद्यार्थी भी पुश्किन को पढ़ते हुए पढ़ना और समझना, दोनों काम एक साथ नहीं कर पाते थे, हालांकि हमारे पढ़ने पर वे थोड़ा-बहुत तो समझ ही जाते थे।

आरंभ में हमें लगता था कि सारी समस्या विद्यार्थियों के पढ़ने के क्रियातंत्र की कमियों के कारण है। अतः हमने यांत्रिक पठन की तरक़ीब, पठन की प्रक्रिया के लिए पठन की तरक़ीब सोची, जिसमें अध्यापक और विद्यार्थी बारी-बारी से पढ़ते थे। मगर समस्या इससे भी नहीं हल हुई और 'रॉबिन्सन' के पठन के दौरान वही कमी फिर सामने आयी। गरमियों में जब नया सत्र शुरू होता है, हमने इस समस्या को सबसे सरल और इस्तेमाल में आनेवाले तरीक़े से हल करने की सोची। छिपायें क्या, हम आगंतुकों के सामने झूठी शर्म के चक्कर में आ गये थे। (हमारे विद्यार्थी उतना ही समय गिरजे के प्रवाचक के यहां पढ़े बच्चों से कहीं खराब पढ़ते थे।) नये अध्यापक ने सुझाव रखा कि कक्षा में सभी एक ही किताब को ज़ोर-ज़ोर से बोलकर पढ़ें। हमने सुझाव मान लिया। एक बार चूंकि मन में यह ग़लत विचार बैठ गया था कि विद्यार्थियों को इसी साल फर्राटे से पढ़ना आ जाना चाहिए, हमने समय-सारिणी में यांत्रिक पठन और क्रमिक पठन, दोनों को शामिल किया और विद्यार्थियों को रोज़ाना दो-दो घंटे एक सी किताबों से पढ़ने को मजबूर किया। यह हमारे लिए बड़ा सुविधाजनक था। मगर विद्यार्थियों की स्वतंत्रता का एक बार उल्लंघन होने पर दूसरा ग़लत क़दम उठाते देर न लगी। पुश्किन और येर्शोव की बालकथाओं की किताबें खरीदी गयीं। लड़कों को बेंचों पर बिठाया गया। एक को ज़ोर-ज़ोर से पढ़ना था और दूसरों को उसे पढ़ते हुए सुनना और पढ़े को किताब से मिलाना था। सभी ध्यान से सुन रहे हैं या नहीं, यह मालूम करने के लिए अध्यापक बीच-बीच में कभी एक से, तो कभी दूसरे से पूछता रहता था। शुरू में हमें यह बड़ा अच्छा लगा। विद्यार्थी स्कूल में आकर चुपचाप बेंचों पर बैठे हैं, एक पढ़ रहा है और शेष सब किताब में देख रहे हैं। पढ़नेवाला पढ़ता है और अगर उच्चारण में ग़लती करता है, तो दूसरे बच्चे या अध्यापक उसे सुधारते हैं और सब किताब में देखते रहते हैं। फिर

किसी और से पढ़ने को कहा जाता है। वह किताब में वह जगह ज़रा खोजता है, जहां पढ़ा जा रहा है, और पढ़ने लगता है। सब ध्यान लगाये हुए हैं, अध्यापक अगर कुछ कहता है, तो उसे भी सुनते हैं, हर शब्द का सही-सही उच्चारण किया जाता है और काफ़ी फर्राटे से पढ़ा जाता है। लगता है कि सब ठीक है, मगर ज़रा गहराई में जायें, तो आप पायेंगे कि जो लड़का पढ़ रहा है, वह उसी चीज़ को तीसवीं या चालीसवीं बार पढ़ रहा है। (छपा हुआ एक फ़र्मा हफ़्ते भर से ज़्यादा नहीं चलता, जबकि हर बार नयी किताबें ख़रीदना बेहद महंगा पड़ता है, और फिर किसानों के बच्चों की समझ में आनेवाली किताबें भी दो ही हैं – ख़ुद्याकोव और अफ़ानासियेव की परीकथाएं। इसके अलावा एक कक्षा द्वारा पढ़ी हुई और कुछेक द्वारा कंठाग्र कर ली गयी किताब से सभी स्कूली बच्चे ही परिचित नहीं हो जाते, बल्कि घरवाले तक उससे ऊब जाते हैं।) पढ़नेवाला कमरे की ख़ामोशी में अपनी अकेले गूंजती आवाज़ सुनते हुए संकोच महसूस करता है, उसकी सारी शक्ति चिह्नों और स्वराघातों को ध्यान में रखने पर केंद्रित रहती है। धीरे-धीरे उसकी अर्थ को समझे बिना पढ़ने की आदत बन जाती है, क्योंकि उसपर दूसरी अपेक्षाओं का बोझ होता है। सुननेवाले भी वही करते हैं और पूछे जाने पर किताब में सदा सही जगह बता पाने की उम्मीद में पंक्तियों के नीचे लगातार उंगली चलाते जाते हैं और ऊब के मारे चुपके-चुपके दूसरी बातों से मन बहलाते रहते हैं। जो पढ़ा जा रहा है, उसका अर्थ एक बाहरी चीज़ होने के कारण उनकी इच्छा के विरुद्ध उनके दिमाग़ में कभी बैठता है और कभी नहीं। सबसे बड़ा नुक़सान तो विद्यार्थियों और अध्यापक के बीच चालाकी और छल-कपट का यह शाश्वत स्कूली संघर्ष है, जो ऐसी हालत में बढ़ता है और जो हमारे स्कूल में इससे पहले एक अनजानी चीज़ था। पठन की इस विधि का एकमात्र फ़ायदा शब्दों का सही उच्चारण है, मगर हमारे विद्यार्थियों के लिए वह बेमानी था। हमारे विद्यार्थियों ने अपने ही से लिखे और बोले हुए शब्दों से पढ़ना शुरू किया था और इसलिए वे जानते थे कि कोई शब्द कैसे लिखा और कैसे उच्चारित किया जाता है। जहां तक यह सीखने का सवाल है कि विराम-चिह्नों के मुताबिक कहां रुकना है या आवाज़ को चढ़ाना-उतारना है, तो मैं समझता हूं कि यह निरर्थक है, क्योंकि हर पांचवर्षीय बच्चा जब जानता है कि क्या कह रहा है, तो आवाज़ से

विराम-चिह्नों का ठीक-ठीक ही प्रयोग करता है। कहने का मतलब यह है कि बच्चा किताब को देखकर जो बोल रहा है, उसे समझना सिखाना कहीं आसान है (देर-सबेर उसे इस लायक़ बनना ही होगा), बजाय स्वरलिपि जैसे विराम-चिह्नों के मुताबिक आवाज़ को चढ़ाना-उतारना सिखाने के। है न यह अध्यापक के लिए बड़ा सुविधाजनक !

हर अध्यापक न जानते हुए भी सदा अपने लिए सबसे सुविधाजनक अध्यापन विधि खोजने की कोशिश करता है। कोई अध्यापन विधि अध्यापक के लिए जितनी सुविधाजनक होगी, विद्यार्थी के लिए वह उतनी ही असुविधाजनक होगी। पढ़ाने का वही ढंग ठीक है, जिससे विद्यार्थी संतुष्ट रहते हैं।

अध्यापन के इन तीन नियमों ने यास्नाया पोल्याना स्कूल में यांत्रिक पठन पर बहुत ही साफ़-साफ़ अपनी छाप छोड़ी।

स्कूल की भावना के स्थायित्व की बदौलत और विशेषतः जब पुराने विद्यार्थी खेतीबाड़ी के कामों के बाद स्कूल लौटे, तो यांत्रिक पठन स्वतः कम होता गया : विद्यार्थी उसके पाठ से ऊबने तथा कतराने और उसके दौरान शरारतें करने लगे थे। फिर मुख्य बात यह थी कि यांत्रिक पठन की सफलता की कसौटी कहानियों के सुनाये जाने ने दिखाया कि कोई सफलता नहीं मिली है, कि पांच हफ़्ते में एक क़दम भी आगे नहीं बढ़ा गया है, बल्कि, उल्टे, बहुत सारे पिछड़ ही गये हैं। पहली कक्षा का गणित में सबसे तेज़ विद्यार्थी र०, जो वर्गमूल के सवाल बिना लिखे ही हल कर लेता था, इस बीच में पढ़ना इस हद तक भूल गया कि उसे नये सिरे से पढ़ना, वर्णों को जोड़ना सिखाना पड़ा। हमने किताबों से पढ़ना छोड़ दिया और यांत्रिक पठन का कोई और तरीक़ा ढूंढ़ने लगे। और बिल्कुल हाल में हम इस सीधे-सादे से निष्कर्ष पर पहुंचे कि अच्छे यांत्रिक पठन का वक़्त अभी नहीं आया है, कि अभी उसकी कोई आवश्यकता नहीं है और जब होगी, तब विद्यार्थी उसकी सर्वोत्तम विधि ख़ुद ही खोज निकालेंगे। हमारी इस तलाश के दौरान स्वतः ही निम्न स्थिति उत्पन्न हुई। पठन की कक्षाओं में, जो सिर्फ़ नाम को ही क्रमिक और यांत्रिक पठन की कक्षाओं में विभाजित होती हैं, सबसे ख़राब पढ़नेवाले दो-दो करके किताबें लेते हैं (जो कभी परीकथाएं होती हैं, तो कभी इंजील, कभी गीत-संग्रह और कभी 'नरोद्नोये च्तेनिये' के अंक) और दोनों सिर्फ़ पठन की प्रक्रिया के लिए पढ़ते हैं, लेकिन जब यह किताब आसान परीकथा

की किताब होती है और समझ में आ जाती है, तो मांग करते हैं कि अध्यापक उन्हें सुने, हालांकि यह कक्षा यांत्रिक पठन की कक्षा कहलाती है। कभी-कभी, अधिकांशतः पढ़ने में सबसे कमज़ोर बच्चे एक ही किताब को कई-कई बार लेते हैं, हर बार उसी पृष्ठ को खोलते है और हर बार उसी कहानी को पढ़ते हैं और न सिर्फ़ अध्यापक के कहे बिना, बल्कि उसके मना करने के बावजूद उसे कंठस्थ कर लेते हैं। कभी-कभी ये कमज़ोर विद्यार्थी अध्यापक के पास या अपने से बड़े किसी विद्यार्थी के पास आते हैं और उससे अपने साथ पढ़ने का आग्रह करते हैं। जो पढ़ने में अच्छे होते हैं और दूसरी कक्षा के विद्यार्थी हैं, वे दूसरों के साथ बैठकर पढ़ना सबसे कम पसंद करते हैं, मात्र पठन की प्रक्रिया के लिए विरले ही पढ़ते हैं और अगर कुछ कंठाग्र कर लेते हैं, तो यह कोई कविता होती है, न कि गद्य में लिखी हुई परीकथा। उनसे बड़ों के साथ भी ऐसा ही होता है, केवल एक ख़ास बात को छोड़कर, जिसने पिछले महीने मुझे आश्चर्यचकित कर डाला। उनकी क्रमिक पठन की कक्षा में उन्हें कोई एक किताब दी जाती है, जिसे वे बारी-बारी से पढ़ते हैं और फिर सभी मिलकर बताते हैं कि उसमें क्या कहा गया था। इस शरद से च० नाम का एक अत्यंत प्रतिभाशाली लड़का भी उनके साथ पढ़ने लगा है। इससे पहले उसने दो साल गिरजादार के यहां शिक्षा पायी थी, इसलिए वह पठन में सबसे आगे रहता है। वह हमारी ही तरह पढ़ता है और इसलिए क्रमिक पठन में जो पढ़ा जा रहा है, विद्यार्थी उसे सिर्फ़ तभी समझते हैं, चाहे कम ही सही, जब च० पढ़ता है। इसके साथ ही हर विद्यार्थी खुद भी पढ़ना चाहता है। लेकिन ज्यों ही कोई ख़राब पढ़नेवाला पढ़ने लगता है, ख़ास तौर से अगर यह कोई दिलचस्प कहानी है, तो सब अपना असंतोष प्रकट करने लग जाते हैं, हंसी उड़ाते हैं, नाराज़ होते हैं, पढ़नेवाला शर्म से गड़ जाता है और अंतहीन बहसें होने लगती हैं। पिछले महीने उनमें से एक ने घोषणा की कि जैसे भी हो, हफ़्ते भर बाद वह च० की भांति पढ़ने लगेगा। दूसरों ने भी ऐसा ही प्रण किया और सहसा यांत्रिक पठन एक मनपसंद कार्य बन गया। वे घंटे-घंटे, डेढ़-डेढ़ घंटे किताब पर सिर झुकाये बैठे रहते, हालांकि समझ में बहुत कम आता। वे किताब घर भी ले जाने लगे। नतीजे के तौर पर तीन ही हफ़्ते बाद उन्होंने ऐसी सफलताएं दिखायीं कि जिनकी उम्मीद भी नहीं की जा सकती थी।

उनके साथ उससे बिल्कुल उल्टा हुआ, जो आम तौर पर पढ़े-लिखों के साथ होता है। आम तौर पर यह होता है कि आदमी पढ़ना तो सीख लेता है, पर पढ़ने और समझने को कुछ नहीं होता। लेकिन यहां हुआ यह कि विद्यार्थियों को विश्वास हो गया कि पढ़ने और समझने के लिए सामग्री की कमी नहीं है, कि इसके लिए सिर्फ़ उनकी योग्यता ही पूरी नहीं पड़ती। नतीजे के तौर पर वे खुद ही द्रुत पठन की योग्यता हासिल करने के लिए प्रयास करने लगे। अब हमने यांत्रिक पठन पूरी तरह त्याग दिया है और सब कुछ वैसे किया जाता है, जैसे ऊपर बताया गया है: हर विद्यार्थी को वे सब तरीक़े इस्तेमाल करने दिये जाते हैं, जो उसके लिए सुविधाजनक हैं। उल्लेखनीय बात तो यह है कि हर कोई मुझे मालूम सभी तरीक़े इस्तेमाल करता है; यानी १) अध्यापक के साथ पठन, २) पठन की प्रक्रिया के लिए पठन, ३) कंठस्थ करने के लिए पठन, ४) मिल-जुलकर पठन और ५) पढ़े हुए को समझने के साथ-साथ पठन।

पहला तरीक़ा, जिसे सारी दुनिया की मांएं इस्तेमाल करती हैं, वास्तव में स्कूली नहीं, बल्कि घरेलू, पारिवारिक तरीक़ा है। उसका सार यह है कि विद्यार्थी आता है और अपने साथ पढ़ने का आग्रह करता है; अध्यापक पढ़ता है और हर वर्ण-संयोजन और शब्द से उसे परिचित कराता है। यह सबसे पहला तथा सबसे तर्कसंगत तरीक़ा है और उसकी जगह और कोई तरीक़ा नहीं ले सकता। सबसे पहले विद्यार्थी ही इसकी मांग करता है और अध्यापक भी अनजाने ही उसे अपना लेता है। कहने को अध्यापन का यंत्रीकरण करने और बहुत अधिक विद्यार्थियोंवाले अध्यापक का काम आसान बनानेवाले सभी साधनों के बावजूद यह विधि आज भी पढ़ना ही नहीं, बल्कि फर्राटे से पढ़ना भी सिखाने की सर्वोत्तम और एकमात्र विधि है। पढ़ने का **दूसरा** तरीक़ा – वह भी काफ़ी लोकप्रिय है और हर फर्राटे से पढ़नेवाला उससे गुज़रा है– यह है कि विद्यार्थी को किताब दे दी जाती है और खुद अक्षर, शब्द, आदि जोड़ने तथा उनका अर्थ समझने के लिए छोड़ दिया जाता है। जो विद्यार्थी इतना जोड़ना सीख जाता है कि किसी से अपने साथ पढ़ने का अनुरोध करने की आवश्यकता अनुभव नहीं करता और अपने पर ही भरोसा रखता है, वह पढ़ने की प्रक्रिया में आनंद पाता है और फलस्वरूप आगे बढ़ता है। मालूम नहीं कि इस प्रकार के पठन को उसका मस्तिष्क कैसे

ग्रहण करता है, पर इस ढंग से वह अक्षरों की आकृति, उन्हें जोड़ने की प्रक्रिया तथा उनके उच्चारण का और यहां तक कि उन्हें समझने का भी आदी बनता है, हालांकि मैंने खुद पाया है कि इस आग्रह के कारण हम कैसे पिछड़ गये कि विद्यार्थी पढ़े हुए को अवश्य समझे। ऐसे बहुत से स्वयंशिक्षित लोग हैं, जिन्होंने इस ढंग से काफ़ी अच्छा पढ़ना सीखा है, हालांकि इसकी कमियां भी हर किसी को दिखायी दे जानी चाहिए। पढ़ना सीखने का **तीसरा** तरीक़ा प्रार्थनाओं, कविताओं या जो छपा हुआ है, उसे रटकर याद कर लेना और रटे हुए को किताब पर नज़र रखते हुए बोलते जाना है। **चौथा** तरीक़ा वह है, जो यास्नाया पोल्याना स्कूल में इतना हानिकारक सिद्ध हुआ, यानी एक ही किताब से पढ़ना। वह हमारे स्कूल में अपने आप ही पैदा हुआ था। आरंभ में किताबें पूरी नहीं पड़ती थीं और दो-दो विद्यार्थी एक किताब को लेकर बैठते थे। बाद में खुद उन्हें यह पसंद आ गया और जब कहा जाता: "पढ़ो!" तो एक जैसी योग्यतावाले साथी दो-दो और कभी तीन-तीन के गिरोहों में बंटकर एक किताब के साथ बैठ जाते और तब एक पढ़ता तथा दूसरे उसे सुनते। अगर कहीं वह ग़लती करता, तो उसे सुधारते। अगर आप उन्हें दूसरे ढंग से बिठाने की कोशिश करते, तो सब गड़बड़ा जाता, क्योंकि वे खुद जानते हैं कि कौन किसकी बराबरी का है। कुछ को ऐसा मिल-जुलकर पढ़ना क़तई पसंद नहीं है, क्योंकि उनके लिए वह अनावश्यक है। ऐसे संयुक्त पठन का फ़ायदा यह है कि बोलने का ढंग अधिक सही बन जाता है और जो पढ़ नहीं रहा, बल्कि क़िताब से मिला रहा होता है, उसे समझने के लिए ज़्यादा गुंजायश मिल जाती है। मगर ऐसे तरीक़े से होनेवाला हर लाभ हानि में बदल जाता है, ज्यों ही इस तरीक़े को सारे स्कूल पर लागू किया जाता है। ऐसा ही अन्य तरीक़ों के मामले में भी होता है। अंत में, हमारा अभी भी प्रिय **पांचवां**, क्रमिक पठन का तरीक़ा आता है। इसमें दिलचस्पी के साथ और समझते जाते हुए उत्तरोत्तर जटिल किताबें पढ़ी जाती हैं। ये सभी तरीक़े, जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, स्कूल में अपने आप ही इस्तेमाल होने लगे। नतीजे के तौर पर एक ही महीने में काफ़ी प्रगति कर ली गयी।

अध्यापक का काम सिर्फ़ उन सभी ज्ञात-अज्ञात तरीक़ों को सुझाना है, जो विद्यार्थी का पढ़ाई का काम आसान बना सकते हैं। बेशक किसी

एक तरीक़े, उदाहरणार्थ, एक ही किताब से सबके पढ़ने के तरीक़े को अपनाने पर अध्यापन आसान बन जाता है, अध्यापक के लिए सुविधा-जनक होता है और संतुलित तथा ठीक प्रतीत होता है, फिर भी हमारी व्यवस्था में यह न सिर्फ़ कठिन है, बल्कि बहुतों को असंभव भी लगता है। उदाहरण के लिए, ये लोग कहेंगे: यह कैसे मालूम किया जाये कि किस विद्यार्थी को क्या चाहिए और उसकी मांग उचित है या नहीं? सबके लिए एक साझे तरीक़े के अभाव में व्यष्टिक विद्यार्थी क्या इस पंचमेल भीड़ में खो नहीं जायेगा? इसका जवाब यह है: कठिनाई इसलिए प्रतीत होती है कि हमें स्कूल के बारे में इस पुराने दृष्टिकोण से छुटकारा नहीं मिल पा रहा है कि वह सिपाहियों की अनुशासित टुकड़ी जैसा है, जिसकी कमान आज एक अफ़सर के हाथ में है, तो कल दूसरे अफ़सर के हाथ में होगी। स्कूल की आज़ादी के अभ्यस्त अध्यापक के लिए हर विद्यार्थी एक विशिष्ट चरित्र होता है, जिसकी अपनी आवश्यकताएं होती हैं, जिन्हें केवल चयन की स्वतंत्रता ही तुष्ट कर सकती है। अगर स्वतंत्रता न होती और बाहरी अव्यवस्था न होती, जो कुछ लोगों को इतनी विचित्र और अकल्पनीय लगती हैं, तो हम न सिर्फ़ कभी पठन के इन पांच तरीक़ों पर न पहुंचते, बल्कि उनका विद्यार्थियों की आवश्यकताओं के अनुरूप इस्तेमाल भी न कर पाते और इसलिए कभी वे शानदार सफलताएं भी न पा सकते, जो पठन में हमने पिछले समय में हासिल की हैं। कितनी ही बार हमने अपने मेहमानों को संभ्रम में पड़ा हुआ देखा है, जो दो ही घंटे में हमारी अध्यापन विधि का अध्ययन कर लेना चाहते थे, जो हमारे पास थी भी नहीं, और इन्हीं दो घंटों के दौरान हमें अपनी विधि भी बताते रहे थे। कितनी ही बार हमें ऐसे मेहमानों से वही विधि अपनाने की सलाह सुननी पड़ी है, जिसे वे पहचान नहीं पाये, पर जो उनकी ही आंखों के सामने हमारे स्कूल में इस्तेमाल की जा रही थी – बेशक सब पर समान रूप से लागू होनेवाले निरंकुश नियम के रूप में नहीं।

क्रमिक पठन। यद्यपि, जैसा कि हमने ऊपर बताया, यांत्रिक पठन और क्रमिक पठन वास्तव में मिलकर एक हो गये थे, हमारे लिए इन दो विषयों में उनके उद्देश्यों के अनुसार भेद अभी भी बना हुआ है। हमारे मत में पहले का उद्देश्य ज्ञात चिह्नों से जल्दी-जल्दी शब्द बनाने में निपुण होना है और दूसरे का उद्देश्य साहित्यिक भाषा का ज्ञान प्राप्त

करना। साहित्यिक भाषा से परिचय के लिए हमें जो साधन सूझा, वह देखने में तो सबसे सरल था, पर वास्तव में था सबसे कठिन। हम सोचते थे कि विद्यार्थियों द्वारा श्यामपट्ट पर खुद लिखे वाक्यों को पढ़ने के बाद उन्हें खुद्याकोव और अफ़ानासियेव की परीकथाएं दी जानी चाहिए, इसके बाद कोई ऐसी चीज़ कि जिसकी भाषा कुछ अधिक कठिन तथा जटिल हो, इसके बाद कोई और भी कठिन चीज़, और इस तरह जब तक कि विद्यार्थी करामज़िन तथा पुश्किन की भाषा और क़ानूनों की भाषा न समझने लगें। मगर हमारी अधिकांश कल्पनाओं की भांति, बल्कि कहें, तो सभी कल्पनाओं की भांति, यह कल्पना भी साकार न बन पायी। उनकी अपनी, उनके द्वारा स्वयं ही श्यामपट्ट पर लिखी हुई भाषा से मैं उन्हें परीकथाओं की भाषा पर तो लाने में सफल रहा, पर इन परीथाओं की भाषा से अधिक ऊंचे स्तर की भाषा पर लाने के लिए साहित्य में "कोई" उपयुक्त चीज़ नहीं थी। हमने 'रॉबिन्सन' को आज़माया, पर काम नहीं बन सका: कुछ विद्यार्थी तो अफ़सोस के मारे रोते थे कि नहीं समझ पा रहे हैं और इसलिए अपने शब्दों में दोहरा भी नहीं सकते हैं। तब मैं उन्हें अपने शब्दों में बताने लगा। इस तरह इस दुर्बोध कहानी को समझने की संभावना में उनका विश्वास पैदा हुआ और उसके अर्थ में वे पैठने लगे। महीने भर में उन्होंने 'राबिन्सन' पढ़ डाला, मगर रुचिपूर्वक नहीं और अंत में तो लगभग नाक-भौं सिकोड़ते हुए। यह उनके लिए बहुत ही मेहनत का काम था। वे ज़्यादातर याद कर लेते थे और एक शाम में जितना पढ़ा होता था, उसे तुरंत सुना डालते थे। याद भी टुकड़े किये जाते थे और सारी अंतर्वस्तु कोई भी आत्मसात् नहीं कर पाता था। अफ़सोस की बात है कि आखिर में कुछ समझ में न आनेवाले शब्द ही याद रहते, जिन्हें फिर वे अधपढ़े लोगों की तरह मौक़े-बेमौक़े इस्तेमाल करने लगते। मैं देखता था कि यह ठीक नहीं है, पर इस स्थिति को सुधारा कैसे जाये, यह नहीं जानता था। अपने को आज़माने और अंत:करण को तसल्ली देने के वास्ते मैं उन्हें तरह-तरह की लोक पैरोडियां पढ़ने के लिए देने लगा, हालांकि पहले से जानता था कि वे पसंद नहीं आयेंगी। मेरा अनुमान सही निकला। उनकी विषयवस्तु अपने शब्दों में बताने को कहे जाने पर हम पाते हैं कि ये किताबें विद्यार्थियों के लिए सबसे ज़्यादा उबाऊ होती हैं। किसी बच्चे को ऐसी किताब

दी जाती, तो उसका चेहरा लटक जाता और वह जंभाइयां लेने लगता। "नहीं, लेव निकोलायेविच, यह किताब मेरी समझ में नहीं आयेगी" कहते हुए वह किताब वापस कर देता। हमारी समझ में नहीं आता कि ये किताबें कौन और किसके लिए लिखता है। हमारे द्वारा पढ़ी गयी ऐसी किताबों में से ज़ोलोतोव की 'क़िस्सागो दादा' को छोड़कर, जो स्कूल और घर में बड़ी पसंद की गयी, कोई भी किताब अब याद नहीं रही है।

इस तरह की कुछ किताबें तो सरासर घटिया स्तर की, खराब साहित्यिक भाषा में लिखी हुई रचनाएं होती हैं। आम लोग उन्हें नहीं पढ़ते, इसीलिए उन्हें जनता को समर्पित किया जाता है। दूसरी और भी घटिया किताबें होती हैं, जो रूसी में नहीं, बल्कि किसी नयी गढ़ी गयी और कहने को जनता की भाषा में लिखी होती हैं। तीसरी जनता के लिए लिखी गयी विदेशी किताबों की, जो जन साहित्य की श्रेणी में क़तई नहीं आतीं, नक़ल होती हैं। अकेली किताबें जो जनता की समझ में आती हैं और उसकी रुचि के मुताबिक होती हैं, ये वे किताबें हैं, जिन्हें जनता के लिए नहीं, बल्कि जनता के बीच से लिखा जाता है, जैसे परीकथाएं, लोकोक्तियां, गीतों, किंवदंतियों, कविताओं तथा पहेलियों के संग्रह, पिछले दिनों में प्रकाशित वोदोवोज़ोव का संकलन, आदि। खुद देखे बिना विश्वास नहीं होता कि इस तरह की सभी किताबें, यहां तक कि 'रूसी जनता की लोकगाथाएं', अनुश्रुतियां, गीत, स्नेगिर्योव की लोकोक्तियां, इतिहास पुस्तकें और प्राचीन साहित्य की सभी रचनाएं कितने और निरंतर बढ़ते चाव से पढ़ी जाती हैं। मैंने पाया है कि उन्हें पढ़ने के लिए बच्चों में बड़ों की अपेक्षा कहीं ज़्यादा उत्साह होता है। वे उन्हें कई-कई बार पढ़ जाते हैं, कंठस्थ कर लेते हैं, घर ले जाने में आनंद पाते हैं और खेलों तथा बातों में एक दूसरे को प्राचीन अनुश्रुतियों तथा गीतों से लिये हुए नाम देते हैं। बड़े शायद इसलिए कि वे उतने सहज नहीं रह गये हैं अथवा उन्हें किताबी भाषा की शेखी बघारने का चस्का लग रहा है, या शायद इसलिए कि अचेतन रूप से साहित्यिक भाषा को जानने की आवश्यकता महसूस करते हैं, इस तरह की किताबों को ज़्यादा पसंद करते हैं, जिनके आधे शब्द, बिंब और विचार उनकी समझ में नहीं आते। मगर विद्यार्थियों को इस तरह की किताबें कितनी भी पसंद क्यों न हों, हमने

अपने सामने, चाहे ग़लती से ही सही, जो उद्देश्य रखा है, वह उनसे पूरा नहीं होता है: इन किताबों और साहित्यिक भाषा के बीच खाई ज्यों की त्यों बनी रहती है। इस दुश्चक्र से निकलने का हमें अब तक कोई उपाय नहीं सूझ सका है, हालांकि हम निरंतर नयी कोशिशें करते रहते हैं और नयी अटकलें लगाते रहते हैं। हम जानने की कोशिश करते हैं कि हमसे कहां ग़लती हुई है, और जिन्हें इस ध्येय से सहानुभूति है, उन सबसे हम अपने सुझाव भेजने, अपने अनुभव और अपने समाधानों से हमें अवगत कराने का अनुरोध करते हैं। हम इस प्रश्न का समाधान ढूंढ रहे हैं: जनता के शिक्षित होने के लिए ज़रूरी है कि उसे अच्छी किताबें पढ़ने का मौक़ा मिले और उसमें इसकी इच्छा भी हो। मगर अच्छी किताबें ऐसी भाषा में लिखी होती हैं, जिसे जनता नहीं समझती। समझना सीखने के लिए बहुत पढ़ना ज़रूरी है और ख़ुशी-ख़ुशी पढ़ने के लिए समझना ज़रूरी है.... तो यहां ग़लती कहां है और इस स्थिति से निकास क्या है?

हो सकता है कि बीच की कड़ी का काम करनेवाला साहित्य उपलब्ध है, मगर हम ज्ञानाभाव के कारण उसे नहीं मानते। शायद जनता के बीच प्रचलित किताबों के अध्ययन, और इन किताबों के बारे में उसके रवैये से हम मालूम कर सकते हैं कि आम लोग साहित्यिक भाषा को कैसे हृदयंगम कर पाते हैं।

हमारी पत्रिका का एक विशेष खंड इन्हीं प्रश्नों को समर्पित होगा और इस काम के महत्त्व को समझनेवाले सभी लोगों से हम इस विषय में अपने लेख, आदि भेजने का अनुरोध करते हैं।

संभवतः उपरोक्त बातों का कारण हमारा जनता से कटा होना और उच्च वर्ग की बलात् शिक्षा है और यहां हमारी मदद सिर्फ़ समय कर सकता है, जो पाठ्यपुस्तक को नहीं, बल्कि एक पूरे संक्रमणात्मक साहित्य को जन्म देगा। इस साहित्य में आजकल प्रकट हो रही सभी किताबें शामिल होंगी और वह क्रमिक पठन की सभी ज़रूरतों को भी पूरा करेगा। अथवा हो सकता है कि कारण यह हो कि जनता हमारी साहित्यिक भाषा को नहीं समझती है और न समझना ही चाहती है, क्योंकि उसमें उसके समझने के लिए कुछ नहीं है, क्योंकि हमारा सारा साहित्य उसके लिए बेकार है और वह अपने लिए अपना साहित्य स्वयं रचती है। अंत में हमारा आखिरी अनुमान, जो हमें यथार्थ के सबसे

अधिक निकट लगता है, वह यह है कि कथित ग़लती प्रश्न के सार में नहीं है, बल्कि हमारे इस विचार से बंधे होने में है कि भाषा के शिक्षण का उद्देश्य विद्यार्थी को साहित्यिक भाषा का ज्ञान प्रदान करना है। ग़लती मुख्य रूप से यह है कि हम इस लक्ष्य को पाने में जल्दबाज़ी दिखाते हैं। बिल्कुल संभव है कि हम क्रमिक पठन का जो रूप देखना चाहते हैं, वह रूप अपने आप ही प्रकट हो जायेगा और समय आने पर हर विद्यार्थी साहित्यिक भाषा का ज्ञान खुद ही पा लेगा, जैसा कि हम उन लोगों के मामले में प्रायः देखा करते हैं, जो बिना समझे-बूझे प्रार्थना की किताब, उपन्यास, अदालती दस्तावेज़, आदि सब कुछ पढ़ते हैं और इस तरीक़े से धीरे-धीरे किताबी भाषा को समझने लग जाते हैं। किसी शब्द, मसलन "प्रभाव" का अर्थ समझाते हुए आप इस शब्द की जगह कोई दूसरा, इतना ही दुर्बोध शब्द या कई शब्द रख लेते हैं, जिनका संबंध उतना ही अस्पष्ट होता है जितना कि स्वयं शब्द।

जो समझ में नहीं आता है, वह लगभग हमेशा स्वयं शब्द नहीं होता है। विद्यार्थी तो उस संकल्पना से भी परिचित नहीं होता, जो उस शब्द द्वारा प्रकट की गयी है। यदि विद्यार्थी संकल्पना से परिचित है, तो शब्द से भी लगभग हमेशा परिचित हो ही जायेगा। शब्द का विचार से संबंध और नयी संकल्पनाओं का निर्माण आत्मा की एक ऐसी जटिल, रहस्यमय और नाज़ुक प्रक्रिया है कि उसमें किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप एक ऐसी भोंडी, फूहड़ शक्ति का काम करेगा, जो विकास की प्रक्रिया को रोकती है। समझना – कहना आसान है, मगर हर कोई जानता है कि कोई एक किताब पढ़ते हुए एक साथ कितनी विभिन्न बातें समझी जा सकती हैं। कोई विद्यार्थी हो सकता है कि वाक्य में दो-तीन शब्दों को बिना समझे ही, विचार के सूक्ष्म भेद को अथवा पूर्ववर्ती से उसके संबंध को समझ जाये। आप अध्यापक लोग सदा समझने के एक ही पहलू पर ज़ोर देते हैं, मगर विद्यार्थी को वह चीज़ क़तई नहीं चाहिए, जो आप उसे समझाना चाहते हैं। कभी-कभी वह समझ तो जाता है, पर आपको बता नहीं पाता कि आप जो चाहते थे, वह उसने समझ लिया है। दूसरी ओर, इसके साथ ही वह अस्पष्ट रूप से एक बिल्कुल दूसरी चीज़ भी समझता तथा ग्रहण करता है, जो उसके लिए बड़ी उपयोगी है तथा महत्त्व रखती है। आप आग्रह

करते हैं कि वह बताये कि उसने क्या समझा है, पर उसे तो शब्दों में उस प्रभाव को समझाना होता है, जो शब्दों ने उसपर डाला है, और वह या तो चुप रहता है, या फिर बेसिर-पैर बातें बोलने लगता है, झूठ कहता है, धोखा देता है, जो आपको चाहिए, उसे भांपने की, अपने को आपके मन मुताबिक दिखाने की कोशिश करता है, या फिर झूठमूठ कठिनाइयां गढ़ता है और उनका रोना रोता है। ऐसे में पुस्तक ने उसपर जो सामान्य प्रभाव छोड़ा था और जिस काव्य-बोध ने उसे अर्थ को भांपने में मदद की थी, वे दोनों दब जाते हैं और छिप जाते हैं ...

आवश्यकता इस बात की है कि विद्यार्थी को वाक्य के सामान्य अर्थ से नयी संकल्पनाएं और शब्द सीखने के मौक़े दिये जायें। किसी अबोधगम्य शब्द को वह एक बार बोधगम्य वाक्य में सुनेगा या पढ़ेगा, फिर किसी दूसरे वाक्य में, इस तरह नयी संकल्पना उसके सामने थोड़ा-थोड़ा करके उभरने लगेगी और आखिरकार वह इस शब्द को प्रयोग करने की आवश्यकता एकाएक महसूस कर बैठेगा। फिर जब एक बार प्रयोग कर लेगा, तो शब्द और संकल्पना, दोनों ही उसकी संपत्ति बन जायेंगे। हज़ारों दूसरे रास्ते भी हैं। मगर मैं समझता हूं कि विद्यार्थी को सचेतन रूप से नयी संकल्पनाएं और शब्द-रूप सिखाना वैसे ही असंभव और निरर्थक है, जैसे बच्चे को संतुलन के नियमों के अनुसार चलना सिखाना।

ऐसी हर कोशिश विद्यार्थी को वांछित लक्ष्य के नज़दीक नहीं लाती, बल्कि दूर ही ठेलती है। वह उस अनाड़ी हाथ की तरह है, जो फूल को खिलने में मदद करने की इच्छा से पंखुड़ियों को खोलने लगा, मगर वास्तव में उन्हें तोड़ ही बैठा।

लेखन, व्याकरण और सुलेख। लेखन का अभ्यास निम्न प्रकार से कराया जाता था। विद्यार्थी अक्षरों को पहचानना और लिखना, शब्दों को बनाना और लिखना, पढ़े हुए को समझना और लिखना साथ-साथ सीखते थे। वे दीवार के पास खड़े होते थे, खड़िया से आपस में उसके हिस्से बांट लेते थे, फिर एक लड़का इमला बोलता था और बाक़ी लिखते थे। यदि तादाद ज़्यादा होती, तो वे कई समूहों में बंट जाते। बाद में बारी-बारी से दूसरे इमला बोलते और एक दूसरे के लिखे को पढ़ते। सभी छपाई के अक्षरों में लिखते और एक दूसरे की ग़लतियां

भी ठीक करते। यह कक्षा अपने आप ही बनी है। जो भी लिखना सीख लेता है, उसपर तो जैसे लिखने का भूत सवार हो जाता है और शुरू में स्कूल और जिन मकानों में विद्यार्थी रहते हैं, उनके दरवाजे, बाहरी दीवारें, सब कुछ अक्षरों और शब्दों से रंग जाते हैं। पूरे वाक्य को लिखने में और भी ज़्यादा मज़ा आता है। यह कक्षा गठित करने के लिए अध्यापक को विद्यार्थियों को सिर्फ़ यह सिखाना पड़ा कि मिल-जुलकर काम कैसे करना है – ठीक वैसे ही, जैसे कोई वयस्क बच्चों को कोई सामूहिक खेल खेलना सिखाता है। और सचमुच, यह कक्षा बिना किसी तब्दीली के दो वर्ष तक चली, और हर बार उसमें वैसी ही ज़िंदादिली तथा उल्लास दिखायी देते थे, जैसे किसी अच्छे खेल में दिखायी देते हैं। इस कक्षा में पठन, उच्चारण, लेखन और व्याकरण, सब पर ध्यान दिया जाता है। भाषा सीखना शुरू करने के लिए जो सबसे कठिन चीज़ होती है, वह लेखन में स्वतः ही हासिल हो जाती है। और यह चीज़ है शब्द के, छपे हुए शब्द ही नहीं, बल्कि मौखिक शब्द के भी, **अपने** शब्द के भी रूप की अटलता में विश्वास। मैं सोचता हूं कि इस पहली कठिनाई से हर अध्यापक का साक्षात्कार हुआ होगा। आप विद्यार्थी का ध्यान किसी शब्द की ओर आकृष्ट करना चाहते हैं। मान लें कि यह शब्द **मुझे** है। आप विद्यार्थी के ही मुंह से निकले इस वाक्य को पकड़ लेते हैं: "मिकीश्का ने **मुझे** बरामदे से नीचे धकेला।" "किसे धकेला?" आप पूछते हैं और "**मुझे**" शब्द को पुनः सुनने की आशा में उस विद्यार्थी से अपना वाक्य दोहराने को कहते हैं। मगर जवाब मिलता है: "**हमें**।" "नहीं, पहले तुमने क्या कहा था?" आप पूछते हैं। "मिकीश्का के धक्का देने से हम बरामदे से नीचे गिर गये" या "उसने हमें ऐसा धक्का दिया कि प्रास्कूत्का के साथ-साथ मैं भी गिर पड़ा," वह जवाब देता है। आप यहां एकवचन में कर्म कारक और उसका अंत-प्रत्यय ढूंढ रहे हैं। पर विद्यार्थी नहीं समझ पाता कि उसके कहे हुए शब्दों में कोई अंतर है। अगर आप किताब लेंगे, या उसके कहे हुए वाक्य को ही दोहराते रहेंगे, तो वह आपके साथ किसी जीवित शब्द का नहीं, बल्कि किसी और ही चीज़ का विश्लेषण करेगा। मगर जब वह इमला बोलता है, तो उसके हर शब्द को दूसरे विद्यार्थियों द्वारा बड़े ध्यान से सुना और लिखा जाता है – "तुमने क्या कहा? क्या?" और उसे एक भी अक्षर नहीं बदलने दिया जाता। बेशक इस बात

को लेकर हमेशा बहस हो जाती है कि एक ने शब्द को एक ढंग से लिखा है, जब कि दूसरे ने दूसरे ढंग से। नतीजे के तौर पर काफ़ी जल्दी ही इमला बोलनेवाला सोचने लग जाता है कि कैसे कहा जाये। वह समझने लग जाता है कि जो बोला जा रहा है, उसमें दो चीज़ें हैं: रूप और अंतर्वस्तु। वह केवल अंतर्वस्तु के बारे में ही सोचते हुए कोई वाक्य कहेगा, तो सारा वाक्य एक शब्द जैसे जल्दी ही मुंह से निकल जायेगा। तब उससे पूछने लगेंगे: क्या? क्या कहा? और वह उसे कई-कई बार दोहराते हुए बोली के रूप तथा घटकों को हृदयंगम कर लेता है और शब्दों में उन्हें अभिव्यक्ति देता है।

तीसरी, यानी सबसे निचली कक्षा में यों लिखा जाता है – कोई घसीट के अक्षरों में, तो कोई छपाई के अक्षरों में। हम न सिर्फ़ घसीट के अक्षरों में लिखने का आग्रह नहीं करते, बल्कि अगर हम विद्यार्थियों को किसी चीज़ की मनाही कर सकते, तो हम घसीट के अक्षरों में लिखने की ही मनाही कर देते, क्योंकि वे हाथ को बिगाड़ देते हैं और अस्पष्ट होते हैं। घसीट के अक्षर उनके लिखने में अपने आप ही प्रवेश कर जाते हैं – कोई अपने से बड़े से एक-दो अक्षर सीख लेता है, तो कोई नक़ल से शुरू करते हैं और प्रायः घसीट और छपाई, दोनों के अक्षरों को मिला-जुलाकर लिखते हैं और एक सप्ताह भी नहीं बीतने पाता कि सभी घसीट में लिखने लग जाते हैं। इन गरमियों में सुलेख के साथ बिल्कुल वही हुआ, जो यांत्रिक पठन के साथ हुआ था। विद्यार्थी बहुत ख़राब लिखते थे, इसलिए नये अध्यापक ने सामान्य लिखाई के अक्षरों में लिखने का नियम शुरू किया (इससे अध्यापक को कम परेशानी होती है)। मगर विद्यार्थी ऊबने लगे। हम सुलेख छोड़ने को विवश हो गये, पर लिखावट सुधारने के लिए कोई और उपाय न सोच सके। अंततः ऊंची कक्षावालों ने एक उपाय खुद ही खोज निकाला। बाइबिलीय इतिहास लिखना ख़त्म करने के बाद वे अपनी कापियां घर ले जाने की अनुमति मांगने लगे। कापियां गंदी थीं, फटी हुई थीं और उनमें लिखावट भी सुंदर नहीं थी। सलीकापसंद गणितज्ञ र० ने क़ाग़ज़ मांगे और इतिहास के पाठ को दोबारा लिखने लगा। यह सबको पसंद आ गया। "क़ाग़ज़ मुझे भी दीजिये!" "कापी मैं भी चाहता हूं!" और सभी अच्छी लिखावट में लिखने लग गये। उस कक्षा में यह आज तक जारी है। विद्यार्थी कापी लेते हैं, अपने सामने सुलेख की

किताब रखते हैं, हर अक्षर को बना-बनाकर नक़ल करते हैं, एक दूसरे के सामने अपने सुलेख की शेख़ी बघारते हैं। दो ही हफ़्तों में बड़ी कामयाबी पा ली जाती है। हममें से लगभग हर किसी को बचपन में खाना खाते हुए डबल रोटी भी खाने को मजबूर किया जाता था और तब न जाने क्यों, इच्छा नहीं होती थी। लेकिन अब डबल रोटी के बिना काम नहीं चलता। हममें से हर किसी को सीधी, तनी उंगलियों से क़लम पकड़ने को मजबूर किया जाता था, मगर हम फिर भी मुड़ी उंगलियों से क़लम पकड़ते थे, क्योंकि वे छोटी थीं, जबकि अब उंगलियों को सीधी रखते हैं। सवाल उठता है: हमें सताया क्यों जाता था, जबकि ज़रूरत पड़ने पर सब कुछ अपने आप ही ठीक हो गया है? क्या वैसे ही जानने की चाह और आवश्यकता भी नहीं पैदा हो जायेगी?

दूसरी कक्षा में बाइबिलीय इतिहास की किसी मौखिक कहानी के आधार पर निबंध लिखा जाता है – पहले स्लेट पर और फिर कापी में। तीसरी, निचली कक्षा में बच्चे जो मन में आता है, लिखते हैं। इसके अलावा, इस कक्षा के बच्चे शामों को बारी-बारी से वे वाक्य भी लिखते हैं, जिन्हें सबने मिलकर सोचा था। एक बच्चा लिखता है और दूसरे उसकी ग़लतियों पर ग़ौर करते हुए आपस में खुसफुसाते हैं और इंतज़ार करते हैं कि कब वह लिखना ख़त्म करे और कब उसे उसकी ग़लती जतायें। सही लिखने और दूसरों की ग़लतियां सुधारने में उन्हें बड़ा मज़ा आता है। बड़े बच्चे जो भी लिखी हुई चीज़ उनके हाथ लगती है, ले लेते हैं, ग़लतियां सुधारने का अभ्यास करते हैं और यथासंभव बना-बनाकर लिखते हैं। पर व्याकरण और भाषा का विश्लेषण उन्हें क़तई पसंद नहीं और विश्लेषण के प्रति हमारे पहले के रुझान के बावजूद वे उसपर बहुत कम ध्यान देते हैं, उसकी कक्षाओं में ऊंघते हैं अथवा उनसे कतराते हैं।

हमने व्याकरण पढ़ाने के तरह-तरह के तरीक़े इस्तेमाल किये, पर एक से भी हम व्याकरण की पढ़ाई को आकर्षक बनाने का अपना लक्ष्य न पा सके। दूसरी और पहली कक्षाओं में इन गरमियों में नये अध्यापक ने वाक्य के हिस्सों को समझाना शुरू किया था और बच्चों ने – वह भी शुरू में ही कुछ ने – उसमें वैसी रुचि दिखायी थी, जैसी पहेलियों में दिखायी जाती है। प्रायः पाठ ख़त्म होने पर उन्हें पहेलियां बूझने का ख़याल आ जाता और एक दूसरे से कभी यह पूछकर कि अमुक वाक्य

में विधेय कहां है, तो कभी सीधे-सीधे कोई पहेली पूछकर मनोरंजन करते। ठीक लिखने के प्रयोग कोई नहीं थे, और अगर थे, तो वे सही कम और ग़लत ज़्यादा होते थे। आप कहेंगे कि दो विधेयों के बीच अल्पविराम होता है, तो वह "मैं कहना चाहता हूं" को भी यों लिखेगा: "मैं कहना, चाहता हूं।" उससे यह उम्मीद नहीं की जा सकती कि वह हर बार ध्यान में रखेगा कि वाक्य में कौन सा शब्द पूरक है और कौन सा शब्द विधेय। अगर यह उसके ध्यान में रहता भी है, तो उन्हें खोजते हुए वह अपना सहजबोध खो बैठेगा, जो उसे इसके लिए चाहिए कि शेष वाक्य को सही लिख सके, इसकी बात तो रही दूर कि वाक्य-विन्यास संबंधी विश्लेषण करते हुए अध्यापक को लगातार विद्यार्थियों के सामने चालाकी बरतना और उन्हें धोखा देते रहना पड़ता है, जिसे वे अच्छी तरह भांप लेते हैं। उदाहरण के लिए, एक वाक्य था: "पृथ्वी पर पर्वत नहीं थे।" एक विद्यार्थी ने कहा कि वाक्य में कर्त्ता पृथ्वी है, दूसरे ने कहा कि नहीं, कर्त्ता पर्वत है, मगर हमने कहा कि यह कर्त्ताहीन वाक्य है, और हमने पाया कि विद्यार्थी केवल शिष्टा-चारवश ही चुप हो गये, हालांकि भली भांति समझते थे कि हमारा उत्तर उनके उत्तरों से कहीं अधिक बेवकूफ़ीभरा था, जिससे मन ही मन हम भी सहमत थे। वाक्य-विन्यास संबंधी विश्लेषण की कठिनाई को जानकर हमने व्युत्पत्ति संबंधी विश्लेषण – शब्दभेद, विभक्तिरूप और क्रियारूप – को आज़माया और वैसे ही पहेलियां बूझने लगे कि कौन शब्द संप्रदान कारक में है, कौन अपूर्ण रूप है या कौन क्रियाविशेषण है। नतीजे के तौर पर वही एकरसता और हासिल किये हुए प्रभाव का वही अनुपयोग पैदा हो गये... पिछले दिनों मैंने दूसरी कक्षा में अपने आविष्कार किये हुए तरीक़े को इस्तेमाल किया। सभी आविष्कारकों की तरह मैं भी अपने आविष्कार पर मुग्ध था और वह मुझे तब तक असामान्य रूप से कारगर और तर्कसंगत लगता रहा, जब तक व्यवहार ने उसे बेकार साबित नहीं कर दिया। वाक्य के शब्दभेदों का नाम लिये बिना मैं उनसे कुछ लिखवाता था, कभी-कभी कर्त्ता क्या है, यह बता देता था, और फिर सवाल पूछ-पूछकर उनसे वाक्य बढ़वाता था, विशेषण, नये विधेय, कर्त्ता, क्रियाविशेषण और पूरक जुड़वाता था। "भेड़िये भाग रहे हैं।" कब? कहां? कैसे? कौन से भेड़िये भाग रहे हैं? और कौन भाग रहा है? भागते हुए और

क्या कर रहे हैं? मुझे लगा कि किसी निश्चित शब्दरूप की अपेक्षा करनेवाले प्रश्नों के उत्तरों का अभ्यस्त होते हुए वे वाक्य के अंगों और शब्दभेदों के अंतरों को हृदयंगम कर लेंगे। उन्होंने उन्हें हृदयंगम तो किया, पर अनिच्छा से और मन ही मन यह पूछते हुए – किसलिए? मुझे भी अपने से यह सवाल पूछना चाहिए था, पर मेरे पास उसका कोई उत्तर नहीं था। कोई भी आदमी – और बच्चा भी – बिना प्रतिरोध किये अपनी जीवंत भाषा का यांत्रिक विखंडन और विरूपण नहीं होने देगा। इस जीवंत शब्द में एक तरह की आत्मरक्षा की भावना होती है। अगर उसे विकसित होना है, तो वह स्वतंत्र रूप से और अपनी जीवनीय परिस्थितियों के अनुरूप ही विकास करने का प्रयत्न करता है। ज्यों ही आप इस शब्द को पकड़कर, शिकंजे में जकड़कर तराशना और अपनी इच्छानुसार सजाना चाहेंगे, त्यों ही यह जीवित विचार और अंतर्वस्तु से युक्त शब्द सिकुड़कर छिप जायेगा और आपके हाथ में ख़ाली छिलका ही रह जायेगा, जिसके साथ आप जो चाहें कर सकते हैं, मगर इससे उस शब्द को, जिसे आप गढ़ना चाहते थे, न लाभ होगा, न हानि।

दूसरी कक्षा में वाक्य-विन्यास तथा व्याकरण संबंधी विश्लेषण और वाक्यों के विस्तार का अभ्यास अभी तक चल रहे हैं, मगर बिना किसी विशेष उत्साह के, और मैं सोचता हूं कि शीघ्र ही वे ख़ुद ही अनावश्यक बन जायेंगे।

इसके अलावा हम भाषा के निम्न अभ्यास करवाते हैं, जिनका व्याकरण से क़तई कोई ताल्लुक़ नहीं है:

१. दिये हुए शब्दों से जटिल रचनावाले पूर्ण वाक्य बनाना। उदा-हरण के लिए, हम लिखते हैं: **निकोलाई, लकड़ी, पढ़ना,** और वे लिखते हैं: "अगर निकोलाई लकड़ी नहीं फाड़ता, तो पढ़ने आता", या "निकोलाई लकड़ी फाड़ने में तेज़ है, पर पढ़ने में नहीं", वग़ैरह।

२. किसी निश्चित छंद में कविता रचना। यह अभ्यास ऊंची कक्षाओं के विद्यार्थियों को सबसे ज़्यादा पसंद है।

३. यह अभ्यास सबसे निचली कक्षा में बहुत पसंद किया जाता है। कोई एक शब्द दिया जाता है – पहले संज्ञा, बाद में विशेषण, क्रियाविशे-षण और पूर्वसर्ग। एक बच्चे को कमरे के बाहर भेज दिया जाता है और बाक़ी बच्चों में से प्रत्येक को कोई ऐसा वाक्य बनाना पड़ता है, जिसमें

10-942

वह शब्द है। जो बाहर गया है, उसे अनुमान लगाना पड़ता है कि वह शब्द क्या था।

इन सभी अभ्यासों – दिये हुए शब्दों से पूर्ण वाक्य बनाना, कविता रचना और शब्दों का अनुमान लगाना – का एक ही उद्देश्य है: विद्यार्थी के मन में यह बात बिठाना कि शब्द एक ऐसी चीज़ है, जिसके अपने अटल नियम, बदलने के ढंग, अंत-प्रत्यय और इन अंत-प्रत्ययों के बीच निश्चित संबंध होते हैं। यह बात उसके दिमाग़ में बहुत समय तक नहीं बैठ पाती। व्याकरण इसके बाद ही आता है। ये सभी अभ्यास पसंद किये जाते हैं, जबकि व्याकरण के अभ्यास ऊब ही पैदा करते हैं। सबसे ज़्यादा विचित्र और महत्त्वपूर्ण तो यह है कि व्याकरण नीरस है, हालांकि उससे ज़्यादा आसान कुछ नहीं है। ज्यों ही आप व्याकरण को किताब के मुताबिक़ सिखाना बंद कर देंगे, आप पायेंगे कि छहवर्षीय बच्चा भी आधे घंटे बाद खुद ही संज्ञारूप और क्रियारूप बनाना, लिंग, वचन, काल, कर्त्ता तथा विधेय को पहचानना शुरू कर देगा और आपको लगेगा कि वह यह सब आपकी भांति ही भली प्रकार जानता है... मैं उन्हें क्या सिखा रहा हूं – आप अपने से पूछेंगे – अगर वे सब कुछ वैसे ही जानते हैं, जैसे मैं जानता हूं? क्या मुझे उनसे पूछना चाहिए कि "बड़ा" शब्द का स्त्रीलिंग, संबंध कारक, बहुवचन में क्या रूप होगा? क्या मुझे पूछना चाहिए कि कहां पूरक है और कहां विधेय? आप जिस भी कारक और वचन में चाहेंगे, विशेषण का वह बिल्कुल ठीक-ठीक प्रयोग करेगा। इसका मतलब है कि वह शब्दों के विभक्ति-रूप जानता है। उसके कहे हुए में विधेय अवश्य होगा और पूरक को वह विधेय से कभी गड्डमड्ड नहीं करेगा... व्याकरण परीक्षा में पूछे जाने के अलावा शायद सिर्फ़ इसीलिए चाहिए कि उससे विचारों को ठीक ढंग से प्रस्तुत करने में मदद मिल सकती है। व्यक्तिगत तौर पर मुझे उससे ऐसी कोई मदद नहीं मिली है, न ही मैंने उसका ऐसा उपयोग उसे न जाननेवाले, मगर सही-सही लिखनेवाले लोगों और उसे अच्छी तरह जाननेवाले, मगर ग़लत लिखनेवाले भाषाविज्ञान के पंडितों के जीवन में ही देखा है। मैं इसका भी लगभग कोई संकेत नहीं पाता हूं कि यास्नाया पोल्याना स्कूल के विद्यार्थियों ने अपने व्याकरण के ज्ञान को कहीं किसी काम में इस्तेमाल किया हो। मुझे लगता है कि व्याकरण, जो एक उपयोगी बौद्धिक व्यायाम है, अपनी जगह पर है

और भाषा, यानी लिखने, पढ़ने तथा समझने की योग्यता अपनी जगह पर है। ज्यामिति और सामान्यतः गणित भी आरंभ में बौद्धिक व्यायाम ही प्रतीत होते हैं, मगर अंतर यह है कि ज्यामिति का हर नियम, गणित की हर परिभाषा आगे अंतहीन निष्कर्षों और उपयोगों को जन्म देते हैं, जबकि व्याकरण में, चाहे हम उन लोगों से सहमत भी हो जायें, जो भाषा के लिए व्याकरण की उपयोगिता देखते हैं, फिर भी इन निष्कर्षों और उपयोगों का दायरा बहुत ही सीमित है। ज्यों ही विद्यार्थी किसी तरीक़े से भाषा सीख जाता है, व्याकरण के सभी उपयोग रुक जाते हैं, किसी मुर्दा या पुरानी चीज़ की तरह बेकार हो जाते हैं।

हम व्यक्तिगत तौर पर अभी इस प्रचलित धारणा से पूरी तरह मुक्ति नहीं पा सकते कि व्याकरण – भाषा के नियमों के अर्थ में – विचारों को ठीक ढंग से प्रस्तुत करने के लिए आवश्यक है। हमें तो यहां तक लगता है कि व्याकरण की आवश्यकता विद्यार्थियों के लिए भी है, कि व्याकरण के नियमों को अचेतन रूप से वे भी महसूस करते हैं। लेकिन हमारा दृढ़ विश्वास है कि जिस व्याकरण को हम जानते हैं, वह विद्यार्थियों की जरूरत का व्याकरण क़तई नहीं है, और उसकी यह आम पढ़ाई एक बड़ी ऐतिहासिक ग़लतफ़हमी है। बच्चा जान ही जायेगा कि किसी शब्द को कैसे लिखना है – इसलिए नहीं कि वह शब्द संप्रदान कारक में है, चाहे हम उसे यह कितनी भी बार क्यों न बतायें, और सिर्फ़ इसीलिए भी नहीं कि उसने कई बार जो लिखा हुआ देखा था, उसका वह अंधानुकरण करता है – वह इन मिसालों का सामान्यीकरण अवश्य करता है, पर संप्रदान कारकवाले रूप में नहीं, बल्कि किसी दूसरे ही रूप में। हम यास्नाया पोल्याना स्कूल में जैसे लिखना-पढ़ना सिखाने में सभी ज्ञात तरीक़ों की उपयोगिता स्वीकार करते और उन्हें यथासंभव इस्तेमाल में लाते हैं, वैसे ही भाषा के शिक्षण में भी सभी ज्ञात विधियों की उपयोगिता को अंगीकार करते हैं और जहां तक कि वे विद्यार्थियों को स्वीकार हो सकते हैं तथा जहां तक हम जानते हैं, वहां तक उन्हें प्रयोग में भी लाते हैं। इसके साथ ही हम इनमें से किसी भी विधि को अद्वितीय नहीं मानते और निरंतर नयी विधियों की खोज करते रहते हैं...

निबंध लेखन। पहली और दूसरी कक्षाओं में निबंध के विषय का चुनाव विद्यार्थियों पर ही छोड़ दिया जाता है। उनका एक प्रिय विषय

ओल्ड टेस्टामेंट का इतिहास है, जिसे वे अध्यापक से सुनने के बाद दो महीने से लिख रहे हैं। पहली कक्षा ने हाल ही में न्यू टेस्टामेंट का इतिहास लिखना शुरू किया, पर उसमें वैसी सफलता नहीं मिल पायी है, जैसी ओल्ड टेस्टामेंट का इतिहास लिखने में मिली थी। यहां तक कि वर्तनी की ग़लतियां भी ज़्यादा हुईं। स्पष्टतः न्यू टेस्टामेंट के इतिहास को वे उतनी अच्छी तरह नहीं समझ पाये थे। पहली कक्षा में हमने दिये हुए विषयों पर निबंध लिखवाने की कोशिश की। पहले विषय, जो बिल्कुल सहज ढंग से हमें सूझे, अनाज, झोंपड़ी, पेड़, आदि आम वस्तुओं के वर्णन से संबंध रखते थे। मगर हमें यह पाकर अत्यंत आश्चर्य हुआ कि इतने सहज विषय भी विद्यार्थियों को बड़े कठिन प्रतीत हुए और अध्यापक द्वारा मदद के बावजूद, जिसने अनाज के वर्णन को उसके उगने, उसकी कटाई, मंडाई, पिसाई, आदि और उसके खाने में इस्तेमाल के वर्णनों में विभाजित कर दिया, वे इस ढंग के विषय पर लिखने को किसी भी तरह तैयार नहीं हुए और यदि लिखा भी, तो वर्तनी, भाषा, अर्थ की ऊटपटांग और फूहड़ ग़लतियां कीं। हमने किन्हीं घटनाओं के बारे में लिखने को कहकर देखा। सब ऐसे खुश हो गये, जैसे कि कोई उपहार मिला हो। सूअर, घड़ा, मेज़, आदि तथाकथित सामान्य वस्तुओं के बारे में लिखना, जो स्कूलों में इतना अधिक पसंद किया जाता है, संस्मरणों से ली हुई पूरी की पूरी कहानियों को लिखने की तुलना में अकल्पनीय रूप से कठिन सिद्ध हुआ। पढ़ाई के अन्य विषयों की भांति एक ही ग़लती बार-बार हुई। अध्यापक को जो सबसे साधारण और सामान्य है, वह सरल लगता है, जब कि विद्यार्थी को सिर्फ़ वह, जो पेचीदा और जीवनयुक्त है। प्राकृतिक विज्ञानों की सभी पाठ्यपुस्तकें सामान्य नियमों से शुरू होती हैं, भाषा की पाठ्यपुस्तकें परिभाषाओं से, इतिहास की पाठ्यपुस्तकें कालविभाजन से और ज्यामिति की पाठ्यपुस्तकें दिक् और गणितीय बिंदु की संकल्पना की व्याख्या से। लगभग हर अध्यापक सोचने के उन्हीं तरीक़ों से निदेशित होता हुआ निबंध के लिए जो पहला विषय देता है, वह मेज़ या बेंच की परिभाषा होता है, और किसी भी भांति नहीं मानना चाहता कि मेज़ या बेंच की परिभाषा देने के लिए दार्शनिक और द्वंद्वात्मक विकास के उच्च स्तर पर पहुंचा होना आवश्यक है, और यह कि जो विद्यार्थी बेंच के बारे में लिखते हुए रो रहा है, वही विद्यार्थी प्रेम या क्रोध की भावनाओं,

भाइयों के साथ जोज़ेफ़ की मुलाक़ात और यहां तक कि साथियों से झगड़े का भी बड़ा शानदार वर्णन करेगा। घटनाओं के वर्णन, लोगों से संबंधों के चित्रण और सुनी हुई कहानियों को अपने शब्दों में लिखने को अपने आप निबंधों का विषय चुन लिया जाता था।

निबंध लिखना विद्यार्थियों का एक प्रिय कार्य है। स्कूल के बाहर ऊंची कक्षाओं के विद्यार्थियों को ज्यों ही कागज़-पेंसिल मिलती हैं, वे खुद अपनी गढ़ी हुई कहानी लिखने बैठ जाते हैं। आरंभ में मुझे उनके लिखे हुए की अनगढ़ता तथा असंतुलन पर अचंभा होता था, मैं उन्हें वह लिखने के लिए प्रेरित करता जो मुझे ज़रूरी प्रतीत होता था। पर वे मुझे उल्टा ही समझते। कोई प्रगति नहीं हो सकी। उन सबकी नज़र में जैसे कि बस इसी की आवश्यकता थी कि कोई ग़लतियां न हों। अब सब स्वयं ही बदल गया है और प्रायः उन्हें खुद अच्छा नहीं लगता, जब निबंध ज़रूरत से ज़्यादा खिंचा होता है, या उसमें पुनरावृत्तियां, एक विषय से दूसरे विषय पर छलांगें पायी जाती हैं। वे क्या चाहते हैं, बता पाना मुश्किल है, पर जो वे चाहते हैं, वह ठीक है। भोंडा है! – साथी का लिखा हुआ सुनकर कुछ चिल्ला पड़ते हैं। दूसरे यह देखकर कि साथी का जो निबंध पढ़ा गया है, वह अच्छा है, अपना निबंध पढ़कर नहीं सुनाना चाहते। तीसरे, जिन्हें अपने लिखे हुए से संतोष नहीं है, वे अध्यापक के हाथ से कापी छीन लेते हैं और खुद ही पढ़ते हैं। निबंधों में उनके लिखनेवालों के अपने स्वभाव और चरित्र इतनी स्पष्टता के साथ व्यक्त होने लगते हैं कि हमने एक प्रयोग किया, जिसमें विद्यार्थियों को अंदाज़ लगाकर बताना था कि हम किसका निबंध पढ़ रहे हैं। पहली कक्षा में बिल्कुल ठीक बता दिया जाता है...

८क. यास्नाया पोल्याना स्कूल की नवंबर और दिसंबर महीनों की रिपोर्ट

(पिछले अंक से जारी)

बाइबिलीय इतिहास। रूस का इतिहास। भूगोल

बाइबिलीय इतिहास। स्कूल की स्थापना के समय से ही और वर्तमान काल में भी बाइबिलीय इतिहास और रूस का इतिहास यों पढ़ाये जा रहे हैं। बच्चे अध्यापक के पास इकट्ठे होते हैं और अध्यापक सिर्फ़ बाइबिल से और रूस के इतिहास के लिए पोगोदिन के 'नार्मन युग' तथा वोदोवोज़ोव के संकलन से निदेशित होते हुए पढ़ाता है। बाद में वह सवाल पूछता है और सब एक साथ बोलने लगते हैं। जब बहुत ही ज़्यादा बच्चे एक साथ बोलते हैं, तो अध्यापक रोक देता है और एक-एक करके बोलने को कहता है। जैसे ही एक रुकता है, दूसरे को बोलने के लिए इशारा कर दिया जाता है। जब अध्यापक पाता है कि कुछ की बिल्कुल भी समझ में नहीं आया है, वह उनकी मदद के लिए किसी तेज़ लड़के से फिर से दोहराने को कहता है।

यह तरीक़ा पहले से सोचा हुआ नहीं था, बल्कि खुद ही अस्तित्व में आया, और चाहे पांच विद्यार्थी हों या तीस, हमेशा एक जैसा कारगर सिद्ध होता है – बेशक अगर अध्यापक सब पर नज़र रखता है, किसी को बार-बार एक ही बात कहते हुए चिल्लाने नहीं देता है, चीख को ग़ुस्से में नहीं बदलने देता है, बल्कि इस उल्लास, उत्साह तथा प्रतियोगिता को आवश्यकतानुसार नियंत्रण में बनाये रखता है।

गरमियों में जब बहुत लोग स्कूल देखने आये और पुराने अध्यापकों की जगह नये अध्यापकों ने ले ली, तब यह व्यवस्था बदल गयी और इतिहास की पढ़ाई में गिरावट आ गयी। सबका एक साथ चिल्लाना नये अध्यापक के लिए समझ में न आनेवाली बात थी। उसे लगता था कि ये चिल्ला-चिल्लाकर बतानेवाले अलग-अलग पूछे जाने पर कुछ

नहीं बता पायेंगे, कि उनका चिल्लाना मात्र चिल्लाने के लिए है, और फिर मुख्य बात तो यह थी कि गरमी थी और विद्यार्थियों की भीड़ में हिल-डुल पाना भी कठिन था। (बच्चे समझते हैं कि बेहतर समझ पाने के लिए बोलनेवाले आदमी के ज़्यादा से ज़्यादा पास होना, उसके चेहरे के हर भाव, उसकी हर हरकत को देख पाना जरूरी है। मैंने प्रायः ग़ौर किया है कि सबसे अच्छी तरह से उन स्थलों को समझा जाता है, जहां बोलनेवाले को सही हरकत करने या आवाज़ में सही उतार-चढ़ाव लाने में सफलता मिली है।)

नये अध्यापक ने यह प्रणाली लागू की कि सब बेंचों पर ही बैठे रहेंगे और एक-एक करके जवाब देंगे। पूछा जानेवाला चुप रहता था, शर्म से पानी-पानी हो जाता था, पर अध्यापक दूसरी ओर देखते हुए चेहरे पर भाग्य के सामने झुकने का **शालीनतापूर्ण** भाव या विनम्र मुस्कान लाकर कहता था: "हूं... और आगे क्या हुआ? ठीक, बहुत ठीक," वग़ैरह, यानी वही, जो अध्यापकों का एक प्रिय तरीक़ा है और जिससे हम सब भली भांति परिचित हैं।

इतना ही नहीं, मैं अपने अनुभव से इस निष्कर्ष पर पहुंचा हूं कि बच्चे के विकास के लिए इससे अधिक हानिकारक और कुछ नहीं है कि बच्चे से यों अकेले पूछा जाये और अध्यापक का उसके प्रति अफ़सर जैसा रवैया हो, जो इस तरह के पूछे जाने में झलकता है। मेरी दृष्टि में इससे अधिक घिनौना और कुछ नहीं है। वयस्क आदमी बच्चे को यातना पहुंचाता है, हालांकि उसे इसका कोई अधिकार नहीं है। अध्यापक जानता है कि उसके सामने खड़े होने से विद्यार्थी को पीड़ा पहुंच रही है, शर्म आ रही है, वह पसीना-पसीना हो रहा है; स्वयं अध्यापक के लिए भी यह उबाऊ और अप्रिय है, पर उसका नियम है, जिसके अनुसार उसके लिए विद्यार्थी को अकेले बोलना सिखाना आवश्यक है।

मगर कोई नहीं जानता कि किसी को अकेले ही बोलना क्यों सिखाया जाये, बेशक अगर कारण किसी श्रीमान अथवा श्रीमती के सामने नीतिकथा सुनाने को मजबूर करना नहीं है। हो सकता है कि मुझे कहेंगे कि इसके बिना नहीं जाना जा सकता कि विद्यार्थी कितना जानता है। इसके लिए मेरा जवाब यह है कि सचमुच बाहर का आदमी एक ही घंटे में नहीं जान सकता कि विद्यार्थी कितना जानता है, मगर

अध्यापक तो विद्यार्थी के जवाब दिये बिना या उसकी परीक्षा लिये बिना उसके ज्ञान की मात्रा को हमेशा अनुभव कर सकता है। मुझे लगता है कि अलग-अलग पूछने का यह तरीक़ा पुराने अंधविश्वास का एक अवशेष है। पुराने ज़माने में अध्यापक सब कुछ रट लेने को मजबूर करता था और इस कारण वह विद्यार्थी के ज्ञान का तब तक अनुमान नहीं लगा सकता था, जब तक कि वह, यानी विद्यार्थी शुरू से लेकर आखिर तक सब न दोहरा डाले। बाद में पाया गया कि रटे हुए को दोहराना ज्ञान नहीं है और तब विद्यार्थियों को अपने शब्दों में दोहराने के लिए विवश किया जाने लगा, हालांकि एक-एक करके बुलाने और जब अध्यापक चाहता है, तब जवाब देने की मांग करने का रिवाज नहीं बदला। इस बात को बिल्कुल अनदेखा कर दिया जाता था कि कंठस्थ जाननेवाले से किसी प्रार्थना अथवा नीतिकथा को किसी भी समय और कैसी भी परिस्थितियों में दोहराने की मांग तो की जा सकती है, मगर विद्यार्थी कहे हुए की अंतर्वस्तु को समझ सके तथा अपने ढंग से उसे संप्रेषित कर सके, इसके लिए उसका तदनुकूल मनःस्थिति में होना आवश्यक है।

निचले स्कूलों और जिम्नाज़ियमों में ही नहीं, विश्वविद्यालयों में भी प्रश्न पूछकर परीक्षा को मैं प्रत्येक शब्द, प्रत्येक वाक्य को रट लेने की योग्यता की परीक्षा के अलावा और कुछ नहीं समझता। अपने ज़माने में मैंने विश्वविद्यालय की परीक्षा से पहले हर शब्द और हर वाक्य को रट लेने की कोशिश की थी और शत प्रतिशत अंक उन्हीं प्रोफ़ेसरों से पाये थे, जिनके नोट्स मेरे रटे हुए थे (मैंने विश्वविद्यालय की शिक्षा १८४५ में समाप्त की थी)।

यास्नाया पोल्याना स्कूल में पढ़ाई को इतनी अधिक हानि पहुंचाने के बावजूद बाहर से आनेवाले दर्शकों ने एक तरह से मेरा बड़ा भला भी किया। उन्होंने मुझे पूरी तरह से विश्वास दिला दिया कि पाठों का उत्तर देना और परीक्षा मध्ययुगीन स्कूल के अंधविश्वासों का अवशेष है और आज के ज़माने में तो उनके लिए न सिर्फ़ कोई स्थान नहीं होना चाहिए, बल्कि उनसे नुक़सान ही पहुंचेगा। प्रायः बच्चों जैसे अभिमान के साथ मैंने अपने किसी आदरणीय अतिथि के सामने एक ही घंटे के भीतर अपने विद्यार्थियों के ज्ञान का प्रदर्शन करना चाहा है, पर या तो हुआ यह कि अतिथि को विश्वास हो गया कि विद्यार्थी वह भी जानते हैं, जिसे वह नहीं जानता था (मैंने किसी जादू से उसे चकित कर डाला था), या फिर अतिथि को लगा कि वे उसे भी नहीं जानते, जो वह बहुत अच्छी तरह जानता था। इस तरह मेरे और अतिथियों के बीच, जो प्रसंगतः बुद्धिमान, प्रतिभासंपन्न और जानकार लोग थे, उन दिनों ग़लतफ़हमियों पर ग़लतफ़हमियां ही पैदा होती रहीं, और वह भी तब, जब कि हम एक दूसरे से बिल्कुल स्वतंत्र थे। ऐसे में आप सोच सकते हैं कि संचालकों के मुआयनों, आदि के वक़्त क्या होता होगा— विद्यार्थियों की ऐसी परीक्षाओं से उनकी पढ़ाई में जो बाधा पड़ती है और जो मानसिक संभ्रम पैदा होता है, उसकी बात तो रही दरकिनार।

अब मैं निम्न निष्कर्षों पर पहुंचा हूं: अध्यापक या बाहरी आदमी के लिए विद्यार्थी के सारे ज्ञान का निचोड़ पेश कर पाना वैसे ही असंभव है, जैसे किसी विज्ञान से संबंधित आपके या मेरे ज्ञान का निचोड़ पेश करना। अगर किसी चालीसवर्षीय आदमी के भूगोल के ज्ञान की परीक्षा ली जाती है, तो यह वैसे ही बेवक़ूफ़ीभरा और विचित्र क़दम होगा, जैसे कि किसी दसवर्षीय बच्चे के भूगोल के ज्ञान की परीक्षा लेना। दोनों से ही अपनी याददाश्त के आधार पर जवाब देने की उम्मीद की जाती है, जबकि एक घंटे का समय उनके वास्तविक ज्ञान को आंकने के लिए क़तई पर्याप्त नहीं है। दोनों के ही ज्ञान को आंकने के लिए महीनों उनके साथ रहना ज़रूरी है।

जहां परीक्षा प्रणाली लागू है (परीक्षा से मेरा तात्पर्य प्रश्न का उत्तर देने की मांग से है), वहां एक नया, निरर्थक विषय भी पाया जाता है, जिसके लिए विशेष मेहनत और विशेष योग्यता अपेक्षित होती हैं। यह विषय **परीक्षाओं या पाठों की तैयारी** कहलाता है। जिम्नाज़ियम का विद्यार्थी इतिहास, गणित, आदि तो पढ़ता ही है, साथ ही सबसे मुख्य चीज़ जो वह सीखता है, वह है **परीक्षाओं में उत्तर देने की कला।** मैं इस कला को शिक्षण का उपयोगी विषय नहीं मानता। मैं अध्यापक हूं और अपने विद्यार्थियों के ज्ञान के स्तर को मैं वैसे ही ठीक-ठीक आंकता हूं, जैसे अपने ज्ञान के स्तर को, हालांकि न तो विद्यार्थी ने और न मैंने मुझे पाठों के ज्ञान की रिपोर्ट दी है। इसलिए अगर कोई बाहरी आदमी इस स्तर को आंकना चाहता है, तो वह हमारे साथ आकर रहे, हमारे ज्ञान के परिणामों और जीवन में उसके प्रयोगों का अध्ययन करे। दूसरा और कोई तरीक़ा नहीं है और परीक्षा

की सभी कोशिशें वास्तव में धोखा, झूठ और अध्यापन की राह में बाधाएं ही हैं। अध्यापन के काम में एक ही स्वतंत्र निर्णायक है– अध्यापक, और उसका नियंत्रण स्वयं विद्यार्थी ही कर सकते हैं।

इतिहास के पाठ में सभी एक साथ उत्तर अपने ज्ञान का प्रदर्शन करने के लिए नहीं, बल्कि इसलिए देते थे कि वे ग्रहण की गयी छापों को शब्दों द्वारा सुस्थिर-सुदृढ़ बनाना चाहते थे। गरमियों में नया अध्यापक या मैं, कोई भी इसे नहीं समझा था। हमें इसमें सिर्फ़ उनके ज्ञान की जांच दिखायी देती थी और इसलिए एक-एक करके जांच को ज़्यादा सुविधाजनक पाते थे। मैंने तब इस बात पर ग़ौर नहीं किया था कि ऊब और उदासी क्यों है, पर विद्यार्थियों की स्वतंत्रता के नियम में मेरे विश्वास ने मुझे बचा लिया। ज़्यादातर का मन नहीं लगता था। तीन जो सबसे साहसी थे, हमेशा वे ही जवाब देते थे, और तीन जो सबसे संकोची थे, वे हमेशा चुप्पी लगाये रहते थे, रोते थे और शून्य पाते थे। सारी गरमियों में मैं बाइबिलीय इतिहास की कक्षाओं पर ध्यान नहीं दे सका, जिससे उस अध्यापक को, जो व्यवस्था पसंद करता है, बच्चों को बैंचों पर बिठाने, एक-एक करके सताने और उनकी **जाहिलियत** पर नाराज़ होने की पूरी छूट मिल गयी। मैंने कई बार सलाह भी दी कि बच्चों के लिए बैंचों पर बैठना ज़रूरी न बनाया जाये, मगर मेरी सलाह को अध्यापक ने एक प्यारी और क्षम्य सनक के रूप में लिया (मैं अभी से जानता हूं कि बहुत से अन्य अध्यापक-पाठक भी मेरी इस सलाह को वैसे ही लेंगे) और जब तक पुराना अध्यापक वापस नहीं आ गया, अपने क़ायदे पर अड़ा रहा। बेशक उसकी डायरी में कुछ इस ढंग की टिप्पणियां पढ़ने को अवश्य मिल जाती थीं: "साविन से एक शब्द भी नहीं कहलवा सका; ग्रीशिन के मुंह पर भी ताला लगा रहा; पेत्का की ज़िद्द मुझे हैरान कर देती है: एक शब्द भी नहीं बोला; साविन पहले से भी गया-गुज़रा बन गया है", वग़ैरह।

साविन एक लाल-लाल गालों, थुलथुल बदन, चमकीली आंखों और लंबी-लंबी पलकोंवाला, किसी भटियारखाने के मालिक या सौदागर का लड़का है। उसके आकर्षक और सुंदर व्यक्तित्व ने मुझे ख़ास तौर से इसलिए प्रभावित किया कि अंकगणित की कक्षा में वह सबसे तीव्र कल्पनाशक्ति और ख़ुशमिज़ाजी का प्रदर्शन करता है। पढ़ने और लिखने के मामले में भी वह कमज़ोर नहीं है। मगर ज्यों ही उससे सवाल

पूछा जाता है, वह अपने सुंदर घुंघराले बालोंवाले सिर को एक ओर भींच लेता है और बड़ी-बड़ी पलकों से आंसू गिरने को हो आते हैं। वह जैसे कि सबसे छिप जाना चाहता है और साफ़ दिखायी देता है कि उसे असह्य पीड़ा हो रही है। यदि उसे कुछ याद करने को मजबूर करेंगे, तो वह सुना देगा, पर अपने आप कुछ न कह सकेगा या हिम्मत नहीं कर पायेगा। मालूम नहीं कि यह पहले के अध्यापक का मन में बिठाया हुआ भय है (वह पहले एक पादरी के यहां पढ़ा करता था), या अपने आपमें विश्वास का अभाव है, या अहंकार है, या दूसरे लड़कों के बीच, जो उसकी नज़र में आभिजात्य में उससे नीचे हैं, संकोच महसूस करना है, या इस बात का अफ़सोस है कि एक बार अध्यापक के सामने अपने को नालायक़ दिखाकर उसने ख़ुद को इस एक विषय में औरों से पिछड़ा हुआ सिद्ध कर दिया है, या अध्यापक के मुंह से निकले किसी अनुचित शब्द से उसकी बाल आत्मा अपमानित अनुभव कर रही है, या सभी चीज़ें मिलकर हैं, लेकिन यह संकोच अपने आपमें अच्छी बात न होने पर भी उसकी बाल आत्मा में जो भी अच्छाइयां हैं, उन सबसे शायद घनिष्ठ रूप से जुड़ा हुआ है। बेशक भौतिक या नैतिक डंडे के ज़ोर से यह सब ख़त्म किया जा सकता है, मगर यह ख़तरनाक भी है, क्योंकि इसके साथ-साथ वे मूल्यवान गुण भी ख़त्म हो सकते हैं, जिनके बिना अध्यापक को उसे आगे ले जाने में बड़ी कठिनाई होगी। नये अध्यापक ने मेरी सलाह मानी और बेंचों पर ही बैठना ज़रूरी न बनाकर कहीं भी और कैसे भी, यहां तक कि अपनी पीठ के पीछे भी बैठने की इजाज़त दे दी और उसी पाठ को सभी पहले से कहीं बेहतर ढंग से सुनाने लगे, और अध्यापक की डायरी में यह टिप्पणी पायी गयी कि "अड़ियल साविन भी बोलने लगा है।"

स्कूल में एक चीज़ ऐसी है, जो तय नहीं है, अध्यापक के नियंत्रण के लगभग बाहर है, शिक्षाशास्त्र के लिए बिल्कुल अज्ञात है और साथ ही शिक्षा का सार और उसकी सफलता की कुंजी है। यह स्कूल की भावना है। यह भावना कुछ निश्चित नियमों से और अध्यापक के नकारात्मक प्रभाव से निदेशित होती है। अध्यापक को कुछ चीज़ों से दूर रहना चाहिए, ताकि यह भावना नष्ट न होने पाये... उदाहरण के लिए, स्कूल की भावना हमेशा बाध्यकरण, बंधी हुई व्यवस्था, और विद्यार्थियों के सोचने के ढंग में अध्यापक के हस्तक्षेप के विपरीत

अनुपात में, विद्यार्थियों की संख्या के प्रत्यक्ष अनुपात और पाठ की दीर्घता, आदि के विपरीत अनुपात में होती है। स्कूल की यह भावना एक ऐसी चीज़ है कि जो बड़ी तेज़ी से एक विद्यार्थी से दूसरे विद्यार्थी को और यहां तक कि अध्यापक को भी संप्रेषित होती है और गले से निकलनेवाली आवाज़ों, आंखों, हरकतों और प्रतियोगिता के तनाव में अभिव्यक्ति पाती है। यह एक ऐसी चीज़ है कि जिसे अनुभव किया जा सकता है, जो आवश्यक और मूल्यवान है और इसलिए उसका संवर्धन हर अध्यापक का कर्त्तव्य तथा लक्ष्य है। जैसे मुंह में लार पाचन के लिए तो आवश्यक होती है, लेकिन आहार के बिना घिनौनी लगती है तथा बेकार होती है, वैसे अतिशय जीवंतता की यह भावना, जो कक्षा के बाहर उबाऊ तथा अप्रिय लगती है, बौद्धिक आहार को ग्रहण करने की एक आवश्यक शर्त है। इस मनःस्थिति को गढ़ा या कृत्रिम रूप से पैदा नहीं किया जा सकता और ऐसा करने की आवश्यकता भी नहीं है, क्योंकि वह हमेशा खुद ही प्रकट होती है।

आरंभ में मैंने कुछ ऐसी ग़लतियां की थीं। ज्यों ही कोई लड़का ठीक से नहीं समझने लगता या अनिच्छा दिखाता और **किंकर्त्तव्यविमूढ़ता** की अवस्था, जो इतनी सामान्य स्कूली अवस्था है, उसे आ घेरती, तो मैं कहता: "कूदो, कूदो!" लड़का कूदने लगता। दूसरे भी हंस पड़ते और वह खुद भी हंस पड़ता। और इसके बाद वह दूसरा ही हो जाता। लेकिन यह कूदना कई बार दोहराने के बाद लगा कि ज्यों ही कूदने को कहोगे, विद्यार्थी और भी ज़्यादा उदास हो जायेगा और रोने लगेगा। वह देखता है कि उसकी मनोदशा वैसी नहीं है, जैसी कि होनी चाहिए, और इस दशा का न वह स्वयं नियंत्रण कर सकता है, न किसी अन्य को ही करने देना चाहेगा। बच्चा और आदमी केवल उत्तेजना की अवस्था में ही कुछ ग्रहण कर सकते हैं, इसलिए स्कूल में हर्षोल्लास के वातावरण को यों देखना कि जैसे वह शत्रु हो, कोई विघ्न या बाधा हो, ऐसी बहुत ही भद्दी ग़लती है, जिसे हम बहुत ही प्रायिकता के साथ करते हैं।

लेकिन जब किसी बड़ी कक्षा में यह उत्तेजना इतनी ज़्यादा हो कि अध्यापक के लिए कक्षा का नियंत्रण कठिन हो जाये या उसकी बात न तो सुनायी देती है और न सुनी ही जाती है, तो उस हालत में बच्चों को डांटे और इस भावना को दबाये बिना काम कैसे चलेगा?

अगर यह उत्तेजना उसी विषय को लेकर है, जिसके बारे में पाठ है, तो इससे बढ़कर कुछ चाहा भी नहीं जा सकता। अगर उत्तेजना का विषय कोई और चीज़ बन गयी है, तो दोषी स्वयं अध्यापक है, जो इस उत्तेजना को सही दिशा में नहीं ले जा सका। अध्यापक का काम, जिसे लगभग हर कोई अचेतन रूप से करता है, इस उत्तेजना के लिए निरंतर उपयुक्त सामग्री मुहैया करना और उसकी बाग धीरे-धीरे ढीली छोड़ना है। आप एक से पूछ रहे हैं, लेकिन दूसरा भी बताना चाहता है, क्योंकि वह जानता है, और वह आपकी ओर झुककर टकटकी लगाये हुए आपको देखता है, बड़ी मुश्किल से अपने शब्दों को रोक पाता है, बोल रहे लड़के के हर शब्द को ध्यान से सुनता है और उसे एक भी ग़लती नहीं करने देता। आप उससे पूछेंगे, तो वह बड़े उत्साह के साथ बताना शुरू करेगा और जो वह बतायेगा, वह उसकी स्मृति में हमेशा के लिए घर कर लेगा, लेकिन अगर आप उसे आधा घंटा और तनावपूर्ण अवस्था में रखे रहेंगे और बोलने नहीं देंगे, तो वह पड़ोसी को चिकोटी काटना शुरू कर देगा।

एक और मिसाल दूं। किसी उयेज़्दस्तरीय स्कूल की कक्षा से बाहर निकलिये। कक्षा में शांति छायी हुई थी और आप पढ़ाई जारी रखने को कह आये हैं। आधे घंटे बाद दरवाज़े पर कान लगाइये: कक्षा में उत्तेजना छायी हुई है, मगर उत्तेजना का विषय कुछ और है – वह, जिसे शरारत कहा जाता है। हमने अपनी कक्षाओं में प्रायः यह प्रयोग करके देखा है। पाठ के बीच में, जब तक काफ़ी चीख-चिल्ला लिया जाता है, आप कक्षा से बाहर निकलकर दरवाज़े के पास जाकर सुनें, तो पायेंगे कि लड़कों का बोलना, एक दूसरे के ज्ञान को जांचना, ग़लतियां सुधारना, वग़ैरह जारी है। प्रायः आपके बिना वे शरारतें शुरू करने के बजाय बिल्कुल शांत ही हो जाते हैं।

जैसे बेंचों पर बिठाने और अलग-अलग सवाल पूछने की व्यवस्था में होता है, वैसे ही इस व्यवस्था की भी अपनी कुछ युक्तियां हैं, जो कठिन तो नहीं हैं, मगर जिन्हें जानना आवश्यक है और जिनके बिना प्रयोग कामयाब नहीं हो सकता। इसका ध्यान रखना चाहिए कि कक्षा में सिर्फ़ शोर का मज़ा लेने के लिए चिल्लानेवाले, कहे हुए आखिरी शब्दों को दोहरानेवाले न हों। ज़रूरी है कि शोर से मिलनेवाला यह आनंद उनका मुख्य उद्देश्य न बने। कुछ को जांचकर देखा जाना चाहिए

कि वे सब कुछ खुद ही बता सकते हैं या नहीं और अर्थ को समझ सके हैं या नहीं। अगर विद्यार्थी बहुत ज्यादा हैं, तो उन्हें कई समूहों में बांट दिया जाना चाहिए और समूह के भीतर एक दूसरे को सुनाने के लिए कहा जाना चाहिए।

डरना नहीं चाहिए कि नया आया हुआ विद्यार्थी महीने भर तक मुंह नहीं खोलता। ज़रूरत सिर्फ़ इस चीज़ की है कि देखते रहें कि वह कहानी में दिलचस्पी ले रहा है या किसी और चीज़ में। आम तौर पर नये विद्यार्थी को शुरू में भौतिक पहलू ही आकृष्ट करता है। वह यही देखने में खोया रहता है कि कैसे बैठते हैं, कैसे लेटते हैं, अध्यापक के होंठ कैसे हिलते हैं, कैसे सब एकाएक चिल्ला पड़ते हैं, और फिर वह भी ठीक वैसे बैठता है, जैसे दूसरे बैठे होते हैं और कुछ भी याद किये बिना तथा पड़ोसी के शब्दों को दोहराते हुए दूसरों जैसे ही चिल्लाने लगता है। अध्यापक और साथी उसे रोकते हैं और वह समझ जाता है कि आवश्यकता किसी और चीज की है। कुछ समय बीतेगा और वह अपनी ओर से ही कुछ बताने-सुनाने लग जायेगा। समझ का फूल उसमें कैसे और कब प्रस्फुटित हुआ, यह जान पाना कठिन है।

हाल में मैंने महीने भर चुप, एक दब्बू सी लड़की में समझ का ऐसा प्रस्फुटन देखा। श्री उ० कुछ सुना रहे थे और मैं दर्शक की भांति देख रहा था। जब सब बच्चे सुने हुए को अपने शब्दों में बताने के लिए खड़े हुए, तो मैंने ग़ौर किया कि मार्फ़ूत्का भी अपनी बेंच से उस हरकत के साथ खड़ी हो गयी, जिस हरक़त के साथ सुननेवाले अपनी स्थिति को सुनानेवालों की स्थिति में बदला करते हैं, और कुछ क़रीब आ गयी। जब सभी बोलने लगे, तो मैंने उसपर नज़र डाली: वह होंठों ही होंठों में कुछ बुदबुदा रही थी और उसकी आंखें विचारों और उत्तेजना से भरी हुई थीं। मुझे अपनी ओर ताकता देखकर वह शर्मा गयी। एक मिनट बाद मैंने फिर उसकी ओर देखा तो वह फिर कुछ बुदबुदा रही थी। मैंने उससे बताने को कहा, पर वह घबड़ा गयी। दो दिन बाद वह पूरी कहानी को बड़े बढ़िया ढंग से सुनाने लगी।

ऐसी कहानियों में विद्यार्थियों को क्या याद रहता है, हमारे स्कूल में यह जांचने का सर्वोत्तम ज़रिया वे कहानियां हैं, जिन्हें वे अपनी याददाश्त से लिखते हैं और जिनमें सिर्फ़ हिज्जे ही सही किये हुए होते हैं।

इतिहास और भूगोल। ओल्ड टेस्टामेंट खत्म करने के बाद स्वाभाविकत: मैंने सोचा कि इतिहास और भूगोल पढ़ाये जायें – इसलिए भी कि इन्हें अभी तक हर कहीं बच्चों के स्कूलों में पढ़ाया जाता है तथा खुद मैंने भी उन्हें पढ़ा था, और इसलिए भी कि मुझे लगता था कि ओल्ड टेस्टामेंट की यहूदियों की कहानी स्वाभाविकत: बच्चों के मन में जिज्ञासाएं पैदा करती है, जैसे: जिन घटनाओं के बारे में उन्होंने बाइबिल में पढ़ा है, वे कहां, कब और किन परिस्थितियों में घटी थीं? मिस्र, फ़राऊन और असीरियाई राजा क्या हैं? वग़ैरह।

इतिहास को जैसे हमेशा शुरू करते हैं, मैंने भी उसे प्राचीन काल के इतिहास से शुरू किया। मगर सभी कोशिशों के बावजूद मैं उसे रोचक नहीं बना पाया। बच्चों को सेज़ोस्त्रिस, मिस्री पिरामिडों और फ़ीनिशियाइयों से कोई मतलब नहीं था। कभी कहीं हुए किन्हीं राजाओं, फ़राऊनों, फ़िलिस्तीनियों, आदि के बारे में जानने में उन्हें कोई मज़ा नहीं आता था...

भूगोल के मामले में भी ऐसी ही नाकामयाबी हाथ लगी।

विश्व इतिहास के बाद मुझे सभी के द्वारा और हर कहीं स्वीकृत अपने देश रूस का इतिहास पढ़ाकर देखना था, और मैंने उस शोचनीय इतिवृत्त से रूसी इतिहास से शुरू किया, जो न कलात्मक है, न शिक्षाप्रद ही और जो इतने तरह-तरह से पेश किया जाता है। मैंने उसे दो बार शुरू किया: पहली बार सारी बाइबिल को ख़त्म करने से पहले और दूसरी बार बाइबिल को ख़त्म करने के बाद। बाइबिल को ख़त्म करने से पहले जब पढ़ा रहा था, तो विद्यार्थियों ने ईगोर और ओलेग के अस्तित्व को याद रखने से ही इंकार कर दिया। वही बात अब छोटे विद्यार्थियों के साथ हो रही है। जिन्होंने बताये जा रहे को समझना और फिर अपने शब्दों में दोहराना बाइबिल के आधार पर नहीं सीखा है, वे पांच-पांच बार सुनकर भी रूसी इतिहास से कुछ याद नहीं रख पाते। बड़े विद्यार्थी अब रूसी इतिहास को याद कर लेते हैं और लिख भी लेते हैं, पर बाइबिल जितनी अच्छी तरह से बिल्कुल भी नहीं, और इसलिए प्राय: दोहराने की मांग करते हैं। एक अध्यापक तो अपनी रौ में इतना बह गया कि स्वतंत्र रियासतों के काल को छोड़ देने की मेरी सलाह को उसने नहीं माना और म्स्तीस्लावों, ब्रियाचिस्लावों और बोलेस्लावों से संबंधित सारी बकवास और अनर्गल बातों

को दोहराने लगा। उसकी कक्षा में मेरा जाना ऐसे समय पर हुआ, जब विद्यार्थियों को अध्यापक के मुंह से सुना हुआ अपने शब्दों में दोहराना था। मैं बयान नहीं कर सकता कि क्या हुआ। बहुत समय तक सब चुप रहे। आखिरकार अध्यापक द्वारा बुलाये गये लड़कों में जो ज़्यादा साहसी और ज़्यादा तेज़ याददाश्तवाले थे, वे बोलने लगे। सभी बौद्धिक शक्तियां इसपर केंद्रित थीं कि **"अजीबोग़रीब"** नाम याद रखें, और किसने क्या किया था, यह उनके लिए उतना महत्त्व नहीं रखता था... जो सबसे तेज़ याददाश्तवाले थे, वे आगे भी कोशिश करते और शायद ठीक ही जवाब देते, अगर उन्हें बीच-बीच में याद दिलाया जाता रहता। मगर यह सब इतना घिनौना था और इन बच्चों को देखकर ऐसी दया आती थी कि हमने, यानी इतिहास पढ़ानेवाले अध्यापक और मैंने तय किया कि ऐसी ग़लतियां और नहीं की जायेंगी...

कल मैं अपनी कक्षा से निकलकर इतिहास की कक्षा में गया। मैं जानना चाहता था कि बग़ल के कमरे से सुनायी दे रहे शोर-शराबे का क्या कारण है। पता चला कि कुलिकोवो की लड़ाई* के बारे में पढ़ाया जा रहा था। सब अत्यंत उत्तेजित थे। "यह हुई न बात! कैसी होशियारी दिखायी!" "मुझे सुनाने दो!" "नहीं, मुझे!" दूसरी आवाज़ें चिल्लायीं। "कैसे ख़ून की नदियां बही थीं!" लगभग सभी सुनाने-बताने को उतावले थे और सभी बेहद ख़ुश थे। लेकिन अगर जातीय भावना को ही तुष्ट किया जाये, तो सारे इतिहास में से क्या बचेगा? जातीय भावना को प्रधानता देकर नहीं पढ़ाया जा सकता। मुझे लगता है कि बच्चों में हमेशा पायी जानेवाली कलात्मक रुचि के विकास तथा तुष्टि के लिए ऐतिहासिक परंपरा को इस्तेमाल किया जा सकता है, पर यह इतिहास नहीं होगा। इतिहास के अध्यापक के लिए पहले बच्चों में इतिहास के प्रति रुचि पैदा करना आवश्यक है। मगर यह कैसे किया जाये?

प्रायः मुझे सुनने को मिलता है कि इतिहास की पढ़ाई शुरू से नहीं, बल्कि आख़िर से, यानी प्राचीन इतिहास से नहीं, बल्कि समकालीन इतिहास से आरंभ की जानी चाहिए। सारतः यह विचार बिल्कुल

---

* यह लड़ाई दोन नदी के तट पर कुलिकोवो के मैदान में १३८० में रूसियों और मंगोल-तातारों के बीच हुई थी। उसमें विजय रूसियों की हुई।

युक्तिसंगत है। बच्चे को रूसी राज्य के आरंभ के बारे में कैसे बताया जाये और इसमें उसकी दिलचस्पी कैसे पैदा की जाये, अगर वह जानता ही नहीं कि रूसी राज्य क्या है या राज्य क्या बला होती है। जिसका बच्चों से वास्ता पड़ा है, उसे मालूम होना चाहिए कि हर रूसी बच्चे का दृढ़ विश्वास है कि सारी दुनिया वैसा ही रूस है, जैसे रूस में कि वह रहता है। ठीक ऐसा ही फ़्रांसीसी और जर्मन बच्चा भी सोचता है। बच्चों को और बच्चों जैसे भोले बड़ों को भी हमेशा यह देखकर आश्चर्य क्यों होता है कि जर्मन बच्चे जर्मन बोलते हैं?.. ऐतिहासिक रुचि अधिकांशतः कलात्मक रुचि के बाद पैदा होती है। हमारे लिए रोम की स्थापना का इतिहास जानना दिलचस्प इसलिए होता है कि हम जानते हैं कि अपने उत्कर्ष काल में रोमन साम्राज्य कैसा था। जिसे हमने महान के रूप में जाना है, उसके बाल्यकाल को जानना रोचक ही होता है। इस महत्ता का भगोड़ों की भीड़ की तुच्छता से वैपरीत्य हमें दिलचस्प लगता है। हम जब रोम के विकास में रुचि लेते हैं, तो अंत में उसका जो हश्र हुआ था, मन ही मन हम उसकी कल्पना भी करते हैं। हम मास्को राज्य की स्थापना के बारे में जानना चाहते हैं, क्योंकि हमें मालूम है कि रूसी साम्राज्य क्या है। मैं अपने प्रेक्षणों और प्रयोगों से जानता हूं कि इतिहास में रुचि का पहला अंकुर समकालीन इतिहास को जानने और कभी-कभी उसमें भाग लेने के फलस्वरूप, राजनीतिक रुचि, राजनीतिक विचारों, बहसों और अख़बारों के पढ़ने के फलस्वरूप पैदा होता है, और इसलिए इतिहास को वर्तमान से आरंभ करने का विचार स्वाभाविकतः हर सोचनेवाले पाठक को तर्कसंगत लगना चाहिए।

मैंने ये प्रयोग गरमियों में किये थे और उन्हें लिख लिया था। उनमें से एक का विवरण में यहां दे रहा हूं।

पहला पाठ

मैं पहले पाठ में बताना चाहता था कि रूस अन्य देशों से किन बातों में भिन्न है, उसकी सीमाएं क्या हैं, उसकी शासन पद्धति कैसी है, वग़ैरह।

अध्यापक – हम कहां, किस धरती पर रहते हैं?

एक विद्यार्थी – यास्नाया पोल्याना में।

दूसरा विद्यार्थी – खेत में।

11-942

अध्यापक – नहीं, यास्नाया पोल्याना और तूला गुबेर्निया किस धरती पर हैं?

एक विद्यार्थी – तूला गुबेर्निया हमारे यहां से १७ वर्स्ट की दूरी पर है...

अध्यापक – नहीं, वह तो गुबेर्नियाई शहर है, जबकि गुबेर्निया दूसरी ही चीज़ को कहते हैं। हां, तो कौन सी धरती?

एक विद्यार्थी (जिसने पहले भूगोल का पाठ पढ़ा था) – धरती गोल है, गेंद जैसी है।

इस तरह के सवालों के ज़रिये कि उनका परिचित आदमी पहले किस धरती पर, किस देश में रहता था, और अगर सीधे एक ही दिशा में चलते जायें, तो कहां पहुंचेंगे, विद्यार्थियों को यह उत्तर देने को प्रेरित किया गया कि वे रूस में रहते हैं। कुछ ने फिर भी इस सवाल के कि अगर सीधे एक ही दिशा में चलते जायें, तो कहां पहुंचेंगे, जवाब में कहा कि कहीं नहीं पहुंचेंगे। कुछ औरों का कहना था कि दुनिया के छोर पर पहुंचेंगे...

अध्यापक रूस और अन्य राज्यों के बीच मौजूद भौगोलिक अंतरों को समझाने की कोशिश करता है। वह बताता है कि सारी पृथ्वी विभिन्न राज्यों में बंटी हुई है। रूसियों, फ़्रांसीसियों, जर्मनों ने सारी पृथ्वी को बांट लिया है और अपने से कहा है: यहां तक मेरा है और यहां तक तेरा है, और इसलिए दूसरे देशों की तरह रूस की भी अपनी सीमाएं हैं।

अध्यापक – तो, समझे कि सीमा किसे कहते हैं? कोई सीमा की मिसाल दे सकता है?

एक विद्यार्थी (एक अक्लमंद लड़का) – वहां तुर्किन टीले के पीछे सीमा है। (उसका मतलब तूला – यास्नाया पोल्याना सड़क पर उस जगह खड़े पत्थर के खंभे से है, जहां से तूला उयेज़्द शुरू होता है।)

सभी विद्यार्थी इस परिभाषा से सहमत हैं।

अध्यापक महसूस करता है कि परिचित जगह की मिसाल देकर सीमाएं दिखाना ज़रूरी है। वह दो कमरों का नक़्शा बनाता है और उन्हें विभाजित करनेवाली सीमा दिखाता है। फिर वह गांव का नक़्शा खींचता है और विद्यार्थी खुद ही कई सीमाओं को पहचान जाते हैं। अध्यापक समझाता है, बल्कि कहें, तो उसे लगता है कि वह समझा

रहा है कि जैसे यास्नाया पोल्याना की सीमाएं हैं, वैसे ही रूस की भी सीमाएं हैं। वह सोचता है कि सभी उसे समझ गये हैं, मगर जब वह पूछता है कि कैसे मालूम करें कि हमारे यहां से रूस की सीमा कितनी दूर है, तो विद्यार्थी छूटते ही जवाब देते हैं कि यह बड़ी आसानी से मालूम किया जा सकता है कि ज़रूरत सिर्फ़ इसकी है कि गज़ लेकर नाप लिया जाये।

अध्यापक – मगर किस दिशा में?

एक विद्यार्थी – यहां से सीधे सीमा की दिशा में, और जितना निकले, लिख लिया जाये।

पुनः खाके, नक़्शे, मानचित्र बनाये जाने लगते हैं। मगर पैमाने की संकल्पना भी आवश्यक है, जो अभी तक नहीं थी। अध्यापक सड़क के किनारे-किनारे बसे गांव का नक़्शा बनाने का सुझाव रखता है। उसे श्यामपट्ट पर बनाया जाने लगता है, पर सारा गांव नहीं आ पाता, क्योंकि पैमाना बड़ा चुना गया है। नक़्शा मिटाया जाता है और छोटे पैमाने पर स्लेट पर बनाना शुरू करते हैं। पैमाना, नक़्शा और सीमाएं थोड़ा-थोड़ा करके स्पष्ट होने लगते हैं। अध्यापक पहले बताये हुए को फिर से दोहराता है और पूछता है कि रूस क्या है और उसका छोर कहां है...

पाठ दो घंटे जारी रहता है। अध्यापक को विश्वास है कि जो कुछ उसने बताया है, उसमें से बहुत सारा बच्चों को याद रह गया है, और इसलिए उसी ढंग से वह अगले पाठों में भी पढ़ाता है। लेकिन सिर्फ़ आगे चलकर ही उसे मालूम हो पाता है कि उसकी ये सभी युक्तियां ग़लत थीं और जो कुछ भी उसने किया था, वह सब बिल्कुल बेकार था।

मैं अनजाने ही सुकराती विधि की, जिसका सर्वाधिक विकृत रूप जर्मन Anschauungsunterricht [दृश्य शिक्षा] में मिलता है, हमेशावाली ग़लती का शिकार बन बैठा था। मैं इन पाठों में विद्यार्थियों को किन्हीं भी नयी संकल्पनाओं से परिचित नहीं कराता था, क्योंकि सोचता था कि यह मैं कर चुका हूं, और केवल अपने नैतिक प्रभाव के ज़रिये ही बच्चों को वैसा उत्तर देने को विवश करता था, जैसा उत्तर मैं सुनना चाहता था... कोई छह महीने पहले मैंने ये प्रयोग किये थे और आरंभ में मैं उनसे अत्यंत संतुष्ट था और उनपर मुझे गर्व भी

था। जिन लोगों को मैं उनसे अवगत कराता, वे कहते कि यह सब बहुत अच्छा और दिलचस्प है। मगर तीन सप्ताह बाद, जिनके दौरान मैं अध्यापन में हिस्सा नहीं ले सका था, मैंने शुरू किये गये प्रयोग को जारी रखने की कोशिश की और पाया कि पहले का सब कुछ बेकार और अपने आपको धोखा देना था। एक भी विद्यार्थी मुझे नहीं बता सका कि सीमा क्या होती है, रूस और रूसी क्या हैं, क़ानून किसे कहते हैं और क्रापीव्ना उयेज़्द की सीमाएं क्या हैं। जो कुछ उन्होंने सीखा था, उसे वे भूल गये थे, लेकिन दूसरी ओर यह सब वे अपने ढंग से जानते थे। मुझे यक़ीन हो गया कि मुझसे ग़लती हुई है। सिर्फ़ जिसके बारे में मैं पक्के तौर पर कुछ नहीं कह सकता, वह यह है कि ग़लती अध्यापन के ख़राब तरीक़े में थी या उसके विचार में ही। हो सकता है कि बच्चे के सामान्य विकास के एक निश्चित स्तर पर पहुंचने तक, अख़बारों की मदद और यात्राओं के बिना उसमें ऐतिहासिक और भौगोलिक रुचि जागृत नहीं की जा सकती। हो सकता है कि वह तरीक़ा पा लिया जायेगा (मैं उसे लगातार खोज रहा हूं), जिसकी मदद से ऐसा करना संभव हो जायेगा। मैं सिर्फ़ इतना जानता हूं कि इस तरीक़े में किताबों से पढ़ाने के लिए कोई स्थान नहीं होगा, क्योंकि वह इन रुचियों को जागृत करने के बजाय ख़त्म ही करता है।

मैंने समकालीन इतिहास पढ़ाने के अन्य प्रयोग भी किये और कुछ प्रयोग अत्यंत सफल रहे। मैंने बच्चों को क्रीमियाई अभियान* के बारे में, ज़ार निकोलाई प्रथम के शासन के बारे में और १८१२ के इतिहास** के बारे में बताया। बताने का ढंग ऐसा था कि जैसे परीकथाएं सुना रहा होऊं और घटनाएं भी अधिकांशतः ऐतिहासिक दृष्टि से कपोल-कल्पित और किसी एक व्यक्ति के गिर्द केंद्रित थीं। जैसी कि उम्मीद की जाती थी, नेपोलियन के साथ लड़ाई की कहानी को सबसे अधिक पसंद किया गया।

यह पाठ हमारे जीवन की एक सदा याद रहनेवाली घटना थी।

---

* यहां आशय १८५३-१८५६ के क्रीमियाई युद्ध से है, जिसमें रूसियों की हार हुई थी।

** यहां आशय १८१२ के देशभक्तिपूर्ण युद्ध से है, जो नेपोलियन के नेतृत्व में फ़्रांस द्वारा रूस पर आक्रमण के साथ शुरू और रूस की विजय के साथ ख़त्म हुआ था।

मैं उसे कभी नहीं भूल पाऊंगा। बच्चों से बहुत पहले से वायदा किया हुआ था कि मैं उन्हें अंत से बताऊंगा और दूसरा अध्यापक आरंभ से और इस तरह बीच में हम मिल जायेंगे। मेरी कक्षा शाम को होती थी और मैंने पाया कि विद्यार्थी बिखर गये हैं; जब मैं रूसी इतिहास की कक्षा में पहुंचा, तो स्व्यातोस्लाव के बारे में बताया जा रहा था। विद्यार्थियों को कोई मज़ा नहीं आ रहा था। हमेशा की तरह एक ऊंची बेंच पर तीन किसान लड़कियां पास-पास बैठी हुई थीं। एक सो गयी थी। मीश्का ने मुझे टहोका: "देखो, हमारी कोयलें बैठी हुई हैं। एक तो सो भी गयी है।" और सचमुच, वे बिल्कुल कोयलों जैसी थीं। "बेहतर है, अंत से बताओ!" किसी ने कहा और सब चौकन्ने हो गये।

मैं बैठ गया और बताने लगा। हमेशा की तरह दो-एक मिनट तक ऊधम, एक दूसरे को धकियाना, वग़ैरह जारी रहा और फिर पूरी ख़ामोशी छा गयी। मैंने अलेक्सांद्र प्रथम से शुरू किया, फ़्रांसीसी क्रांति के बारे में, नेपोलियन की सफलताओं के बारे में, उसके सत्ता पर अधि-कार के बारे में, तिलसिट की संधि के साथ ख़त्म हुए युद्ध के बारे में बताया। ज्यों ही बात हम तक आयी, सभी ओर से सक्रिय सहभागिता की सूचक आवाज़ें और शब्द सुनायी देने लग गये... बाद में मैंने जारी रखते हुए बताया कि हमने फ़्रांसीसियों को कैसे खदेड़ा, कैसे हमने नेपो-लियन को पेरिस तक पहुंचाया, वास्तविक राजा को गद्दी पर बिठाया और विजय की ख़ुशियां और जश्न मनाये। सिर्फ़ क्रीमियाई युद्ध की यादों ने सारा मज़ा किरकिरा कर डाला। "ठहरना," हवा में मुक्का तानते हुए पेत्का कह ही बैठा। "मैं बड़ा हो लूं। तब ऐसा मज़ा चखाऊंगा कि ..."

जब मैंने ख़त्म किया, काफ़ी देर हो चुकी थी। आम तौर पर इस समय तक बच्चे सो जाते हैं। पर उस रोज़ कोई नहीं सोया। उल्टे, आंखें दहक ही रही थीं। मैं खड़ा हुआ ही था कि मुझे घोर आश्चर्य में डालते हुए तरास्का मेरी आरामकुर्सी के नीचे से निकला और उसने उत्तेजित तथा साथ ही गंभीर दृष्टि से मुझे देखा। "तुम वहां कैसे घुसे?" "वह वहां शुरू से ही था," किसी ने कहा। पूछना क्या था – मेरा बताया हुआ उसकी समझ में आया या नहीं, यह उसके चेहरे पर ही लिखा हुआ था। "तो तुम क्या बताओगे?" मैंने पूछा। "मैं?"

उसने कुछ सोचा और फिर आगे कहा, "सब कुछ"। "मैं घर पर बताऊंगा।" "मैं भी।" "और मैं भी।"

मैंने बच्चों को जो बताया था, वह इतिहास नहीं था, बल्कि जन भावना को जगानेवाली परीकथा * थी।

इसका मतलब था कि **इतिहास के अध्यापन के तौर पर** यह प्रयास पहले प्रयासों से भी ज़्यादा असफल रहा था।

भूगोल के अध्यापन में भी मैंने यही किया। सबसे पहले मैंने प्राकृतिक भूगोल को लिया। पहला पाठ मुझे अभी तक याद है। मैंने उसे शुरू ही किया था कि गड़बड़ा गया। हुआ वह, जिसकी मैंने कल्पना भी नहीं की थी, यानी कि जिसे मैं चाहता था कि दसवर्षीय किसान बच्चे जानें, वही चीज़ मैं ख़ुद नहीं जानता था। दिन और रात क्या होते हैं, यह समझाना तो मैं जानता था, पर शीत और ग्रीष्म ऋतुओं के बारे में गड़बड़ा गया। अपने अज्ञान पर शर्माकर मैंने कहे हुए को ही फिर से दोहराया और बाद में अपने बहुत से परिचित, शिक्षित लोगों से भी पूछा, मगर हाल ही में स्कूल से निकले लोगों या अध्यापकों के अलावा कोई भी मुझे ग्लोब की मदद के बिना ठीक से नहीं बता सका। पाठक चाहें, तो ख़ुद इसकी आज़मायश करके देख सकते हैं। मेरा दावा है कि **सौ में से सिर्फ़ एक आदमी ही उसे जानता है, जबकि पढ़ने सभी बच्चे जाते हैं**। मन ही मन भली भांति याद करके मैं फिर से समझाने लगा और मोमबत्ती और ग्लोब की मदद से, जैसा कि मुझे लगा, बहुत अच्छा समझाया। बच्चों ने मुझे बड़े ध्यान और चाव से सुना। (उन्हें वह जानने में ख़ास दिलचस्पी थी, जिसपर उनके पिता यक़ीन नहीं करते, ताकि मौक़ा आने पर अपनी बुद्धिमत्ता की शेखी बघारी जा सके।)

जब मैं शीत और ग्रीष्म ऋतुओं के बारे में बताना ख़त्म कर रहा था, संशयवादी स्योम्का ने, जो सबसे जल्दी समझ जाता है, मुझसे सवाल पूछा : "यह कैसे है कि पृथ्वी तो घूमती है और हमारी झोंपड़ी वहीं की वहीं खड़ी रहती है? उसे भी तो अपनी जगह से हट जाना चाहिए!" मैंने देखा कि कक्षा में जो सबसे तेज़ था, अपने समझाने में मैं उससे भी १००० वर्स्ट आगे निकल गया था। ऐसे में सबसे भोंदू भला क्या

* यहां आशय इतिहास को कलात्मक शैली में प्रस्तुत करने से है।

ख़ाक समझे होंगे?

मैं पीछे लौटा, फिर से विस्तार से समझाया, तस्वीरें बनाकर दिखायीं, पृथ्वी के गोल होने के सभी सबूत पेश किये, जैसे पृथ्वी के गिर्द यात्रा, जहाज़ का सबसे पहले मस्तूल दिखायी देना, वग़ैरह, और यह सोचकर अपने को सांत्वना देते हुए कि अब तो समझ गये होंगे, मैंने उन्हें वह सब लिख लेने को कहा, जो मैंने बताया था। उनके लिखे हुए से पता चला कि उनके लिए **सबूतों** को याद कर लेना ही मुख्य चीज़ था। दसियों ही नहीं, सैकड़ों बार मैंने सभी बातें फिर से बतायीं, पर हर बार नाकामयाबी ही हाथ लगती। परीक्षा में और अब भी शायद सभी विद्यार्थी संतोषजनक उत्तर दे देते, मगर मुझे लगता है कि वे समझे नहीं हैं, और यह याद करके कि मैं भी ३० वर्ष की आयु तक ठीक से नहीं समझ पाया था, मैंने उन्हें उनकी यह नासमझी माफ़ कर दी। जैसे बचपन में मेरे साथ हुआ था, वैसे ही अब वे भी बिना कुछ समझे शब्द में विश्वास कर ले रहे थे कि पृथ्वी गोल है, वग़ैरह। मेरे लिए तो समझना फिर भी अपेक्षाकृत आसान था, क्योंकि मैं जब बहुत छोटा था, धाय-मां ने मेरे मन में यह बात बिठायी थी कि जहां दुनिया ख़त्म होती है, वहां पृथ्वी और आकाश एक दूसरे से मिलते हैं और वहां पृथ्वी के छोर पर औरतें समुद्र में कपड़े धोती हैं और मुंगरियां बाद में उठाकर आकाश पर रख देती हैं। हमारे विद्यार्थी उस उम्र से कभी के निकल चुके हैं और उनकी जो धारणाएं पक्की हो चुकी हैं, वे उनसे बिल्कुल उल्टी हैं, जो मैं उन्हें सिखाना चाहता हूं। उनके जो तर्क हैं, उन्हें ध्वस्त करने के लिए और विश्व के बारे में अभी भी ज्यों के त्यों बने हुए दृष्टिकोण को नष्ट करने के लिए अभी बहुत समय कोशिशें करते रहना होगा और तब जाकर ही वे समझ पायेंगे। भौतिकी और यांत्रिकी के नियम ही वह पहली चीज़ हैं, जो इन पुराने दृष्टिकोणों को जड़ से नष्ट करेगी। लेकिन मेरी तरह और दूसरों की तरह उन्होंने भी भौतिकी से पहले प्राकृतिक भूगोल को पढ़ना शुरू किया।

अन्य सभी विषयों की भांति भूगोल के अध्यापन में भी जो सबसे आम, भद्दी और बुरी ग़लती की जाती है, वह जल्दबाज़ी है। हम जैसे कि इससे बेहद ख़ुश हो जाते हैं कि जानते हैं कि पृथ्वी गोल है तथा सूर्य के गिर्द घूमती है, और यह बात जितनी जल्दी हो सके,

विद्यार्थियों को बता डालना चाहते हैं। मगर महत्त्वपूर्ण यह जानना नहीं है कि पृथ्वी गोल है, बल्कि यह जानना है कि इस निष्कर्ष पर हम कैसे पहुंचे। बहुत बार बच्चों को बताया जाता है कि सूर्य पृथ्वी से इतने अरब वर्स्ट दूर है, मगर बच्चे के लिए इसमें आश्चर्य और दिलचस्पी की कोई बात नहीं होती। वह तो जानना चाहता है कि यह बात मालूम कैसे की गयी। फिर मैंने पृथ्वी की गोलाई के बारे में विस्तार से इसलिए बताया कि उसके बारे में जो कहा गया है, वह सारे ही भूगोल पर लागू होता है। एक हज़ार शिक्षित लोगों में से अध्यापकों और विद्यार्थियों को छोड़कर सिर्फ़ एक ही यह ठीक से जानता है कि सरदियां और गरमियां क्यों होती हैं। पृथ्वी गोल क्यों है, इस बात को बचपन में कोई भी नहीं समझ पाता, हालांकि सिखाया यह सबको जाता है।

प्राकृतिक भूगोल के बाद मैंने पृथ्वी के विभिन्न भागों और उनकी विशेषताओं के बारे में बताना शुरू किया, और इसमें से भी इसके अलावा कुछ बाक़ी नहीं बचा कि पूछे जाने पर सब बढ़-बढ़कर चिल्लाते हैं: एशिया, अफ़्रीका, आस्ट्रेलिया! पर अगर एकाएक पूछें कि फ़्रांस विश्व के किस भाग में है (एक ही मिनट पहले बताया गया था कि इंगलैंड और फ़्रांस यूरोप में हैं), तो जवाब में सुनने को मिलेगा कि फ़्रांस अफ़्रीका में है। जब भी हम भूगोल पढ़ाना शुरू करते हैं, हर बुझी-बुझी निगाह, कंठ से निकली हर आवाज़ एक ही प्रश्न पूछती प्रतीत होती है: किसलिए? और इस विषादजनक प्रश्न का कोई उत्तर नहीं है।

अंत से शुरू करने का मामूली विचार जैसे इतिहास के अध्यापन में पैदा हुआ, वैसे ही भूगोल के अध्यापन में भी स्कूल के कमरे से, अपने गांव से शुरू करने का मामूली विचार पैदा हुआ। मैंने ये प्रयोग जर्मनी में देखे हैं और सामान्य ढंग से भूगोल के अध्यापन की असफलता से हतोत्साह होकर खुद भी कमरे, घर, गांव का वर्णन करने लग गया। नक़्शे खींचने की तरह ये अभ्यास भी निरर्थक नहीं हैं, मगर यह जानना क़तई दिलचस्प नहीं है कि हमारे गांव के बाद क्या है, क्योंकि सभी विद्यार्थी जानते हैं कि वहां तेल्यातीन्की है। और तेल्यातीन्की के बाद क्या है, यह जानना भी दिलचस्प नहीं है, क्योंकि वहां भी तेल्यातीन्की जैसा ही कोई गांव होगा, और तेल्यातीन्की तथा उसके खेत बिल्कुल भी दिलचस्प नहीं हैं। मैंने उन्हें मास्को और कीयेव जैसी महत्त्वपूर्ण

भौगोलिक जगहों के बारे में बताने की कोशिश की, मगर यह सब उनके दिमाग़ में इतने क्रमहीन ढंग से बैठा कि उन्होंने सब कुछ रट ही डाला। मैंने नक़्शे बनाकर भी दिखाये। यह उन्हें रोचक लगा और सचमुच इससे याद रखने में मदद मिली। पर पुनः प्रश्न पैदा हुआ: याद रखने में मदद क्यों की जाये? मैंने उन्हें एक बार फिर ध्रुवक्षेत्रीय और विषुवतीय देशों के बारे में बताकर देखा। उन्होंने मज़े के साथ सुना और सुनाया भी, पर इन कहानियों में उन्हें और सब कुछ याद रहा, सिवाय उसके कि जो भूगोल से संबंध रखता था। मुख्य बात यह थी कि उनके लिए गांवों के नक़्शे भूगोल नहीं, बल्कि नक़्शे थे, मानचित्र बनाना भूगोल का हिस्सा नहीं, बल्कि मानचित्र बनाना था; पशु-पक्षियों, जंगलों, शहरों, आदि की कहानियां भूगोल नहीं, बल्कि कहानियां थीं। भूगोल सिर्फ़ रटना था। नयी किताबों में से एक भी किताब रोचक नहीं थी। भूगोल से मिलती-जुलती सिर्फ़ एक किताब ऐसी थी, जो थोड़ी-बहुत रोचक थी, हालांकि उसकी ओर किसी का ध्यान नहीं गया है। मैं समझता हूं कि यह किताब इसकी सर्वोत्तम मिसाल है कि बच्चों को भूगोल की पढ़ाई के वास्ते तैयार करने और उनमें भौगोलिक रुचि जागृत करने के लिए क्या किया जाना चाहिए...

विद्यार्थियों के लिए किसी भी घटना की रोचकता की कसौटी यह नहीं होती कि वह इतिहास में कितना महत्त्व रखती है, बल्कि यह होती है कि इतिहासकार ने – और ज़्यादातार मामलों में तो लोक परंपरा ने – उसे कितने कलात्मक ढंग से प्रस्तुत किया है।

रोमुलस और रीमस का इतिहास इसलिए रोचक नहीं है कि इन भाइयों ने विश्व के एक सबसे शक्तिशाली राज्य की स्थापना की थी, बल्कि इसलिए रोचक है कि उन्हें मादा भेड़िया द्वारा दूध पिलाये जाने, आदि की कहानियां बड़ी मज़ेदार, आश्चर्यजनक और सुंदर लगती हैं। ग्राकस बंधुओं का इतिहास अपनी कलात्मकता के कारण दिलचस्प है। इसी तरह ग्रेगोरी सातवें और मारे गये सम्राट के इतिहास में भी रोचकता के सभी तत्त्व मौजूद हैं। मगर जातियों के महादेशांतरण के इतिहास में कोई मज़ा नहीं आयेगा और वह निरर्थक भी होगा, क्योंकि उसकी विषयवस्तु में कलात्मकता नहीं है, ठीक वैसे ही कि जैसे मुद्रण के आविष्कार के इतिहास में भी नहीं है, चाहे हम विद्यार्थी को कितना भी विश्वास क्यों न दिलायें कि यह इतिहास में एक पूरे

युग का प्रतिनिधित्व करता है और गुटेनबर्ग एक महान व्यक्ति था। अगर आप अच्छे, रोचक ढंग से बतायेंगे कि दियासलाई कैसे ईजाद हुई थी, तो विद्यार्थी कभी नहीं मानेगा कि दियासलाई का आविष्कर्ता गुटेनबर्ग से कम महान आदमी था। संक्षेप में, बच्चे के लिए, या कहें तो विद्यार्थी के लिए, जिसने जीवन अभी शुरू भी नहीं किया है, सामान्य मानवीय रुचि की तो बात ही क्या, ऐतिहासिक रुचि नाम की भी कोई चीज़ नहीं है। जो है, वह सिर्फ़ कलात्मक रुचि है। कहते हैं कि सामग्री का संसाधन करके सभी कालों के इतिहास को कलात्मक ढंग से पेश किया जा सकता है। मगर मैं इससे सहमत नहीं। इतिहास को लोकप्रिय बनाने के लिए कलात्मक आवरण नहीं चाहिए, बल्कि जैसे कि कभी-कभी परंपरा, स्वयं जीवन और महान विचारक तथा कलाकार करते हैं, इतिहास की परिघटनाओं को सजीव बनाने की ज़रूरत है। बच्चों को इतिहास तभी पसंद आता है, जब उसकी अंतर्वस्तु में कलात्मकता का पुट होता है। उनके लिए ऐतिहासिक रुचि का कोई अस्तित्व नहीं है और न हो ही सकता है, और इसलिए बाल इतिहास नाम की भी न कोई चीज़ है, न हो ही सकती है। इतिहास कलात्मक विकास के लिए सामग्री का काम कभी-कभार ही करता है, और जब तक ऐतिहासिक रुचि विकसित नहीं होती, इतिहास का प्रश्न भी नहीं उठ सकता ...

यही बात भूगोल के संबंध में भी है। जब मित्रोफ़ानुश्का * से भूगोल सीखने को कहा गया, तो उसकी अम्मा बोली, "सारी दुनिया को जानकर क्या मिलेगा? कहीं जाना होगा, तो गाड़ीवान ख़ुद ले जायेगा।" भूगोल के विरुद्ध इससे ज़्यादा कड़ी बात कोई नहीं कही गयी है और दुनिया का कोई भी विद्वान ऐसी अकाट्य दलील का जवाब नहीं दे सकता। मैं यह पूरी गंभीरता से कह रहा हूं। मुझे बार्सीलोना नदी और नगर की स्थिति को जानने की क्या ज़रूरत थी, अगर ३३ वर्ष तक एक बार भी यह ज्ञान मेरे किसी काम नहीं आया? जहां तक मैं समझता हूं, मेरी आत्मिक शक्तियों के विकास में बार्सीलोना और उसके निवासियों का सबसे सुंदर चित्रण भी सहायक नहीं हो सकता था। स्योम्का और फ़ेद्का को पीटर्सबर्ग ** के जलमार्गों को जानने की क्या ज़रूरत

* फ़ोन्वीज़िन की कामेडी 'भोंदू' का एक पात्र।

** वर्तमान लेनिनग्राद

है, अगर, जैसी कि संभावना है, वे वहां कभी नहीं जा पायेंगे? अगर स्योम्का का वहां कभी जाना होगा भी, तो उसे इससे कोई फ़र्क़ नहीं पड़ेगा कि उसने यह स्कूल में पढ़ा था या नहीं, क्योंकि तब इन जलमार्गों को वह व्यवहार में जान ही जायेगा और अच्छी तरह जान जायेगा। मैं नहीं समझ सकता कि उसकी आत्मिक शक्तियों के विकास में इस बात की जानकारी से कोई मदद मिल सकती है कि वोल्गा में सन से लदे जहाज़ नीचे की ओर जाते हैं और अलकतरे से लदे जहाज़ ऊपर की ओर, कि दुबोव्का नाम का एक बंदरगाह है, कि फ़लां भूमिगत परत फ़लां जगह तक जाती है, कि सामोयेद लोग बारहसिंगा गाड़ियों पर सफ़र करते हैं, वग़ैरह-वग़ैरह। मेरे पास गणित, प्रकृति, भाषा और कविता से संबंधित ज्ञान का एक पूरा भंडार है, जिसे देने के लिए मुझे पूरा वक़्त नहीं मिल पाता। फिर मेरे परिवेशी जीवन द्वारा उठाये गये अनगिनत प्रश्न भी हैं, जिनका विद्यार्थी उत्तर चाहता है और जिनका उत्तर देने से पहले ज़रूरी है कि मैं उसे ध्रुवक्षेत्रीय बर्फ़, उष्ण-कटिबंधीय देशों, आस्ट्रेलिया के पहाड़ों, अमरीका की नदियों, आदि से परिचित कराऊं। इतिहास और भूगोल में अनुभव एक ही बात कहता है और हर कहीं हमारे विचारों की पुष्टि करता है। हर कहीं भूगोल और इतिहास ग़लत ढंग से पढ़ाये जाते हैं; परीक्षाओं के कारण पहाड़ों, नगरों और नदियों को, राजाओं और महाराजाओं को रट लिया जाता है; हर कहीं इन विषयों के अध्यापन पर असंतोष दिखाया जाता है, नये की तलाश की जाती है और तलाश असफल रहती है। मज़े की बात तो यह है कि सभी मानते हैं कि भूगोल की अपेक्षाओं और सारी दुनिया के स्कूली विद्यार्थियों की भावना के बीच सामंजस्य नहीं है, और इसके नतीजे के तौर पर बच्चों को ये शब्द याद करवाने के हज़ारों विलक्षण उपाय सोचे जाते हैं, जबकि यह बहुत मामूली विचार किसी को भी नहीं सूझता कि इस भूगोल की, इन शब्दों की कोई आवश्यकता नहीं है, कि इन शब्दों को जानना क़तई ज़रूरी नहीं है। भूगोल को भूविज्ञान, प्राणिविज्ञान, वनस्पतिविज्ञान, नृजातिवर्णन, और दूसरे भी न जाने किन-किन विज्ञानों से जोड़ने की, इतिहास को जीवनकथाओं से जोड़ने की सभी कोशिशें खोखले सपने हैं, जो ऐसी घटिया किताबों को जन्म देते हैं, जो न बच्चों के काम की हैं, न किशोरों के, न अध्यापकों का कोई मतलब हल करती हैं, न आम जनता का ही। सच तो यह है

कि अगर भूगोल और इतिहास की इन तथाकथित नयी किताबों के लेखक एक क्षण के लिए भी सोचते कि वे चाहते क्या हैं, और स्वयं इन किताबों के आधार पर पढ़ाकर देखते, तो उन्हें मालूम हो जाता कि उनकी सारी मेहनत कितनी व्यर्थ थी।

पहली बात तो यह है कि प्राकृतिक विज्ञानों और नृजातिवर्णन के साथ जोड़ने से भूगोल एक ऐसा अत्यंत बोझिल विज्ञान बन जायेगा कि जिसके अध्ययन के लिए सारा जीवन भी पूरा नहीं पड़ेगा और जो बच्चों की समझ में अकेले भूगोल से भी कम आयेगा और ज़्यादा शुष्क होगा। दूसरे, ऐसी किताब लिखने के लिए शायद हज़ार साल बाद ही पर्याप्त सामग्री मिल सकेगी। क्रापीव्ना उयेज़्द में भूगोल पढ़ाते हुए मैं विद्यार्थियों को उत्तरी ध्रुव के जीव तथा वनस्पति जगत तथा भूवैज्ञानिक बनावट के बारे में विस्तार से बताने को बाध्य होऊंगा, क्योंकि इसके लिए मेरे पास आवश्यक सामग्री होगी, जबकि पड़ोस के ही उयेज़्दों के बारे में लगभग कुछ नहीं बता सकूंगा, क्योंकि इसके लिए कोई सामग्री नहीं होगी। मगर बच्चे और सामान्य बुद्धि मुझसे अध्यापन में संतुलन और यथातथ्यता बनाये रखने की अपेक्षा करते हैं। विकल्प यही रह जाता है कि या तो पाठ्यपुस्तक में जो लिखा है, उसे आंख मूंदकर पढ़ाऊं, या बिल्कुल भी न पढ़ाऊं। जैसे इतिहास के लिए ऐतिहासिक रुचि जागृत की जानी चाहिए, ठीक वैसे ही भूगोल के लिए भौगोलिक रुचि जगायी जानी चाहिए। और मैंने पाया है कि भौगोलिक रुचि या तो प्राकृतिक विज्ञानों द्वारा जगायी जाती है, या फिर यात्राओं द्वारा। वैसे १०० में से ९९ मामलों में भौगोलिक रुचि यात्राओं का परिणाम होती है। जिस प्रकार अख़बार और मुख्यतः जीवनियां पढ़ना और अपनी मातृभूमि के राजनीतिक जीवन में रुचि लेना इतिहास के अध्ययन की दिशा में पहले क़दम का काम करते हैं, वैसे ही यात्राएं भूगोल के अध्ययन के लिए पहले क़दम का काम करती हैं। आज के युग में अख़बार, आदि पढ़ना और यात्राएं सबके लिए सुलभ और सुगम बन गये हैं और इसलिए हमें इतिहास और भूगोल के अध्यापन से संबंधित पुराने विश्वास को छोड़ने से डरना चाहिए। इस मामले में आज स्वयं जीवन इतना शिक्षाप्रद है कि अगर वास्तव में भूगोल और इतिहास का ज्ञान सामान्य विकास के लिए इतना आवश्यक होता, जितना कि हमें लगता है, तो जीवन सदा इस कमी को स्वयं पूरी कर देगा... आज

खगोलशास्त्र, अलंकारशास्त्र, काव्यशास्त्र, लैटिन, आदि नहीं पढ़ाये जाते, मगर इससे मानवजाति पहले से ज़्यादा मूर्ख नहीं हो गयी है। नये विज्ञान पैदा हो रहे हैं। प्राकृतिक विज्ञान लोकप्रिय बनने लगे हैं। विलोप पुराने विज्ञानों का, या अगर ठीक-ठीक कहें तो विज्ञानों के उन पहलुओं का भी होना चाहिए, जो नये विज्ञानों के आविर्भाव के कारण निरर्थक बन गये हैं।

रुचि जगाना, यह जानना कि विभिन्न देशों में लोग कैसे रहते हैं, कैसे रहते थे, कैसे पैदा हुए तथा बढ़े, उन नियमों के ज्ञान में रुचि जगाना, जिनसे मानवजाति हमेशा निदेशित होती है, और, दूसरी ओर, सारे भूमंडल पर प्रकृति की परिघटनाओं के नियमों और मानववंश के प्रसार के नियमों को समझने में रुचि जगाना दूसरी बात है। मैं इसके लिए दो ही उपाय जानता हूं : कविता की कलात्मक अनुभूति और देशप्रेम। इन दोनों को विकसित करने के लिए अभी कोई पाठ्यपुस्तकें नहीं लिखी गयी हैं, और जब तक वे नहीं हैं, हमें इसके तरीक़े खोजने चाहिए, न कि युवा पीढ़ी को मात्र इसलिए ही भूगोल तथा इतिहास सीखने पर विवश करना और अपने समय और शक्ति का अपव्यय करना चाहिए कि हमें भी इतिहास और भूगोल सिखाया गया था।

८ख. यास्नाया पोल्याना स्कूल की नवंबर और दिसंबर महीनों की रिपोर्ट

(पिछले अंक से जारी)

चित्रकारी और गायन

यास्नाया पोल्याना स्कूल की नवंबर और दिसंबर महीनों की रिपोर्ट में मुझे अभी दो विषयों के बारे में और बताना है, जिनका स्वरूप अन्य सभी विषयों से बिल्कुल भिन्न है। ये चित्रकारी और गायन हैं, जो कलाएं हैं।

अगर मेरी यह मान्यता न होती कि मैं नहीं जानता कि किसे क्या और क्यों सिखाना चाहिए, तो मुझे अपने से प्रश्न करना चाहिए था: किसानों के बच्चों को, जो जीवनभर रोटी की चिंता करने को मजबूर हैं, कलाएं सीखकर क्या कोई फ़ायदा होगा? सौ में से निन्यानवे आदमी इस प्रश्न का उत्तर नहीं में देंगे। और कोई उत्तर हो भी नहीं सकता। ज्यों ही ऐसा प्रश्न उठता है, सामान्य बुद्धि निम्न उत्तर दिये जाने की अपेक्षा करती है: उसे खेत जोतना चाहिए, न कि कलाकार बनना चाहिए। अगर वह कलाकार बनेगा, तो उस कठिन और अनन्त काम को वह नहीं कर पायेगा, जिसको अगर वह नहीं करता, तो राज्य के अस्तित्व की कल्पना भी नहीं की जा सकती। '**वह**' या '**उस**' से यहां मेरा तात्पर्य जनता की संतान से, आम आदमी से है। सचमुच यह एक मूर्खता है, पर मुझे इस मूर्खता से खुशी है और मैं उससे भी आगे जाकर उसके कारण का पता लगाने की कोशिश करता हूं। इससे भी बड़ी एक और मूर्खता है। वह यह कि इस जनता की संतान को, हर आम आदमी को कला का आनंद लेने का ठीक वैसा ही अधिकार है, बल्कि मैं तो कहूंगा कि हमसे भी ज्यादा अधिकार है। और 'हम' से मेरा तात्पर्य सौभाग्यशाली श्रेणी की संतानों से है, जिन्हें

वैसी कठिन, अंतहीन मेहनत नहीं करनी पड़ती और जिन्हें सभी सुविधाएं उपलब्ध हैं।

उसे, यानी जनता की संतान को कला का आनंद लेने के अधिकार से वंचित करना, उसका सारा अस्तित्व सर्वोच्च आनंद के जिस क्षेत्र में ले जाये जाने के लिए पुकार रहा है, उस क्षेत्र में उसे ले जाने के अधिकार से मुझ अध्यापक को वंचित करना और भी बड़ी मूर्खता है। इन दो मूर्खताओं के बीच सामंजस्य कैसे किया जाये? यह भावुकता नहीं है, जिसका मुझे अंक १ में सैर का वर्णन करने के सिलसिले में उलाहना दिया गया था। यह कोरा तर्क है। किसी भी तरह का सामंजस्य असंभव ही नहीं हैं, बल्कि अपने आपको धोखा देना भी है। लोग कहेंगे – और कहते भी हैं – कि अगर सार्वजनिक स्कूल में चित्रकारी सिखानी ही है, तो केवल अनुकृतिमूलक, तकनीकी और अनुप्रयोज्य चित्रकारी सिखानी चाहिए, जैसे हल, मशीनों, इमारतों आदि के चित्र बनाना, यानी जो चित्रकारी आरेखण की सहायक कला है। चित्रकारी के बारे में ऐसी साधारण धारणा यास्नाया पोल्याना स्कूल एक अध्यापक की भी है, जिसकी रिपोर्ट हम पेश कर रहे हैं। मगर चित्रकारी सिखाने के ठीक ऐसे ही अनुभव ने हमारे इस विश्वास को और मज़बूत बनाया है कि यह तकनीकी कार्यक्रम भ्रामक और अनुचित है। चार महीने की सतर्कतापूर्ण और केवल तकनीकी चित्रकारी के बाद, जिसमें लोगों, पशु-पक्षियों और प्रकृति का किसी प्रकार का चित्रांकन वर्जित था, हुआ यह कि ज्यादातर विद्यार्थियों की तकनीकी वस्तुओं के चित्र बनाने में रुचि काफ़ी घट गयी और एक कला के नाते चित्रकारी के प्रति रुझान और एक कला के नाते उसकी आवश्यकता का अहसास इतने अधिक बढ़ गये कि उन्होंने गुप्त कापियां रखनी शुरू कर दीं, जिनमें वे लोगों की और घोड़ों की तस्वीरें बनाते हैं और घोड़ों की चारों टांगें एक ही जगह से निकली हुई दिखाते हैं।

यही बात संगीत के बारे में भी है। सार्वजनिक स्कूलों के साधारण कार्यक्रम में वृंद-गायन और चर्च-गायन के अलावा और किसी गायन के लिए कोई स्थान नहीं है और ठीक वैसे ही इसकी शिक्षा, यानी किन्हीं निश्चित स्वरों को निकालना या तो बच्चों के लिए नीरस और कष्टकर होता है, क्योंकि उन्हें ऑर्गन के पाइपों का स्थान लेनेवाले कंठ माना और बनाया जाता है, या फिर इससे बच्चों में लालित्य का

बोध विकसित होता है, जो अपने आपको बलालाइका अथवा हार्मोनिका के वादन अथवा ऊटपटांग गीतों के गायन में प्रकट करता है, जिन्हें स्वयं अध्यापक न तो संगीत समझता है और न जिनमें वह विद्यार्थियों का निदेशन करना ही आवश्यक समझता है। दो में से बात है: या तो कलाएं पूरी ही तरह से हानिकारक और अनावश्यक हैं, जो अपने आपमें इतनी विचित्र बात नहीं है, जितनी कि पहली दृष्टि में लगती है, या फिर हर किसी को, श्रेणियों और व्यवसायों का भेद किये बिना कला सीखने और अपने को इस कारण उसे पूर्णतः समर्पित कर देने का अधिकार है कि कला साधारण योग्यता को सहन नहीं करती।

मूर्खता इसमें नहीं है। मूर्खता इस तरह का प्रश्न उठाये जाने में है, जैसे: क्या आम लोगों के बच्चों को कलाएं सीखने व उनका आनंद लेने का अधिकार है? यह पूछना ठीक वैसे ही है, जैसे कोई यह पूछे: क्या आम लोगों के बच्चों को खाना खाने का अधिकार, यानी अपनी मानवीय आवश्यकता पूरी करने का अधिकार है? सवाल इसका नहीं है कि जो खाना हम जनता को दे रहे हैं या वर्जित ठहरा रहे हैं, वह अच्छा है या बुरा। ठीक वैसे ही जैसे कि जनता को ऐसा ज्ञान देते हुए, जो हमारे अधिकार में है, और उसपर उसका बुरा असर पड़ता देखकर मैं यह निष्कर्ष नहीं निकालता कि जनता इसलिए जाहिल है कि इस ज्ञान को नहीं सीख रही है, या यह कि वह अभी इस ज्ञान को ग्रहण कर पाने और उससे लाभ उठा सकने के उतने क़ाबिल नहीं है, जितने क़ाबिल हम हैं, बल्कि मैं यह निष्कर्ष निकालता हूं कि जो ज्ञान हम दे रहे हैं, वही अच्छा नहीं है, वही सामान्य नहीं है, और इसलिए हमें जनता की मदद से सबके – समाज के भी और आम लोगों के भी – अनुरूप ज्ञान विकसित करना चाहिए। मैं सिर्फ़ यही निष्कर्ष निकालता हूं कि जो ज्ञान और कलाएं हमारी हैं और हमें अहानिकर लगती हैं, वही ज्ञान और कलाएं जनता की सिर्फ़ इसलिए नहीं हो सकतीं और उसके लिए हानिकारक सिर्फ़ इसलिए प्रतीत होती हैं कि यह ज्ञान और कलाएं वे नहीं हैं, जिनकी वास्तव में आवश्यकता है। हम उनके बीच सिर्फ़ इसलिए रहते हैं कि हम बिगड़ चुके हैं, कि कारखाने या शराबखाने की दूषित हवा में बिना किसी हानि के पांच घंटे से बैठे लोगों का वही हवा कुछ नहीं बिगाड़ सकती, जिसमें ताज़े आये आदमी का सांस ले पाना भी अत्यंत कठिन होता है।

आपत्ति की जायेगी: किसने कहा है कि हमारे शिक्षित वर्ग का ज्ञान और कलाएं मिथ्या हैं? अगर आम लोग उन्हें ग्रहण नहीं करते, तो इससे आप क्यों समझते हैं कि वे मिथ्या हैं? ऐसे सभी सवालों का जवाब बड़ा आसान है: **क्योंकि हम सिर्फ़ हज़ारों में हैं, जबकि उनकी संख्या लाखों-करोड़ों में है।**

उपरोक्त शरीरक्रियात्मक तथ्य से तुलना जारी रखूं। ताज़ी हवा से आदमी तंबाकू के धुएं से भरे हुए घुटनदार नीचे कमरे में आता है। उसकी सभी जीवनीय क्रियाएं अभी सामान्य हैं और सांस के ज़रिये उसके शरीर ने शुद्ध हवा से बड़ी मात्रा में ऑक्सीजन ग्रहण किया हुआ है। इसी आदत को उसका शरीर अब दूषित हवावाले कमरे में जारी रखता है। नुक़सानदेह गैसें बड़ी मात्रा में ख़ून में मिल जाती हैं। शरीर कमज़ोर होने लगता है, जिसका अंत प्रायः मूर्च्छा में और कभी-कभी मृत्यु में होता है। उधर, दूसरी ओर, सैकड़ों लोग उसी दूषित हवा में सांस लेना और रहना सिर्फ़ इसलिए जारी रखे हुए हैं कि उनकी सभी जीवनीय क्रियाएं उतनी प्रभावी नहीं रह गयी हैं। दूसरे शब्दों में, वे दुर्बल हो गये हैं और अपूर्ण जीवन जीते हैं।

मुझसे पूछेंगे: रहते ये लोग भी हैं और वे लोग भी, मगर कौन तय करेगा कि किसका जीवन अधिक सामान्य और बेहतर है? जैसे दूषित हवा से ताज़ी हवा में आने पर आदमी प्रायः मूर्च्छित हो जाता है, वैसे ही ताज़ी हवा से दूषित हवा में जाने पर भी होता है। शरीरक्रियाविज्ञानी के लिए और सामान्यतः हर समझदार आदमी के लिए इस प्रश्न का उत्तर आसान है। वे सिर्फ़ यही कहेंगे: ज़्यादा लोग कहां रहते हैं – ताज़ी हवा में या दूषित हवावाली कोठरियों में? शरीरक्रियाविज्ञानी दोनों तरह के लोगों की जीवनीय क्रियाओं की तुलना करेगा और कहेगा कि जो ताज़ी हवा में रहते हैं, उनकी क्रियाएं और पोषण अधिक प्रभावी तथा पूर्ण हैं।

ऐसा ही सहसंबंध तथाकथित शिक्षित समाज की कलाओं और जनता की कला की अपेक्षाओं के बीच भी पाया जाता है। मेरा आशय चित्रकला, मूर्तिशिल्प, संगीत और कविता, सभी से है। इवानोव की चित्ररचना तकनीकी कौशल की दृष्टि से ही आम आदमी को प्रभावित करती है। वह उसमें कोई काव्यात्मक या धार्मिक भावना नहीं जगाती, जबकि सस्ते मामूली चित्र यह काव्यात्मक भावना जगा देते हैं। मिलो की

12-942

वीनस नग्नता के कारण, अमर्यादित कामुकता के कारण, नारी की शर्म के कारण उचित ही जुगुप्सा का भाव ही पैदा करेगी। बीथोवन का क्वार्टेट एक अप्रिय सा कोलाहल ही प्रतीत होगा और उसमें अगर कोई चीज़ आकृष्ट कर सकती है, तो वह केवल यह है कि एक आदमी बड़ी सी बांसुरी बजा रहा होता है और दूसरा बड़ी सी वायलिन। हमारे काव्यसाहित्य की सर्वश्रेष्ठ रचनाएं – पुश्किन के प्रगीत – आम आदमी के लिए मात्र शब्दों का जमघट हैं और उनके भाव बेकार की बकवास हैं। जनता की संतान का आप इस दुनिया से साक्षात्कार करायें, जो आप कर सकते हैं और शिक्षा संस्थाओं, अकादमियों तथा कला की कक्षाओं के क्रमसोपान के ज़रिये आप लगातार कर भी रहे हैं। आप पायेंगे कि वह इवानोव के चित्र, मिलो की वीनस, बीथोवन के क्वार्टेट और पुश्किन के प्रगीत, सबको महसूस करेगी और सच्चे दिल से करेगी। मगर इस दुनिया में पहुंचकर वह खुलकर सांस नहीं ले सकेगी और जब वह फिर उसके बाहर आयेगी, तो ताज़ी हवा उसे अप्रिय और अनिष्टकर लगेगी। जैसे सांस के मामले में सामान्य बुद्धि और शरीरक्रिया-विज्ञान एक ही बात कहेंगे, वैसे कला के मामले में सामान्य बुद्धि और शिक्षाशास्त्र भी (वह शिक्षाशास्त्र नहीं जो स्कूलों का कार्यक्रम निर्धारित करता है, बल्कि वह, जो शिक्षा के सामान्य उपायों तथा नियमों को जानने का प्रयत्न करता है) यही उत्तर देंगे कि बेहतर और पूर्णतर जीवन वही जीता है, जो हमारे शिक्षित वर्ग की कला के दायरे में नहीं रहता, कि आम जनता कला से हमारी तुलना में अधिक न्याय-संगत अपेक्षाएं रखती है और अधिक पूर्ण तुष्टि पाती है। सामान्य बुद्धि ऐसा केवल इसलिए कहेगी कि वह इस परिवेश के बाहर रहनेवाली प्रबल बहुसंख्या को (जो मात्र संख्या के कारण ही प्रबल नहीं है), सुखी बहुसंख्या को देखती है। दूसरी ओर, शिक्षाशास्त्र हमारे परिवेश में और उसके बाहर रहनेवाले लोगों की आत्मिक क्रियाओं का प्रेक्षण करता है, देखता है कि लोगों को दूषित हवा से युक्त कमरे में ले जाते समय, यानी युवा पीढ़ियों को हमारी कलाओं से अवगत कराते समय क्या होता है, और ताज़े लोगों को कृत्रिम वातावरण में पहुंचने पर जो मूर्च्छा आती है और जो घृणा वे अनुभव करते हैं, उनके आधार पर, आत्मिक क्रियाओं की सीमितता के आधार पर यह निष्कर्ष निकालता है कि कला से जनता जो मांगें करती है, वे बिगड़ी हुई अल्पसंख्या, तथाकथित शिक्षित वर्ग

की मांगों से कहीं ज़्यादा न्यायसंगत हैं।

मैंने ये बातें कला के ऐसे दो क्षेत्रों में विशेष रूप से पायी हैं, जिन्हें मैं ज़्यादा निकट से जानता हूं और जिनसे एक समय मुझे अत्यधिक लगाव था। ये हैं संगीत और कविता। और मैं इस भयानक निष्कर्ष पर पहुंचा हूं कि इन दो क्षेत्रों में हमने जो कुछ किया है, वह ऐसे ग़लत रास्ते पर चलते हुए किया है, जो महत्त्वहीन और भविष्यहीन है और उन्हीं कलाओं की जो मिसालें तथा अपेक्षाएं हम जनता में पाते हैं, उनकी तुलना में बिल्कुल बेकार है। मेरी यह धारणा और दृढ़ बनी है कि 'मुझे वह स्वर्गिक क्षण याद है' जैसे प्रगीत और बीथोवन की अंतिम सिंफ़नी जैसी संगीत रचनाएं इतने निरुपाधिक तथा सर्वमान्य रूप से अच्छी नहीं हैं, जितने अच्छे कि 'वान्का भंडारी' और 'वोल्गा माता के बहाव के साथ' जैसे गीत हैं, कि पुश्किन और बीथोवन हमें इसलिए नहीं पसंद आते कि उनमें सर्वोच्च सौंदर्य है, बल्कि इसलिए पसंद आते हैं कि हम भी उनके, यानी पुश्किन और बीथोवन के जैसे ही बिगड़े हुए हैं और पुश्किन तथा बीथोवन, दोनों ही समान रूप से हमारी घिनौनी बदमिज़ाजी और हमारी कमज़ोरी की मिथ्या प्रशंसा करते हैं। यह घटिया बात सुनते-सुनते कान पक गये हैं कि सौंदर्य को समझने के लिए उसकी थोड़ी-बहुत शिक्षा आवश्यक है। यह किसने कहा था, क्यों कहा था और इसका सबूत क्या है? हमारी कला की ग़लत दिशा और उसके सिर्फ़ एक ही वर्ग की कला होने से हम जिस अंधगली में जा पहुंचे हैं यह उससे निकलने की एक चाल, एक छेद ही है। क्यों सूर्य के सौंदर्य, मनुष्य के चेहरे के सौंदर्य, लोकगीतों की ध्वनियों के सौंदर्य, प्यार और आत्मत्याग से भरे कार्य के सौंदर्य को तो हर कोई समझ जाता है और उसके लिए किसी शिक्षा की, किसी तैयारी की आवश्यकता नहीं होती?

मैं जानता हूं कि ज़्यादातर लोगों को ये बातें बकवास और जिह्वा-विलास लगेंगी, मगर शिक्षाशास्त्र – स्वतंत्र शिक्षाशास्त्र – प्रयोगों के द्वारा बहुत से प्रश्नों को स्पष्ट कर देता है और उन्हीं परिघटनाओं को अनगिनत बार दोहराकर प्रश्नों को स्वप्नों तथा विचारों के क्षेत्र से ऐसी प्रस्थापनाओं के क्षेत्र में ले आता है, जिनकी तथ्यों द्वारा पुष्टि हो चुकी है। मैं विद्यार्थियों को पुश्किन की कविताओं और हमारे सारे साहित्य के सौंदर्य से अवगत कराने पर बरसों नाहक सिर खपाता रहा

हूं और यही असंख्य अन्य अध्यापक – सिर्फ़ रूस में ही नहीं – भी करते रहे हैं और अगर ये अध्यापक अपने प्रयत्नों के परिणामों पर ग़ौर करें तथा कुछ छिपायें नहीं, तो उन सभी के मुंह से आप यही सुनेंगे कि काव्यानुभूति के विकास के सभी प्रयत्नों का मुख्य परिणाम यही रहा कि वह ख़त्म हो गयी और ऐसी व्याख्याओं के प्रति अधिक विरक्ति उन्होंने ही दिखायी, जो सबसे अधिक काव्यमय स्वभाव के थे ... मैं बरसों तक मगज़पच्ची करता रहा, पर कुछ हासिल नहीं कर सका; पर संयोगवशात् रीब्निकोव के संग्रह को खोलना था कि विद्यार्थियों की काव्यपिपासा पूरी तरह तुष्ट हो गयी। यह ऐसी तुष्टि थी कि जिसे मैं पुश्किन की उत्कृष्टतम रचना के साथ रीब्निकोव के संग्रह के किसी भी गीत की शांत तथा तटस्थ भाव से तुलना करने पर किसी भी प्रकार अस्वाभाविक नहीं मान सकता था।

यही मेरे साथ संगीत के मामले में भी हुआ ....

ऊपर जो कहा गया है, उसका निचोड़ इस प्रकार है। शिक्षाशास्त्री आम तौर पर इस प्रश्न का उत्तर देने से कतराते हैं या गड़बड़ा जाते हैं कि जनता को ललित कलाएं (beaux arts) चाहिए या नहीं (केवल प्लेटो ने ही निस्संकोच इस प्रश्न का उत्तर दिया था, और वह नकारात्मक था)। कुछ लोग कहते हैं: चाहिए, मगर कुछ प्रतिबंधों के साथ, क्योंकि सबको कलाकार बनने का अवसर देना समाज के लिए हितकर नहीं है। दूसरे कहते हैं: कुछ कलाओं का एक निश्चित स्तर पर अस्तित्व समाज के किसी निश्चित वर्ग में ही हो सकता है। तीसरे कहते हैं: कला के अपने, अनन्य सेवक होने चाहिए, जो केवल उसे ही समर्पित हों। चौथे कहते हैं: जनता के बीच अगर कोई बड़ी प्रतिभाएं हैं, तो उन्हें आगे आने और कला की सेवा में प्रवृत्त होने का अवसर मिलना चाहिए। कोई आदमी जो बनना चाहता है, उसके वह बनने के अधिकार को शिक्षाशास्त्र द्वारा दी गयी यह सबसे बड़ी रिआयत है। कला के क्षेत्र में शिक्षाशास्त्रियों के सभी प्रयास उपरोक्त उद्देश्यों को पाने की ओर ही लक्षित हैं। मगर मैं इस सबको अन्यायपूर्ण मानता हूं। मैं सोचता हूं कि कला का आनंद लेने और कला की सेवा करने की चाह हर आदमी में होती है, चाहे वह किसी भी वंश और वर्ग का क्यों न हो, और इस चाह को पूरा होने का अधिकार है तथा उसे पूरा होना भी चाहिए। इस प्रस्थापना को स्वयंसिद्ध सत्य

मानते हुए मैं कहता हूं कि यदि हर किसी द्वारा कला का आनंद लिये जाने और हर किसी के लिए कला को पुनर्प्रस्तुत किये जाने में असुविधाएं और असंगतियां सामने आती हैं, तो इसका कारण संप्रेषण के तरीक़े में या कला के बहुतों अथवा कुछ के बीच प्रसार और संकेंद्रण में नहीं, बल्कि कला के स्वरूप और दिशा में खोजा जाना चाहिए। कला के स्वरूप तथा दिशा को सदा संदेह की दृष्टि से देखा जाना चाहिए, ताकि जो ग़लत और भ्रामक है, वह युवा पीढ़ी पर न थोपा जा सके और इस युवा पीढ़ी को रूप और विषयवस्तु, दोनों ही दृष्टियों से नूतन का सृजन करने की संभावना मिल सके।

और अब मैं चित्रकारी के अध्यापक की नवंबर और दिसंबर महीनों की रिपोर्ट पेश करता हूं। चित्रकारी सिखाने की वह विधि मैं समझता हूं कि अपनी उन विशेषताओं की वजह से सुविधाजनक मानी जा सकती है, जिनकी बदौलत सहज और विद्यार्थियों के लिए उल्लासभरे ढंग से तकनीकी कठिनाइयों को लांघ लिया गया है। जहां तक स्वयं कला का सवाल है, तो उसे नहीं छुआ गया है, क्योंकि अध्यापक ने पहले ही, पढ़ाना शुरू करते समय ही तय कर लिया था कि किसानों के बच्चों को चित्रकार बनने से कोई फ़ायदा नहीं है।

चित्रकारी। जब मैंने नौ महीने पहले चित्रकारी सिखाना शुरू किया था, तो मेरे पास न तो इसकी ही कोई निश्चित योजना थी कि पढ़ाई की विषयवस्तु को कैसे विभाजित और वितरित करूं, न इसकी ही कि विद्यार्थियों का मार्गदर्शन कैसे किया जाये। मेरे पास कुछ अल्बमों के अलावा कोई चित्र, मॉडल, आदि भी नहीं थे। प्रसंगतः उन अल्बमों को भी मैंने इस्तेमाल नहीं किया और अपने को सामान्य सहायक साधनों तक ही सीमित रखा, जिन्हें हमेशा और हर देहाती स्कूल में पाया जा सकता है। लकड़ी की रंगी हुई तख़्ती, खड़िया, स्लेटें और गणित की पढ़ाई में प्रयुक्त विभिन्न लंबाइयों की चौकोर लकड़ी की डंडियां – बस ये ही अध्यापन में हमारे साधन थे, जिनकी मदद से हम जो भी चीज़ सामने होती, उसकी तस्वीर बना सकते थे। एक भी विद्यार्थी ने चित्रकारी पहले नहीं सीखी थी। वे सिर्फ़ अपनी सोचने-विचारने की क्षमता लेकर आये थे, जिसे उन्हें जब और जैसे चाहें, अभिव्यक्त करने की पूरी आज़ादी दी गयी और जिसके आधार पर मैंने उनकी अपेक्षाओं को जानना चाहा और पढ़ाई की

एक निश्चित योजना बनानी चाही। सबसे पहले मैंने चार डंडियों से वर्ग बनाया और मालूम करना चाहा कि बच्चे पहले से कुछ सिखाये बिना ऐसी ही आकृति बना सकते हैं या नहीं। सिर्फ़ कुछ बच्चों के ही खींचे हुए वर्ग बहुत टेढ़े-मेढ़े थे। इससे मैं पूरे तौर पर संतुष्ट हुआ। जो ज़्यादा कमज़ोर बच्चे थे, उनके लिए मैंने श्यामपट्ट पर खड़िया से वर्ग बनाया। बाद में हमने इसी तरह से क्रॉस भी बनाया और उसका आरेखण किया।

अपने अचेतन और जन्मजात बोध की वजह से ज़्यादातर बच्चे रेखाओं का काफ़ी सही अनुपात निकाल लेते थे, हालांकि इन रेखाओं को वे काफ़ी टेढ़ी-मेढ़ी खींचते थे। बच्चों को नाहक तंग न करने के लिए मैं हर आकृति में सीधी रेखाओं का सही होना आवश्यक समझता भी नहीं था और सिर्फ़ यही चाहता था कि आकृति बनी हुई हो। मैं सोचता था कि बच्चों को पहले रेखाओं की दीर्घता तथा दिशा के हिसाब से उनके परस्पर अनुपात की संकल्पना से परिचित कराना ज्यादा ठीक होगा, बजाय इसके कि इन रेखाओं को ज़्यादा से ज़्यादा सही खींचने की उनकी योग्यता की चिंता की जाये।

बच्चा पहले लंबी और छोटी रेखाओं के अनुपात और समकोण तथा समानांतर रेखाओं के भेद को समझता है और इसके बाद ही वह सीधी रेखाओं को स्वयं थोड़ा-बहुत सही ढंग से खींचना सीख पाता है। धीरे-धीरे करके अगले पाठों में हम इन चौकोर डंडियों के कोणों की नक़लें बनाने लगे और बाद में उनसे बहुत ही तरह-तरह की आकृतियां बनायीं।

विद्यार्थी इन डंडियों की मोटाई पर, तीसरे आयाम पर बिल्कुल भी ध्यान नहीं देते थे और हम हमेशा सामनेवाले भाग का ही चित्र बनाते थे।

सामग्रियों के अभाव में आकृतियों की स्थिति तथा सहसंबंध को ठीक-ठीक दिखा पाने में कठिनाइयां सामने आती थीं। इसलिए बहुत बार मैं आकृतियों को श्यामपट्ट पर बनाने को विवश होता था। प्रायः मैं वस्तु को देखकर चित्र बनाना और नमूने को देखकर चित्र बनाना, इन दोनों पद्धतियों को एक साथ इस्तेमाल करता और कोई एक वस्तु दे देता : अगर बच्चे उस वस्तु का चित्र न बना पाते, तो मैं स्वयं श्यामपट्ट पर उसका चित्र बनाता।

श्यामपट्ट को देखकर आकृतियां यों बनायी जाती थीं : मैं पहले पड़ी या खड़ी रेखा खींचता था, उसे निश्चित जगहों पर बिंदुओं से विभाजित कर देता था और विद्यार्थी इस रेखा की नक़ल करते थे। इसके बाद मैं पहली रेखा के एक निश्चित अनुपात में और बराबर इकाइयों में बंटी हुई एक अन्य अथवा कई सीधी खड़ी या तिरछी रेखाएं खींचता। फिर इन रेखाओं के विभाजन के बिंदुओं को सीधी अथवा वक्र रेखाओं द्वारा जोड़ देता और इस तरह एक सममित आकृति बना डालता, जिसकी साथ-साथ ही बच्चे नक़ल बनाते जाते। मुझे लगता था कि इसमें फ़ायदा है, क्योंकि पहले तो बच्चा आकृति के निर्माण की सारी प्रक्रिया को अपनी आंखों के सामने घटता देखता है तथा इस तरह उसका अध्ययन करता है, और दूसरे, श्यामपट्ट पर इस आरेखण के ज़रिये उसके मस्तिष्क में रेखाओं के परस्पर अनुपात की संकल्पना उससे कहीं तेज़ी से विकसित होती है, जितनी तेज़ी से कि बने-बनाये चित्रों और मूल वस्तुओं की नक़ल बनाने के ज़रिये विकसित होती। ऐसी व्यवस्था में सीधे चित्र बनाने की संभावना ख़त्म हो जाती है, किंतु प्रकृति की वस्तु के तौर पर आकृति को घटाये हुए पैमाने पर ही चित्रित किया जाना चाहिए।

बड़े और बहुत अच्छे बनाये हुए चित्र अथवा आकृति को टांगना लगभग हमेशा निरर्थक होता है, क्योंकि नया-नया चित्रकारी सीखनेवाला उसके सामने ठीक वैसे ही चकरा जायेगा, जैसे प्रकृति की वस्तु को देखकर चकरा जाता है। मगर आकृति का उसकी आंखों के सामने ही उभरना बड़ा महत्त्व रखता है। इस स्थिति में विद्यार्थी चित्र के ढांचे, कंकाल को देखता है, जिसपर बाद में स्वयं शरीर बनता है। विद्यार्थियों को प्रायः मेरे द्वारा खींची गयी रेखाओं और उनके अनुपातों की आलोचना करने की चुनौती दी जाती थी। मैं प्रायः जानबूझकर ग़लत चित्र बनाता था, ताकि मालूम हो सके कि रेखाओं के परस्पर अनुपात के सही होने के बारे में उनकी निर्णय-शक्ति कहां तक विकसित हो पायी है। इसके बाद मैं जब कोई आकृति बनाता, तो विद्यार्थियों से पूछता कि उनकी राय में कहां और रेखा खींचे जाने की ज़रूरत है, और कभी-कभी तो उनमें से किसी से खुद ही सुझाने को कहता कि कोई निश्चित आकृति कैसे बनायी जाये।

इससे मैं विद्यार्थियों में आकृति के उभरने तथा विकसित होने

में अधिक सक्रिय भाग लेने की इच्छा पैदा करता, बल्कि उनकी स्वतंत्र सहभागिता "**क्यों?**" – "**किसलिए?**" जैसे प्रश्नों के उठने की संभावना भी खत्म कर डालती। किसी भी मूल वस्तु की अनुकृति करते हुए हर बच्चा अपने से ऐसे प्रश्न किया ही करता है।

अध्यापन की प्रगति और तरीक़े पर मुख्य प्रभाव आसानी से अथवा कठिनाई से समझने और अधिक अथवा कम रुचि का पड़ता था और मैं प्रायः पढ़ाई के लिए भली भांति तैयार किये गये पाठ को भी छोड़ देता था। कारण सिर्फ़ यह होता था कि वह बच्चों के लिए उबाऊ अथवा बाहरी चीज़ था।

अभी तक मैं सममित आकृतियां ही बनाने के लिए देता रहा, क्योंकि उन्हें बनाना सबसे आसान और प्रत्यक्ष प्रक्रिया है। बाद में मैंने प्रयोग के तौर पर सबसे अच्छे विद्यार्थियों से खुद ही आकृतियां सोचने और श्यामपट्ट पर बनाने को कहा। हालांकि लगभग सभी ने आकृतियां लगभग एक ही ढंग से बनायीं, फिर भी उनके बीच पैदा होनेवाली प्रतियोगिता को देखना, दूसरों की रचनाओं के बारे में रायें सुनना और आकृतियों के विलक्षण विन्यास पर ग़ौर करना दिलचस्प था। इनमें से बहुत से चित्र उन्हें बनानेवालों के स्वभाव से बड़ा मेल खाते थे।

हर बच्चे में आत्माभिव्यक्ति की प्रबल आकांक्षा होती है, जिसे नष्ट करना बुरा है। आत्माभिव्यक्ति की आकांक्षा दिये हुए नमूनों के अनुसार चित्र बनाना पसंद न करने में विशेष रूप से प्रकट होती है। अध्यापन के ऊपर बताये तरीक़ों से यह स्वतंत्रता न केवल नष्ट नहीं होती थी, बल्कि और अधिक बढ़ती तथा मज़बूत ही बनती थी।

अगर बच्चा स्कूल में कोई चीज़ बनाना, रचना नहीं सीखेगा, तो वह जीवन में सदा सिर्फ़ नक़ल ही करता रहेगा, क्योंकि ऐसे लोग विरले ही होते हैं, जो नक़ल करना सीखकर अपनी इस योग्यता को स्वतंत्र व्यवसाय बना पाते हैं।

प्राकृतिक आकृतियों पर निरंतर ज़ोर देकर और विषयों को प्रायः बदलते रहकर मेरी कोशिश यह होती थी कि हमारी चित्रकारी में एकरूपता और शैलीबद्धता न आये। चित्रकारी के लिए विषय ठेठ शक्लों की पत्तियां, फूल, बरतन, जीवन में प्रयुक्त वस्तुएं, औज़ार, आदि कुछ भी हो सकते थे।

बड़ी सावधानी के साथ मैंने छायाओं और छायाकरण की तकनीक के बारे में बताना शुरू किया, क्योंकि नौसिखुआ चित्रकार छायाभासी रेखाओं से आकृति की सुस्पष्टता तथा सुघड़ता को आसानी से नष्ट कर सकता है और ऊट-पटांग, निरुद्देश्य रंग-पुताई का आदी बन सकता है।

इस तरीक़े से मैंने कुछ ही महीनों में ३० से ज़्यादा बच्चों को विभिन्न आकृतियों और वस्तुओं में रेखाओं के अनुपात को भली भांति पहचानना सिखा दिया। अब वे सधी और स्पष्ट रेखाओं द्वारा ये आकृतियां बना सकते थे। रैखिक चित्रकारी की यांत्रिक कला धीरे-धीरे करके जैसे कि खुद ही विकसित होती गयी। सब चीज़ों से कठिन मेरे लिए विद्यार्थियों को कापियां साफ़-सुथरी रखने और स्वयं चित्र भी साफ़-सुथरा बनाने की शिक्षा देना था। स्लेट पर इच्छानुसार मिटाने-बनाने की सुविधा इसमें काफ़ी आड़े आती थी। अतः मैंने जो विद्यार्थी सबसे तेज़ और प्रतिभावान थे, उन्हें कापियां देकर अधिक सफ़ाई से चित्र बनाने को प्रोत्साहित किया। ज़्यादा कठिनाई से मिटाया जाना उस चीज़ से भी ज़्यादा सफ़ाई से पेश आने को मजबूर करता है, जिसपर चित्रकारी की जा रही है। थोड़े ही समय में इन विद्यार्थियों ने पेंसिल को इतने सधे और सही ढंग से इस्तेमाल करना सीख लिया कि न केवल ऋजुरेखीय आकृतियों को, बल्कि टेढ़ी-मेढ़ी रेखाओं से बनी अजीबोग़रीब आकृतियों को भी वे साफ़ और सही ढंग से बना लेते थे।

मैं कुछ विद्यार्थियों से अपना काम खत्म कर लेने के बाद दूसरों के काम पर नज़र रखने और उनकी मदद करने को भी कहता। इससे उन्हें काफ़ी प्रोत्साहन मिलता था, क्योंकि इस तरह से वे अपने सीखे हुए को तुरंत अमल में ला सकते थे।

पिछले कुछ समय से मैं ऊंची कक्षा के विद्यार्थियों को विभिन्न स्थितियों और परिप्रेक्ष्य में रखी वस्तुओं के चित्र बनाना सिखा रहा हूं और इससे Dupuis प्रणाली से ही काम नहीं ले रहा हूं। इसकी प्रगति के बारे में और रेखांकन के बारे में मैं आगे चलकर बताऊंगा ...

६. पालन और शिक्षा

(जुलाई, १८६२)

ऐसे बहुत से शब्द हैं, जिनका कोई सुनिश्चित अर्थ नहीं होता और जिन्हें एक दूसरे से गड्डमड्ड किया जाता है। लेकिन साथ ही ये शब्द विचारों के संप्रेषण के लिए आवश्यक होते हैं। पालन, शिक्षा और शिक्षण भी इसी कोटि के शब्दों में आते हैं।

शिक्षाशास्त्री पालन और शिक्षा के बीच कभी-कभी कोई भेद नहीं करते। दूसरी ओर, वे शिक्षा, पालन, शिक्षण अथवा अध्यापन जैसे शब्दों के बिना भी अपने विचार व्यक्त नहीं कर पाते। इनमें से हर शब्द के अनुरूप पृथक् संकल्पना अवश्य ही होनी चाहिए। संभवतः कोई बात है कि जिससे हम सहजवृत्तिवश ही इन संकल्पनाओं को उनके सही-सही और यथार्थ अर्थ में इस्तेमाल नहीं करना चाहते। फिर भी ये संकल्पनाएं मौजूद हैं और अपने अलग अस्तित्व का उन्हें पूरा अधिकार है। जर्मनी में इन संकल्पनाओं का एक स्पष्ट उपवर्ग है: Erziehung (पालन) और Unterricht (अध्यापन)। माना जाता है कि पालन में अध्यापन शामिल रहता है, कि अध्यापन पालन का एक मुख्य साधन है, कि हर अध्यापन अपने में पालन का तत्त्व (erziehliges Element) लिये होता है। जहां तक शिक्षा (Bildung) की संकल्पना का प्रश्न है, तो उसे या तो पालन के साथ गड्डमड्ड किया जाता है, या फिर अध्यापन के साथ। तो इन संकल्पनाओं की सबसे सामान्य परिभाषा यह होगी: पालन मनुष्य की पूर्णता के युग द्वारा निर्धारित आदर्श के अनुरूप सर्वश्रेष्ठ लोगों का निर्माण (शिक्षा) है। अध्यापन नैतिक विकास लाता है और उद्देश्य की प्राप्ति का एकमात्र तो नहीं, मगर एक मुख्य साधन अवश्य है। एक अन्य मुख्य साधन यह है कि

आराम की घड़ी खुले मैदान में

जिसका पालन किया जा रहा है, उसे किन्हीं निश्चित, पालन के उद्देश्य के लिए लाभकर परिस्थितियों – अनुशासन और बाध्यता (Zucht) — में रखा जाये।

जर्मन लोग कहते हैं कि जैसे व्यायाम द्वारा शरीर को गढ़ा जाता है, वैसे ही मनुष्य के व्यक्तित्व को भी गढ़ा जाना चाहिए (der Geist muss gezüchtigt werden)।

जर्मनी में शिक्षा (Bildung) को समाज में और कभी-कभी तो शिक्षाशास्त्रीय साहित्य में भी, जैसा हमने ऊपर बताया, या तो अध्यापन और पालन के साथ गड्डमड्ड किया जाता है, या एक ऐसी सामाजिक परिघटना माना जाता है, जिससे शिक्षाशास्त्र का कोई लेना-देना नहीं है। जहां तक मुझे मालूम है, फ़्रांसीसी भाषा में शिक्षा (जर्मन –

Bildung, रूसी – ओब्रज़ोवानिये) के पूर्णत: समरूप कोई संकल्पना नहीं है : education, instruction, civilisation [सिखाना, मार्गदर्शन करना, ज्ञान देना] बिल्कुल भिन्न संकल्पनाएं हैं। ठीक ऐसे ही अंग्रेज़ी में भी इस तरह की कोई संकल्पना नहीं है।

जर्मन अध्यापक-शिक्षाशास्त्री कभी-कभी पालन और शिक्षा को अलग उपवर्ग ही नहीं मानते हैं। वे दोनों संकल्पनाओं को एक अविभाज्य संकल्पना में समाविष्ट कर डालते हैं। एक बार प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री डीस्टरवेग के साथ बातचीत में मैं उन्हें शिक्षा, पालन और अध्यापन के प्रश्न पर ले आया। डीस्टरवेग ने उन लोगों पर काफ़ी कटाक्ष किये, जो उन्हें एक दूसरे से अलग मानते हैं, क्योंकि स्वयं डीस्टरवेग उनके बीच कोई भेद नहीं करते हैं। इसके बावजूद हम **पालन**, **शिक्षा** और **अध्यापन** के बारे में बातें कर रहे थे और एक दूसरे की बातें बखूबी समझ रहे थे। डीस्टरवेग ने खुद कहा कि **शिक्षा** में पालन का तत्त्व शामिल होता है, जो हर प्रकार के **अध्यापन** का अनिवार्य अंग है।

इन शब्दों का क्या अर्थ है? उन्हें कैसे समझा जाये?

मैं अध्यापकों के साथ इस विषय पर हुई बहसों और बातों को नहीं दोहराऊंगा और न किताबों से उन विरोधी विचारों के उद्धरण ही दूंगा, जो इसी विषय के बारे में साहित्य में पाये जाते हैं। यह सब बहुत जगह घेरेगा, और हर कोई शिक्षाशास्त्र संबंधी पहला लेख पढ़कर मेरे शब्दों की सत्यता को जांच सकता है। मैं यहां इन संकल्पनाओं के मूल, उनके भेदों और उन्हें ठीक से न समझ पाने के कारणों को ही बताने की कोशिश करूंगा। अध्यापक लोगों की धारणा के अनुसार पालन में अध्यापन भी शामिल है।

जिसे हम शिक्षाशास्त्र कहते हैं, उसका विषय केवल पालन है और वह शिक्षा पा रहे व्यक्ति को एक ऐसा प्राणी समझता है, जो पूरी तरह शिक्षक के अधीन है। सिर्फ़ उसके माध्यम से ही विद्यार्थी शैक्षिक छापें ग्रहण करता है, चाहे ये छापें किताबें हों, या कहानियां, याद करने की मांगें, कलात्मक अथवा शारीरिक अभ्यास, या कुछ और। सारे बाह्य जगत को विद्यार्थी पर उतनी ही छाप छोड़ने दिया जाता है, जितनी कि शिक्षक आवश्यक समझता है। शिक्षक एक अभेद्य दीवार द्वारा अपने विद्यार्थी को बाह्य

जगत के प्रभाव से बचाता है और केवल अपने वैज्ञानिक और स्कूली शिक्षा के छिद्र से ही उस चीज़ को आने देता है, जिसे वह हितकर, उपयोगी समझता है। मैं इसकी बात नहीं कर रहा हूं कि तथाकथित पिछड़े हुए लोगों के यहां क्या किया गया है या किया जा रहा है, मैं हवा में तलवार नहीं भांज रहा हूं, मैं इसकी बात कर रहा हूं कि तथाकथित सबसे श्रेष्ठ तथा अग्रणी शिक्षक पालन को किस अर्थ में समझते हैं और कैसे उसे अमली रूप देते हैं। हर कहीं जीवन के प्रभाव को अध्यापक की चिंताओं से दूर रखा गया है, हर कहीं स्कूल के गिर्द किताबी ज्ञान की चीन की दीवार खड़ी की गयी है, जिसमें से जीवन के केवल इतने शैक्षिक प्रभाव को अंदर आने दिया जाता है, जितना कि शिक्षक को पसंद है। जीवन के अन्य प्रभाव को मान्यता ही नहीं दी जाती। यही शिक्षाशास्त्र का नज़रिया है। वह यह जानना अपना ही अधिकार समझता है कि सर्वोत्तम मनुष्य के निर्माण (शिक्षा) के लिए क्या चाहिए। शिक्षाशास्त्र की दृष्टि में विद्यार्थी को सभी तरह के शिक्षेतर प्रभाव से दूर रखना संभव है। पालन की प्रक्रिया में यही सब कुछ किया जाता है।

जब ऐसा दृष्टिकोण हो, तो पालन और शिक्षा को एक दूसरे से गड्डमड्ड किया जाना स्वाभाविक ही है, क्योंकि यह माना जाता है कि पालन नहीं होता, तो शिक्षा भी नहीं होती। हाल में जब से शिक्षा-स्वातंत्र्य की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी है, सर्वोत्तम शिक्षाशास्त्री इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि अध्यापन ही पालन का एकमात्र साधन है तथा इसे आवश्यक, अनिवार्य होना चाहिए। फलस्वरूप पालन, शिक्षा और शिक्षण, इन तीनों संकल्पनाओं को एक दूसरे से गड़बड़ाया जाने लगा है।

सैद्धांतिक शिक्षाशास्त्रियों की धारणा है कि पालन एक मनुष्य पर दूसरे मनुष्य द्वारा डाला जानेवाला प्रभाव है और इसमें तीन क्रियाएं शामिल हैं: १) शिक्षक का नैतिक अथवा बाध्यकारी प्रभाव – रहन-सहन के ढंग द्वारा अथवा दंड द्वारा ; २) शिक्षण और अध्यापन ; और ३) विद्यार्थी पर पड़नेवाले जीवन के प्रभावों का नियंत्रण। हमारा सोचना है कि ग़लती और संकल्पनाओं का घालमेल इसलिए होते हैं कि शिक्षाशास्त्र अपना लक्ष्य पालन को बनाता है, शिक्षा को नहीं, और शिक्षक द्वारा जीवन के सभी प्रभावों का पूर्वानुमान करने, पह-

चानने तथा तौलने को संभव नहीं मानता है। हर अध्यापक स्वीकार करता है कि जीवन स्कूल से पहले भी, बाद में भी और बचाये रखने के सभी प्रयत्नों के बावजूद स्कूल में शिक्षा के दौरान भी मनुष्य को प्रभावित करता है। यह प्रभाव इतना प्रबल होता है कि अधिकांशतः उसके सामने स्कूली शिक्षा का सारा प्रभाव मिट जाता है। मगर शिक्षा-शास्त्री इसमें शिक्षा के विज्ञान तथा कला के विकास की कमी ही देखता है और लोगों का एक निश्चित नमूने के अनुसार पालन करने को ही अपना उद्देश्य मानता रहता है, न कि वास्तविक शिक्षा को, यानी जिन तरीक़ों से लोग शिक्षित बनते हैं, उनके अध्ययन को और इस स्वतंत्र शिक्षा में सहयोग देने को। मैं मानता हूं कि Unterricht (शिक्षण, अध्यापन) Erziehung (पालन) का अंग है, किंतु शिक्षा में तो वे दोनों ही शामिल हैं।

पालन शिक्षाशास्त्र का विषय नहीं, बल्कि एक ऐसी परिघटना है, जिसकी ओर शिक्षाशास्त्र ध्यान दिये बिना नहीं रह सकता। शिक्षाशास्त्र का विषय तो केवल शिक्षा को होना चाहिए और वही हो भी सकती है। हमारे मत में, व्यापक अर्थ में शिक्षा उन सभी प्रभावों की समष्टि है, जो मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास करते हैं और अधिक व्यापक दृष्टिकोण तथा नयी जानकारियां देते हैं। बच्चों के खेल, अनुभव, मां-बाप द्वारा दिया जानेवाला दंड, किताबें, काम, बलात् अथवा स्वैच्छिक शिक्षण, कला, विज्ञान, जीवन, आदि सब कुछ शिक्षा के ज़रिये हैं।

शिक्षा या तो उन सभी प्रभावों का परिणाम है, जो जीवन मनुष्य पर डालता है (व्यक्ति की शिक्षा के अर्थ में हम कहते हैं – शिक्षित व्यक्ति), या वह स्वयं प्रभाव ही है, जो मनुष्य पर जीवन की परिस्थितियों द्वारा डाला जाता है (किसी जर्मन, रूसी किसान अथवा कुलीन की शिक्षा के अर्थ में हम कहते हैं – आदमी ने अच्छी – या बुरी – शिक्षा पायी है)। हमारा वास्ता इस अंतिम ढंग की शिक्षा से ही है।

पालन एक व्यक्ति द्वारा दूसरे व्यक्ति पर डाला जानेवाला प्रभाव है, जिसका उद्देश्य अंतोक्त को आचार-व्यवहार संबंधी कुछ निश्चित आदतें सिखाना होता है (उदाहरणार्थ, हम कहते हैं – उन्होंने उसे ढोंगी, डाकू या नेक आदमी बनना सिखाया है)। स्पार्तावासी साहसी

लोगों का पालन करते थे। अध्यापन एक आदमी द्वारा कोई जानकारियां दूसरे आदमी को दिये जाने को कहते हैं (शतरंज के खेल, इतिहास, जूता बनाने के शिल्प, आदि का सिखाया जाना इसी कोटि में आता है)। प्रशिक्षण अध्यापन का एक पहलू है और एक आदमी द्वारा दूसरे आदमी को कुछ निश्चित शारीरिक आदतें सिखाने के लिए उसपर डाला गया प्रभाव है (गाना, बढ़ई का काम, नाचना, नाव खेना, भाषण करना, आदि सिखाना इस कोटि में आता है)। अध्यापन और प्रशिक्षण में जब बाध्यता का तत्त्व नहीं होता, तो वे शिक्षा के साधन होते हैं, और जब प्रशिक्षण बाध्यतामूलक होता है तथा अध्यापन परिसीमित होता है, यानी केवल वे ही विषय पढ़ाये जाते हैं, जिन्हें शिक्षक आवश्यक मानता है, तो वे पालन के साधन होते हैं। सत्य स्पष्ट है और हर कोई सहज ही उसे जान जाता है। जो विभाजित है, उसे एक करने की और जो अविभाज्य है, उसे विभाजित करने की हम कितनी भी कोशिश क्यों न करें, अपने विचारों को हम कितना भी वस्तुस्थिति के अनुरूप क्यों न दिखायें, सत्य छिप नहीं सकता।

पालन एक आदमी द्वारा दूसरे आदमी पर डाला जानेवाला बाध्यतामूलक प्रभाव है, ताकि वह दूसरा आदमी ऐसा आदमी बन सके, जिसे हम अच्छा कहते हैं। इसके विपरीत, शिक्षा लोगों के बीच ऐसा स्वतंत्रतामूलक संबंध है, जो एक की ज्ञान अर्जित करने की आवश्यकता और दूसरे की अपना ज्ञान अन्य लोगों को सिखाने की आवश्यकता पर आधारित होता है। अध्यापन – Unterricht – शिक्षा का भी उपकरण है और पालन का भी। पालन शिक्षा से बाध्यकरण के मामले में ही भिन्न है – पालन बाध्यकरण को अपना अधिकार मानता है। पालन बलात् शिक्षा है, जबकि वास्तविक शिक्षा स्वतंत्र होती है।*

मैंने 'यास्नाया पोल्याना' के पहले अंक में शिक्षा के क्षेत्र में बाध्यकरण के अधिकार की चर्चा की थी और सिद्ध करना चाहा था कि पहले तो बाध्यकरण असंभव है, दूसरे, उसका कोई अच्छा नतीजा नहीं निकलता और, तीसरे, मनमानी के अलावा उसका और कोई आधार नहीं हो सकता...

* तोलस्तोय ने शिक्षा और पालन को एक दूसरे के मुक़ाबले में रखने का विचार आगे चलकर त्याग दिया था (देखें: इसी संग्रह में 'पालन के बारे में' लेख)।

मैं एक ऐसे लालची भठियारे को जानता हूं, जो एक भी कोपेक की अतिरिक्त कमाई के लिए कैसी भी धोखाधड़ी और नीचता कर सकता है। अपने तेज़दिमाग़ बारहवर्षीय लड़के को पढ़ने के लिए यास्नाया पोल्याना स्कूल में भेजने की मेरी सलाहों और मिन्नतों के जवाब में हर बार वह अपने ललौंहे मुंह पर आत्मसंतोषभरी मुस्कान बिखेरते हुए यही कहता है: "यह आप ठीक कह रहे हैं, हुजूर। लेकिन मुझे उसे जो सिखाना है, पहले वह तो सिखा लूं!" और वह उसे हर कहीं अपने साथ ले जाता है, शेखी बघारता है कि उसका बारह साल का बेटा अपने बाप को गेहूं बेचनेवाले किसानों को ठगना सीख गया है। जूनियर अफ़सर कोरों और विद्यालयों में शिक्षित ऐसे पिताओं को कौन नहीं जानता, जो सिर्फ़ उसी शिक्षा को अच्छी मानते हैं, जैसी उन्होंने खुद पायी थी? क्या ठीक ऐसे ही विश्वविद्यालयों के प्रोफ़ेसर और धार्मिक विद्यालयों के पादरी भी विद्यार्थियों में अपने विचार नहीं ठूंसते हैं? मैं उसे फिर से सिद्ध नहीं करना चाहता, जिसे एक बार सिद्ध कर चुका हूं और जिसे सिद्ध करना बड़ा आसान है, यानी यह कि लोगों को जानबूझकर किन्हीं निश्चित नमूनों के अनुसार गढ़ने की कोशिश के रूप में पालन **न फलप्रद है, न वैध है और न संभव ही है**। यहां मैं अपने को एक ही प्रश्न तक सीमित रखूंगा। पालन का अधिकार नाम की कोई चीज़ नहीं है। मैं उसे नहीं मानता और न जिस युवा पीढ़ी का पालन किया जाता है, उसने कभी उसे माना है, मानती है या मानेगी। पालन में जो बाध्यकरण है, यह पीढ़ी सदा और सर्वत्र उसके विरुद्ध क्षोभ ही प्रकट करती है। **तो आप इस अधिकार को कैसे सिद्ध करेंगे?** मैं नहीं जानता और न मैं कुछ सोचता ही हूं। एक आदमी द्वारा दूसरों को अपनी इच्छानुसार ढालने के नये, हमारे लिए अस्तित्वहीन अधिकार की कल्पना आपने की है और आप ही उसे मानते हैं। इस अधिकार को सिद्ध करके दिखाइये, मगर इस आधार पर नहीं कि सत्ता का दुरुपयोग हमेशा ही किया जाता रहा है। वादी आप नहीं, हम हैं। आप तो प्रतिवादी हैं। 'यास्नाया पोल्याना' में व्यक्त किये गये विचारों के सिलसिले में मुझसे कई बार मौखिक तौर पर और प्रेस के ज़रिये आपत्ति की गयी है और अशांत बच्चे जैसे मुझे शांत करने के प्रयत्न किये गये हैं। मुझे कहा गया: "बेशक, जैसे मध्ययुगीन मठों में शिक्षा दी जाती

थी, वैसे शिक्षा देना सचमुच ठीक नहीं है, मगर जिम्नाज़ियम और विश्वविद्यालय तो बिल्कुल दूसरी ही बात हैं।" कुछ और का कहना था: "बेशक, है तो ऐसा ही, लेकिन अगर अमुक-अमुक बातों को ध्यान में रखा जाये, तो मानना होगा कि और कुछ हो भी नहीं सकता।" मुझे लगता है कि आपत्तियां करने का यह ढंग विचारों की गंभीरता को नहीं, बल्कि कमज़ोरी को प्रकट करता है। सवाल को यों रखा गया है: क्या एक आदमी को दूसरे आदमी के पालन व शिक्षण का अधिकार है? उत्तर ऐसा नहीं होना चाहिए – नहीं, मगर... आवश्यकता स्पष्ट हां या न में उत्तर देने की है। यदि हां, तो सिनेगॉग और पादरी की पाठशाला को भी अस्तित्व का वैसा ही अधिकार होगा, जैसा आपके विश्वविद्यालयों को प्राप्त है। यदि नहीं, तो एक शैक्षणिक संस्था के रूप में आपका विश्वविद्यालय भी उतना ही अवैध है – बेशक, अगर उसमें सुधार नहीं किया गया है और सभी उसे वैसा नहीं मानते हैं। मैं नहीं समझता कि बीच का भी कोई रास्ता हो सकता है – न तो सिद्धांत में और न ही व्यवहार में। मुझे जिम्नाज़ियमों तथा उनकी लैटिन और विश्वविद्यालय के प्रोफ़ेसरों तथा उनके आमूलवाद अथवा भौतिकवाद से एक जैसी ही चिढ़ है। चुनने का अधिकार न तो जिम्नाज़ियम के विद्यार्थी को है, न विश्वविद्यालय के विद्यार्थी को। मैंने सभी तरह की शिक्षा के परिणाम एक ही जैसे बुरे पाये हैं। क्या यह स्पष्ट नहीं है कि हमारी उच्च शिक्षा संस्थाओं के कोर्स इक्कीसवीं सदी में हमारे वंशजों को वैसे ही विचित्र और बेकार लगेंगे, जैसे आज हमें मध्ययुग के विद्यालय लगते हैं? ऐसे सहज ही इस सामान्य निष्कर्ष पर पहुंचा जा सकता है: अगर मानव ज्ञान के इतिहास में कोई परम सत्य नहीं थे और एक के बाद एक लगातार ग़लतियां ही की जाती रही हैं, तो किस आधार पर युवा पीढ़ी को वे बातें सीखने को विवश किया जाये, जो बहुत करके ग़लत ही सिद्ध होंगी? कहा जायेगा और कहा भी गया है: अगर ऐसा हमेशा था, तो आप परेशान किस बारे में हो रहे हैं? ऐसा ही तो होना चाहिए! लेकिन मैं ऐसा नहीं समझता। अगर लोग पहले हमेशा एक दूसरे का गला काटा करते थे, तो इसका यह मतलब नहीं कि आगे भी हमेशा ऐसा ही होना चाहिए और गला काटने को नियम का दर्जा दे दिया जाना चाहिए, खास तौर से अगर इस गला काटने के कारण मालूम कर लिये

13–942

गये हैं और बता दिया गया है कि उसके बिना भी काम चल सकता है। मुख्य बात तो यह है कि एक ओर तो आप दूसरे को सिखाने के सामान्य मानवीय अधिकार को मान्य ठहराते हैं और, दूसरी ओर, खराब शिक्षा की आलोचना करते हैं। क्यों? आलोचना पिता कर रहा है, जिसने अपने बेटे को पढ़ने जिम्नाज़ियम में भेजा है। आलोचना धर्म कर रहा है, जिसकी निगाहें विश्वविद्यालय पर लगी हैं, आलोचना सरकार कर रही है, आलोचना समाज कर रहा है। या तो **अधिकार हर किसी का** माना जाये, या फिर किसी का भी नहीं। मैं बीच का रास्ता नहीं देखता। विज्ञान को इस सवाल का जवाब देना होगा कि हमें दूसरे को शिक्षा देने का अधिकार है कि नहीं। सच बोलने में शरमायें क्यों? विश्वविद्यालयों को पादरियों द्वारा दी जानेवाली शिक्षा पसंद नहीं है और पादरियों के विद्यालयों को वे सबसे निकृष्ट मानते हैं; पादरियों को विश्वविद्यालय की शिक्षा पसंद नहीं और वे कहते हैं कि विश्वविद्यालयों से खराब चीज़ और कोई नहीं है, कि वे सिर्फ़ घमंडी बनना और नास्तिकता ही सिखाते हैं। माता-पिता विश्वविद्यालयों की आलोचना करते हैं, विश्वविद्यालय कैडेट कोरों की और सरकार विश्वविद्यालयों की। यही बात विपरीत क्रम में भी है। कौन सही है और कौन ग़लत? इन सवालों के दृष्टिगत किसी भी जिंदा जाति के लिए समझदारी की बात यह न होगी कि दृश्य शिक्षा के लिए तसवीरें बनाने में वक़्त ज़ाया करे, बल्कि उसके लिए आवश्यक है कि इन सवालों का जवाब खोजे। ऐसी समझदारी शिक्षाशास्त्र का हिस्सा बनेगी कि नहीं, इससे कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता। जवाब दो हैं: या तो उनका अधिकार माना जाये, जिनके हम ज़्यादा क़रीब हैं, या उनका कि जिन्हें हम ज़्यादा चाहते हैं अथवा जिनसे हम ज़्यादा डरते हैं (अगर मैं पादरी हुआ, तो धार्मिक विद्यालय को सर्वोत्तम मानूंगा, अगर फ़ौजी हुआ, तो कैडेट कोर को ज़्यादा पसंद करूंगा, अगर उच्च शिक्षा संस्था का विद्यार्थी हुआ, तो अकेले विश्वविद्यालयों को ही मानूंगा। हम सब ऐसा ही करते हैं, अपनी पसंद के समर्थन में कुछ चतुराईभरे तर्क ढूंढ लेते हैं और इसपर ध्यान नहीं देते कि हमारे विरोधी भी ऐसा ही कर रहे हैं), या फिर दूसरों को शिक्षा देने का किसी का भी अधिकार न माना जाये। मैंने यह आखिरी रास्ता चुना है और दिखाने की कोशिश की है कि यही रास्ता मुझे सबसे ज़्यादा उचित क्यों लगा।

मेरा कहना है कि चूंकि रूस में ही नहीं, बाक़ी सारे यूरोप में भी विश्वविद्यालय बिल्कुल स्वतंत्र नहीं हैं, तो उनका भी मनमानी के अलावा और कोई आधार नहीं है और वे भी उतने ही निकृष्ट हैं, जितने कि गिरजों और मठों के स्कूल। मेरी अपने भावी आलोचकों से प्रार्थना है कि मेरे निष्कर्षों पर मुलम्मा न चढ़ायें: या तो मैं ही झूठ बोल रहा हूं, या सारा ही शिक्षाशास्त्र ग़लती कर रहा है। बीच की बात नहीं हो सकती। तो जब तक पालन का अधिकार सिद्ध नहीं कर दिया जाता, मैं उसे मानने को तैयार नहीं हूं। पर फिर भी, पालन के अधिकार को न मानने के बावजूद, मैं स्वयं इस परिघटना को, यानी पालन के तथ्य को अनदेखा नहीं कर सकता और मुझे उसका स्पष्टीकरण करना ही होगा। पालन, और हमारे समाज का वह विचित्र दृष्टिकोण, वह अव्याख्येय विरोधाभास कहां से आये हैं, जिनके फलस्वरूप हम कहते हैं: यह मां बुरी है, उसे अपनी बेटी को पालने का कोई अधिकार नहीं है और इसलिए बेटी को उससे छीन लेना चाहिए; यह संस्था बुरी है और इसलिए उसे बंद देना चाहिए; या यह संस्था अच्छी है और इसे प्रोत्साहन देना चाहिए, वग़ैरह? पालन की बात ही क्यों उठती है? अगर शिक्षा के मामले में बाध्य-करण, यानी पालन जैसी असामान्य परिघटना सदियों से विद्यमान है, तो इस परिघटना के कारण मनुष्य की प्रकृति में ही ही ढूंढे जाने चाहिए। मैं इन कारणों को १) परिवार, २) धर्म, ३) राज्य और ४) समाज में देखता हूं (समाज से मेरा तात्पर्य हमारे, सरकारी अधि-कारियों और अभिजात-वर्गीय लोगों के हल्के से है)।

पहला कारण यह है कि माता-पिता, चाहे वे कैसे भी क्यों न हों, अपने बच्चों को वैसा बनाना चाहते हैं, जैसे वे खुद हैं या जैसा वे खुद को बना देखना चाहते थे। यह आकांक्षा इतनी स्वाभाविक है कि उसका बुरा नहीं माना जा सकता। जब तक हर माता या पिता इस बात को महसूस नहीं करता कि हर व्यक्ति को स्वतंत्र रूप से विकसित होने का अधिकार है, तब तक और कोई मांग नहीं की जा सकती। इसके अलावा, माता-पिता सबसे ज़्यादा इस भरोसे रहेंगे कि उनका बेटा क्या बनता है। अतः अपने बेटे को अपने ढंग से पालने की उनकी इच्छा को यदि उचित नहीं, तो स्वाभाविक अवश्य ही कहा जा सकता है।

पालन की परिघटना को जन्म देनेवाला दूसरा कारण धर्म है। ज्यों ही कोई आदमी विश्वास करने लगता है, चाहे वह मुसलमान हो या ईसाई, कि जो आदमी उसके धर्म को नहीं मानता, उसका उद्धार असंभव है तथा उसने सदा-सर्वदा के लिए अपनी आत्मा को पतन के गड्ढे में धकेल दिया है, त्यों ही, अनिवार्यतः, उसके मन में हर बच्चे को अपने धर्म का अनुयायी बनाने तथा उसकी भावना में पालने की इच्छा पैदा हो जाती है।

मैं एक बार फिर दोहराता हूं: धर्म पालन का एकमात्र उचित, वैध और बुद्धिसंगत आधार है।

तीसरा तथा सबसे महत्त्वपूर्ण कारण सरकारों की ऐसे लोग पैदा करने की आकांक्षा है, जिनकी उन्हें किन्हीं निश्चित उद्देश्यों के लिए ज़रूरत है। कैडेर कोरें, क़ानून सिखानेवाले विद्यालय, इंजीनियरी स्कूल, आदि की स्थापना इसी आवश्यकता के आधार पर की जाती है। यदि सरकार के नौकर न होते, तो सरकार न होती; अगर सरकार न होती, तो राज्य न होता। कहने का मतलब यह है कि इस कारण का भी अपना अविवाद्य औचित्य है।

चौथा और अंतिम कारण **समाज** की आवश्यकता है – उस समाज की, जिसका हमारे यहां प्रतिनिधित्व अभिजात वर्ग, अधिकारी वर्ग और आंशिकतः व्यापारी वर्ग द्वारा किया जाता है। इस समाज को सहायकों, दलालों और भागीदारों की ज़रूरत होती है।

कमाल की बात तो यह है – मैं आगे जो कहने जा रहा हूं, उसमें अस्पष्टता की गुंजायश न रहे, इसके लिए मैं पाठक से इस बात को विशेष रूप से ध्यान में रखने का आग्रह करूंगा – कि विज्ञान और साहित्य में पारिवारिक पालन के बाध्यतामूलक तत्त्वों की लगातार आलोचना की जाती है (कहा जाता है कि मां-बाप अपने बच्चों को भ्रष्ट करते हैं, जबकि लगता है कि यह स्वाभाविक ही है कि मां-बाप बच्चों को अपने जैसा बनाना चाहें), धार्मिक शिक्षा की आलोचना की जाती है... सरकारी अधिकारी तथा फ़ौजी अफ़सर तैयार किये जाने की आलोचना की जाती है हालांकि सरकार, जो हम सबके लिए आवश्यक है, अपने लिए और हमारे लिए काम करनेवालों को क्यों न तैयार करे? मगर सामाजिक शिक्षा के ख़िलाफ़ एक भी शब्द नहीं सुनायी देता। विशेषाधिकारभोगी समाज अपने विश्वविद्यालयों के साथ हमेशा

सही होता है – इसके बावजूद कि वह जो शिक्षा देता है, वह जन-विरोधी होती है और घमंड की भावना पैदा करने के अलावा कोई औचित्य नहीं रखती है। ऐसा क्यों है? मेरे विचार में सिर्फ़ इसलिए कि हम उसकी आवाज़ नहीं सुन रहे हैं, जो हम पर हमला कर रहा है, सुन इसलिए नहीं पाते हैं कि उसके पास प्रेस और विश्वविद्यालय जैसा मंच नहीं है। मगर यह जनता की सशक्त आवाज़ है और उसे सुना जाना चाहिए।

हमारे ज़माने की और हमारे समाज की किसी भी सामाजिक संस्था को ले लीजिये, चाहे वह सार्वजनिक स्कूल या ग़रीब बच्चों का निकेतन हो या महिला छात्रावास, जिम्नाज़ियम या विश्वविद्यालय, सभी संस्थाओं में आप एक समझ में न आनेवाली, मगर साथ ही नज़रों से छिपी हुई बात पायेंगे। किसानों तथा मध्यवर्गीय लोगों से लेकर व्यापारियों तथा अभिजातों तक, सभी मां-बाप शिकायत करते हैं कि उनके बच्चों को बेगानी संकल्पनाओं के वातावरण में शिक्षा दी जाती है। व्यापारी और पुराने ढंग के अभिजात कहते हैं: हम जिम्नाज़ियम और विश्वविद्यालय नहीं चाहते, क्योंकि वे हमारे बच्चों को नास्तिक और स्वतंत्रचेता बनाते हैं। किसान और मध्य वर्ग के लोग स्कूल, निकेतन और छात्रावास इसलिए नहीं चाहते कि उनके बच्चे हलवाहा बनने के बजाय दफ़्तर में कलम घिसनेवाले बन जायेंगे। दूसरी ओर, सार्वजनिक स्कूलों से लेकर उच्च शिक्षा विद्यालयों तक सभी शिक्षकों को एक ही फ़िक्र रहती है: अपने विद्यार्थियों को यों शिक्षित करना कि वे अपने मां-बाप जैसे न बनने पायें। कुछ शिक्षक खुले आम और कुछ खुले आम तो नहीं, पर मन ही मन अपने को ऐसा आदर्श मानते हैं, जिसका विद्यार्थियों को अनुकरण करना चाहिए, जबकि माता-पिता उनकी नज़रों में अशिष्टता, गंवारपन और ऐसे अवगुणों की प्रतिमूर्ति होते हैं, जिनसे विद्यार्थियों को दूर ही रखना चाहिए। हर शिक्षिका, जो जीवन द्वारा दुत्कारी हुई है और सोचती है कि मनुष्य की प्रकृति की पूर्णता बैठने तथा कॉलर पहनने के ढंग में तथा फ़्रांसीसी बोलने में व्यक्त होती है, आपको विश्वासपात्र सा मानते हुए बतायेगी कि अपने कर्त्तव्य की ख़ातिर उसे क्या-क्या कष्ट नहीं भोगने पड़ते हैं, कि बच्चों को माता-पिता के प्रभाव से पूरी तरह दूर न रख पाने के कारण उसकी सारी मेहनत बेकार चली जाती

है, कि उसे अपनी छात्राओं के, जिन्होंने रूसी भाषा को भूलना और फ़्रांसीसी में बड़े भद्दे ढंग से बोलना शुरू कर दिया है और जो खाना पकानेवालियों से दोस्ती रखना, रसोई के कामकाज तथा नंगे पैर भागना भूलने लगी हैं, अपने घरवालों से मिलने पर अफ़सोस होता है! कि वे यह सब भूल जाती हैं और अपनी पुरानी निकम्मी आदतें फिर सीख लेती हैं। यह शिक्षिका अपनी छात्राओं के सामने किसी भी प्रकार से शरमाये या झिझके बग़ैर उनकी माताओं की या उनके दायरे की सभी औरतों की खिल्ली उड़ायेगी और छात्राओं के भूतपूर्व परिवेश पर व्यंग्य कसकर उनके विचारों और धारणाओं में परिवर्तन लाने को अपना परम कर्त्तव्य मानेगी। मैं उस चतुराईभरे भौतिक वातावरण की तो बात भी नहीं कर रहा हूं, जिसे छात्राओं के सारे दृष्टिकोण को आमूलतः बदल डालना है। घर में जीवन की सभी सुविधाएं थीं, यानी अच्छा खाना-पीना था; साफ़-सुथरी, आरामदेह रिहायश थी। सब कुछ मां और परिवार के लोगों की मेहनत और परवाह पर निर्भर था। ज़्यादा मेहनत तथा ज़्यादा परवाह का मतलब ज़्यादा सुविधा और कम मेहनत तथा कम परवाह का मतलब कम सुविधा था। यह मामूली सी बात है, पर मैं समझता हूं कि फ़्रांसीसी भाषा से ज़्यादा शिक्षाप्रद है। सामाजिक पालन में मेहनत का यह सतत और अत्यावश्यक प्रतिदान इस हद तक गौण हो गया है कि न सिर्फ़ भोजन के बदतर या बेहतर होने, तकिया गिलाफ़ के साफ़ या गंदा होने और फ़र्श के चमके या न चमके होने का, छात्रा के इन बातों की चिंता करने या न करने का सवाल नहीं उठता, बल्कि ठीक-ठीक कहें, तो उसकी, यानी छात्रा की अपनी अलग कोठरी, अलग जगह तक नहीं होती, जिसे कि वह जैसा चाहे, वैसा रख सके, वह कतरनों और रिबनों से अपने लिए कोई पहनने की चीज़ तक नहीं बना सकती। हमारे दस में से नौ पाठक कहेंगे: "पड़े हुए को मारना ठीक नहीं है। आवासीय विद्यालयों की तो बात करना भी बेकार है," वग़ैरह।" नहीं, वे पड़े हुए नहीं खड़े हुए हैं–बल्कि कहें, तो पालन के अधिकार के सहारे मज़बूती से खड़े हुए हैं। वे जिम्नाज़ियमों या विश्वविद्यालयों से किसी भी प्रकार ज़्यादा गये-गुज़रे नहीं हैं। इनकी भी और उनकी भी बुनियाद एक ही है: यह सिद्धांत कि एक आदमी को या थोड़े से आदमियों को दूसरे आदमियों को अपनी इच्छा के अनुसार बनाने या ढालने का पूरा अधिकार है। लड़कियों के आवासीय

विद्यालय पड़ी हुई संस्थाएं नहीं हैं। उनकी तादाद हज़ारों में है और रहेगी, क्योंकि उन्हें भी शिक्षा देने का वैसा ही अधिकार है, जैसा जिम्नाज़ियमों और विश्वविद्यालयों को है। अंतर शायद सिर्फ़ यह है कि हम न जाने क्यों, बच्चे का अपनी इच्छानुसार पालन करने के परिवार के अधिकार को नहीं मानते, बदचलन मां से उसके बच्चे को छीन लेते हैं और अनाथालय में रख देते हैं, जहां उतनी ही बिगड़ी हुई शिक्षिका उसे सुधारती है।

हम शिक्षा देने के, पालन करने के धर्म के अधिकार को नहीं मानते, हम धार्मिक और मठ-मंदिरों के विद्यालयों का विरोध करते हैं, हम सरकार को भी यह अधिकार देने को तैयार नहीं हैं, हम कैडेट कोरों, क़ानून की शिक्षा देनेवाले स्कूलों, आदि से भी असंतुष्ट हैं। मगर हममें इतनी शक्ति नहीं है कि उन संस्थाओं की वैधता को नकारें, जिनमें **समाज**, यानी जनता नहीं, बल्कि उच्चवर्गीय समाज अपने ढंग से शिक्षा देने को अपना अधिकार समझता है। मेरा मतलब लड़कियों के आवासीय विद्यालयों और विश्वविद्यालयों से है। विश्वविद्यालयों से? हां, हां, विश्वविद्यालयों से। मैं इस ज्ञान के मंदिर का भी विश्लेषण करना चाहूंगा। मेरे मत में, वह न सिर्फ़ लड़कियों के आवासीय विद्यालय से ज़रा सा भी ज़्यादा प्रगतिशील नहीं है, बल्कि बुराई की, समाज की निरंकुशता की, जिसे अभी कोई चुनौती नहीं दी गयी है, जड़ असल में वही है।

जैसे आवासीय विद्यालय ने तय किया था कि पियानो नामक यंत्र और फ़्रांसीसी भाषा के बिना उद्धार संभव नहीं है, ठीक वैसे ही किसी बुद्धिमान ने या ऐसे बुद्धिमानों के समूह (चाहें तो इस समूह में आप जिस यूरोपीय विज्ञान से हमने विश्वविद्यालयों का गठन कथित रूप में उधार लिया है, उसके प्रतिनिधियों को शामिल कर सकते हैं, फिर भी यह समूह विद्यार्थियों की उस विशाल संख्या की तुलना में अत्यंत छोटा है, जिसके लिए आगे चलकर विश्वविद्यालय बनाया गया) ने निरपवाद रूप से **सभी** विज्ञानों का उनके विकास के उच्चतम स्तर पर अध्ययन किये जाने के लिए विश्वविद्यालय की स्थापना की। भूलें नहीं कि ऐसी संस्थाएं आज मास्को, पीटर्सबर्ग, कज़ान, कीयेव, देर्प्त और ख़ारकोव में मौजूद हैं और कल सरातोव तथा निकोलायेव में भी हो जायेंगी। जहां भी इच्छा होती है, वहीं सभी विज्ञानों का

उनके उच्चतम स्तर पर अध्ययन करने के लिए संस्थाएं खोल दी जाती हैं। मुझे संदेह है कि ऐसी संस्था का संगठन इन बुद्धिमान लोगों की अपनी ईजाद है। शिक्षिका का काम फिर भी आसान है: उसके लिए मॉडल वह स्वयं होती है। लेकिन यहां तो मॉडल बहुत ही बहुविध और पेचीदे हैं...

मैं इतिहास से विद्वत्तापूर्ण हवाले देने और विभिन्न यूरोपीय राज्यों के हालात की गंभीर तुलना करने के चक्कर में न पड़कर इतना ही बताने की कोशिश करूंगा कि रूस में हमारी आंखों के सामने क्या घट रहा है।

संभवतः इससे सभी सहमत होंगे कि हमारी शिक्षा संस्थाओं का मुख्य उद्देश्य सभी श्रेणियों के बीच शिक्षा का प्रसार करना है, न कि जिस श्रेणी ने उसपर एकाधिकार किया हुआ है, उस श्रेणी तक ही उसे सीमित रखना। दूसरे शब्दों में, हमें इतनी इसकी चिंता नहीं है कि अमीरों और अभिजातों के बेटे शिक्षित बनें (वे अगर रूस में नहीं, तो यूरोप जाकर शिक्षा पा लेंगे), इससे भी ज़्यादा हम यह चाहते हैं कि भठियारे, तीसरी गिल्ड के व्यापारी, मध्यवर्गीय आदमी, पादरी, भूतपूर्व सामंती नौकर, आदि के बेटे को शिक्षा मिले। मैं किसानों की बात नहीं कर रहा, क्योंकि वर्तमान परिस्थितियों में तो यह एक ऐसा स्वप्न होगा, जिसका साकार बन पाना असंभव है। संक्षेप में, विश्वविद्यालय का उद्देश्य ज़्यादा से ज़्यादा लोगों के बीच शिक्षा का प्रसार करना है। उदाहरण के तौर पर किसी शहरी छोटे व्यापारी या छोटे स्थानीय अभिजात के बेटे को ही लें। उसे सबसे पहले लिखना-पढ़ना सीखने भेजा जाता है। जैसा कि मालूम है, इस पढ़ाई में समझ में न आनेवाले स्लाव पाठों की रटाई के अलावा कुछ नहीं होता और यह तीन-चार साल तक चलता है। इस शिक्षा के फलस्वरूप पाया हुआ ज्ञान जीवन में कोई काम नहीं आता और नैतिक आदतों के नाम पर बड़ों का, अध्यापकों का आदर न करना, किताबें चुराना, आदि और जो सबसे बड़ी बात है, निष्कर्मण्यता तथा आलस्य ही सीखे जाते हैं।

यह सिद्ध करने की शायद ही कोई आवश्यकता है कि जिस स्कूल में तीन महीने की शिक्षा तीन साल में दी जाती है, वह निष्कर्मण्यता और आलस्य का ही स्कूल है। बच्चे को किताब लिये छह-छह घंटे

बिना हिले-डुले बैठना पड़ता है। जो चीज़ वह आधे घंटे में याद कर सकता है, उसे दिनभर रटता रहता है। इस तरह कृत्रिम रूप से उसे पूर्ण और अनर्थकारी निठल्लेपन का आदी बनाया जाता है। उनके ऐसे स्कूल से लौटने पर दस में से नौ मां-बाप – विशेषतः मांएं – अपने बच्चों को काफ़ी कुछ बिगड़ा हुआ, शारीरिक दृष्टि से कमज़ोर और बेगाना बना हुआ पाते हैं। मगर उन्हें जीवन में सफल आदमी बनाने की आकांक्षा मां-बाप को उन्हें आगे, उयेज़्द के विद्यालय में भेजने को प्रेरित करती है। इस संस्था में निष्कर्मण्यता, छल तथा कपट की शिक्षा और शारीरिक दुर्बलन की प्रक्रिया और भी ज़्यादा प्रखरता के साथ जारी रहती है। उयेज़्दस्तरीय विद्यालय में तो स्वस्थ चेहरे फिर भी दिखायी दे जाते हैं, लेकिन जिम्नाज़ियम में वे बहुत कम और विश्वविद्यालय में तो बस इक्के-दुक्के ही दिखते हैं। उयेज़्दस्तरीय विद्या-लय में जो विषय पढ़ाये जाते हैं, उनका व्यावहारिक उपयोग प्राथ-मिक स्कूल में पढ़ाये जानेवाले विषयों से भी कम है। कहने को यहां विद्यार्थी को प्रकृति की परिघटनाएं समझायी जाती हैं, मगर इससे उसे फ़ायदा कुछ नहीं होता। उल्टे, अध्यापक की देखादेखी उसमें घमंड और माता-पिता के प्रति तिरस्कार का भाव अवश्य आ जाते हैं। साधारण, अशिक्षित लोगों को सिर्फ़ इसी कारण घृणा की नज़रों से देखनेवाले इन विद्यार्थियों को कौन नहीं जानता कि उन लोगों ने अध्यापक के मुंह से नहीं सुना है कि पृथ्वी गोल है, कि हवा नाइट्रो-जन और आक्सीजन से बनी है! उयेज़्द के विद्यालय के बाद वही बेवकूफ़ मां, जिस पर कहानीकार लोग इतने मीठे ढंग से हंसते हैं, शारीरिक और नैतिक रूप से बदली हुई अपनी संतान की चिंता में और घुलने लगती है। जिम्नाज़ियम का कोर्स शुरू होता है, जिसमें परीक्षाओं तथा ज़ोर-जबर्दस्ती के वे ही तरीक़े इस्तेमाल किये जाते हैं, जो पाखंड, धोखे और निष्कर्मण्यता को बढ़ावा देते हैं। मज़दूर या कारिंदा कहां ढूंढा जाये, इतनी मामूली सी बात भी न जाननेवाला व्यापारी या छोटे स्थानीय अभिजात का बेटा फ़्रांसीसी तथा लैटिन का व्याकरण और लूथर का इतिहास रटने लग जाता है और अपने लिए बिल्कुल असहज भाषा में प्रातिनिधिक सरकार के लाभों के बारे में निबंध लिखने का अभ्यास करता है। इस सारे सर्वथा अव्यावहारिक ज्ञान के अलावा वह क़र्ज़ में फंसना, धोखाधड़ी करना, माता-पिता

से पैसे ऐंठना, लंपटता, आदि वे सब विद्याएं भी सीखता है, जिनमें पूर्ण प्रवीणता आगे चलकर विश्वविद्यालय में हासिल होती है। यहां, जिम्नाज़ियम में, हम उसका अपने घरबार से पूर्ण संबंध-विच्छेद होता भी देखते हैं। प्रबुद्ध अध्यापक उसे उसके अपने स्वाभाविक परिवेश से ऊपर उठाने की कोशिश करते हैं और इस उद्देश्य से उसे बेलीन्स्की, मैकाले, लुइस, आदि पढ़ने को देते हैं; यह सब इसलिए नहीं कि उसका किसी चीज़ के प्रति अनन्य झुकाव था, बल्कि, जैसा वे कहते हैं, **उसके** सामान्य **विकास** के लिए। इस तरह जिम्नाज़ियम का विद्यार्थी अस्पष्ट संकल्पनाओं और उनसे जुड़े प्रगति, उदारवाद, भौतिकवाद, ऐतिहासिक विकास, आदि शब्दों को ही सब कुछ मानकर अपने अतीत को तिरस्कार और अन्यताभाव से देखता है। गुरुओं का उद्देश्य तो पूरा हो जाता है, लेकिन मां-बाप, विशेषतः मां, अपने क्षीणकाय, परायी भाषा में बोलते तथा पराये दिमाग़ से सोचते हुए, सिगरेट तथा शराब पीनेवाले, अभिमानी तथा आत्मदंभी वान्या को और भी ज्यादा आश्चर्य तथा दुख के साथ देखते हैं। जो होना था, हो चुका है, और मां-बाप सोचते हैं कि चूंकि दूसरे भी ऐसे ही हैं, तो इसका मतलब है कि ऐसा ही होना भी चाहिए। और वान्या अब विश्वविद्यालय में भरती होने जाता है। मां-बाप अपने से भी कहने की हिम्मत नहीं कर पाते कि उनसे ग़लती हुई है।

विश्वविद्यालय में, जैसा कि हमने ऊपर बताया, स्वस्थ चेहरा इक्का-दुक्का ही दिखायी देता है और ऐसा तो एक भी नहीं मिलता, जो आदर के साथ – और अगर आदर के साथ नहीं, तो शांतभाव से – उस परिवेश को देखता हो, जिससे वह आया है और जिसमें उसे आगे चलकर रहना है; वह उसे घृणा तथा तिरस्कार की दृष्टि से, दंभपूर्ण अफ़सोस के साथ देखता है। ऐसे वह अपने समाज के लोगों तथा अपने नाते-रिश्तेदारों को देखता है और ऐसे ही उस कार्यकलाप को भी देखता है, जो उसे आगे चलकर अपनी सामाजिक हैसियत के कारण करना होगा। केवल तीन कैरीयर ही उसे स्वर्णिम प्रभा से मंडित प्रतीत होते हैं: वैज्ञानिक, साहित्यकार और सरकारी अधिकारी।

जो विषय पढ़ाये जाते हैं, उनमें एक भी विषय ऐसा नहीं है कि जो व्यावहारिक उपयोगिता रखता हो। उन्हें पढ़ाने का ढंग भी ठीक भजनों की पुस्तक और भूगोल जैसा है। बेशक, इनमें मैं प्रायोगिक

विषयों को शामिल नहीं करता, जैसे रसायनशास्त्र, शरीररचना तथा शरीरक्रियाविज्ञान और यहां तक कि खगोलशास्त्र भी, जिनमें विद्यार्थियों से काम करवाया जाता है। शेष सभी विषयों (दर्शन, इतिहास, विधि, भाषाविज्ञान, आदि) को विद्यार्थी रट लेते हैं और परीक्षाओं में रटे-रटाये उत्तर देते हैं, चाहे ये बीच की परीक्षाएं हों या फ़ाइनल की परीक्षाएं। मैं जानता हूं कि इन पंक्तियों को पढ़ते हुए प्रोफ़ेसर लोग तिरस्कार से नाक-भौं सिकोड़ लेंगे। वे मुझे अपने क्रोध के भी क़ाबिल नहीं समझेंगे और न अपने ऊंचे आसन से नीचे उतरकर कहानियों के लेखक को यह बताने का कष्ट करेंगे कि वह इस महत्त्वपूर्ण और गूढ़ काम में कुछ भी नहीं समझता। मैं यह जानता हूं, मगर इस कारण अपने विवेक और प्रेक्षण के निष्कर्षों को व्यक्त करने से बाज नहीं आ सकता। मैं श्रीमान प्रोफ़ेसरों के साथ किसी भी प्रकार यह नहीं मान सकता कि शिक्षा विद्यार्थियों का एक अदृश्य रूप से संपन्न किया जानेवाला संस्कार है, चाहे प्रोफ़ेसरों के व्याख्यानों का रूप तथा विषय-वस्तु कैसे भी क्यों न हों। मैं इस सबको वैसे ही नहीं मानता, जैसे क्लासिकीय शिक्षा के उतने ही रहस्यपूर्ण, अपरिभाषित शैक्षिक प्रभाव को, हालांकि उसके बारे में बहस करना अब व्यर्थ समझा जाता है। कितने ही माने-जाने और आदरणीय लोग क्यों न कहें कि मनुष्य के विकास के लिए लैटिन व्याकरण जानना और ग्रीक तथा लेटिन कविताएं अनुवाद के बजाय मूल में पढ़ना सबसे अधिक उपयोगी है, मुझे इसका वैसे ही यक़ीन नहीं होगा, जैसे इस बात का नहीं होगा कि मनुष्य के विकास के लिए तीन घंटे एक पैर पर खड़ा रहना जरूरी है। इसे सिद्ध करने के लिए प्रयोग ही पर्याप्त नहीं है। प्रयोग द्वारा तो कुछ भी सिद्ध कर दिया जाता है। भजन सिखानेवाला प्रयोग द्वारा सिद्ध करता है कि पढ़ना-लिखना सीखने का सर्वोत्तम उपाय भजनों की पुस्तक पढ़ना सिखाना है; मोची कहता है कि धंधा सिखाने का सबसे बढ़िया तरीक़ा बच्चों को दो साल तक पानी ढोने, लकड़ियां फाड़ने, आदि के लिए मजबूर करना है। इस तरह से आप कुछ भी सिद्ध कर डालेंगे। यह सब मैं इसलिए कह रहा हूं कि विश्वविद्यालयों के हिमायती ऐतिहासिक महत्त्व, रहस्यमय शैक्षिक प्रभाव, राजकीय शैक्षणिक संस्थाओं के सामान्य संबंध, आदि की नाहक दुहाई न दें और मेरे सामने आक्सफ़ोर्ड और हाइडेलबर्ग विश्वविद्यालयों की मिसालें

पेश न करें, बल्कि मुझे सहज और सामान्य बुद्धि के अनुसार सोचने व बोलने दें और स्वयं भी ऐसा ही करें। मैं सिर्फ़ इतना जानता हूं कि जब मैं १६-१८ वर्ष की आयु में विश्वविद्यालय में आता हूं, तो जिस फ़ैकल्टी में मैं भरती हुआ हूं, उसमें मेरी पढ़ाई का दायरा पहले से ही और बिल्कुल मनमाने ढंग से नियत किया जा चुका है। मैं फ़ैकल्टी के पाठ्यक्रम के अनुसार अपने लिए आवश्यक किसी व्याख्यान में आता हूं। प्रोफ़ेसर जो भी कहता है, मैं उसे सुनने को ही नहीं, बल्कि यदि उसके प्रत्येक शब्द को नहीं, तो प्रत्येक वाक्य को याद करने को बाध्य हूं। यदि मैं यह सब याद नहीं करूंगा, तो प्रोफ़ेसर मुझे फ़ाइनल की या बीच की परीक्षा में उत्तीर्ण होने का प्रमाणपत्र नहीं देगा। मैं उन दुरुपयोगों की बात नहीं कर रहा हूं, जो सैकड़ों बार दोहराये जाते हैं। इस प्रमाणपत्र को पाने के लिए मुझे प्रोफ़ेसर की प्रिय आदतों को ध्यान में रखना होगा, यानी या तो हमेशा सबसे आगे की पंक्ति में बैठकर उसके बोले हुए को लिखते जाना होगा, या परीक्षा में अपने को डरा हुआ अथवा हंसमुख दिखाना होगा, या प्रोफ़ेसर के जैसे ही ढंग से सोचना होगा, या उसकी दावतों में नियमित रूप से हाज़िरी बजानी होगी (यह सब मैंने अपने मन से नहीं गढ़ा है, बल्कि यह विद्यार्थियों की राय है, जिसे हमेशा हर विश्वविद्यालय में सुना जा सकता है)। व्याख्यानों को सुनते हुए हो सकता है कि मैं प्रोफ़ेसर से सहमत न हो पाऊं या अपने स्वाध्याय के आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुंचूं कि प्रोफ़ेसर के व्याख्यान अच्छे नहीं हैं, लेकिन मुझे उनमें उपस्थित होना होगा या कम से कम उन्हें याद करना ही होगा।

विश्वविद्यालय का एक जड़सिद्धांत है, जिसे प्रोफ़ेसर लोग कभी मुंह से कहते नहीं। वह यह है कि पोप की भांति प्रोफ़ेसर भी कभी ग़लत नहीं हो सकते। यही नहीं, प्रोफ़ेसर विद्यार्थियों को शिक्षा यों देते हैं कि जैसे वे पुरोहित हों – गुप्त रूप से, निजी तौर पर और अदीक्षितों, विद्यार्थियों द्वारा श्रद्धाभाव का प्रदर्शन किये जाने की मांग के साथ। ज्यों ही कोई व्यक्ति प्रोफ़ेसर नियुक्त होता है, वह शिक्षा देने लग जाता है। हो सकता है कि वह स्वभाव से बेवकूफ़ हो, या अपने दायित्व का निर्वाह करते समय और भी बेवकूफ़ बन गया हो, विज्ञान से पूरी तरह नाता तोड़ बैठा हो, या स्वभाव से इसके योग्य न हो, फिर भी वह शिक्षा देना जारी रखता है और तब तक

देता रहता है, जब तक कि जीवित है, और ऐसे में विद्यार्थियों के पास अपना संतोष या असंतोष व्यक्त करने के लिए कोई साधन नहीं होता। इतना ही नहीं, प्रोफ़ेसर जो पढ़ाता है, वह विद्यार्थियों के अलावा और सबके लिए रहस्य बना रहता है। हो सकता है कि मेरे ऐसा सोचने का कारण मेरा अज्ञान हो, लेकिन मैं ऐसी कोई किताब या दीपिका नहीं जानता, जो प्रोफ़ेसरों के व्याख्यानों के आधार पर तैयार की गयी हो। अगर ऐसी पाठ्यपुस्तकें थीं भी, तो उनकी तादाद एक प्रतिशत से ज्यादा शायद ही रही हो।

इसका क्या मतलब है? माना कि कोई प्रोफ़ेसर किसी उच्च शिक्षा संस्था में, उदाहरण के लिए, रूसी विधि का इतिहास अथवा नागरिक विधि पढ़ाता है। इसका यह मतलब हुआ कि वह इस विषय को पूरी तरह से जानता है, कि वह उससे संबंधित सभी दृष्टिकोणों के बीच समन्वय कर सका है, या उनमें से कोई एक, जो नवीनतम है, चुन सका है तथा सिद्ध कर सका है कि ऐसा क्यों है, तो फिर क्यों वह अपनी विद्वत्ता के फलों से हम सबको, सारे यूरोप को वंचित कर रहा है और केवल अपने व्याख्यानों के श्रोता विद्यार्थियों को ही उनसे लाभान्वित कर रहा है? क्या वह नहीं जानता कि अच्छे प्रकाशकों की कमी नहीं है, जो अच्छी किताबों के लिए अच्छा पैसा देते हैं, कि साहित्यिक रचनाओं का मूल्यांकन करने के लिए साहित्य समीक्षा मौजूद है, कि विद्यार्थियों के लिए कक्षा में उसके व्याख्यानों के नोट तैयार करने के बजाय उसकी किताब घर पर खाट पर लेटकर पढ़ना कहीं ज्यादा सुविधाजनक होता! अगर विज्ञान हर साल बदलता और बढ़ता है, तो हर साल नये, अतिरिक्त लेख प्रकट हो सकते हैं। साहित्य और समाज, दोनों ही इसका आभार मानते। तो प्रोफ़ेसर लोग अपने कोर्सों को प्रकाशित क्यों नहीं करते?

मैं शायद सोचता कि इसका कारण साहित्यिक सफलता के प्रति उदासीनता है, मगर अफ़सोस के साथ पाता हूं कि विज्ञान के ये ही पुरोहित हल्के-फुल्के राजनीतिक लेख छपवाने से मुंह नहीं मोड़ते, जिनका कभी-कभी उनके विषय से कोई संबंध नहीं होता। मुझे डर है कि विश्वविद्यालयों में किया जानेवाला अध्यापन रहस्यमय इसलिए है कि कोर्स अगर छपे हुए होते, तो उनमें से ६० प्रतिशत हमारी अविकसित साहित्य समीक्षा की कसौटी पर खरे न उतरते। कक्षा में

व्याख्यान देना ही क्यों ज़रूरी है? क्यों न विद्यार्थियों को स्वयं पढ़ने के लिए अपनी या किसी और की लिखी हुई एक, दो या दस अच्छी किताबें दे दी जायें?

यह विश्वविद्यालयी व्यवहार का एक जड़सिद्धांत है कि प्रोफ़ेसर का विश्वविद्यालय में अपनी ओर से पढ़ाना अत्यावश्यक है। मैं इससे सहमत नहीं हूं और इस आवश्यकता को किसी भी भांति सिद्ध नहीं किया जा सकता। कुछ लोग कहेंगे: "मुंह से कही हुई बात दिमाग़ में ज़्यादा ठहरती है।" मगर यह सही नहीं है। मैं अपने को और बहुत से दूसरे लोगों को जानता हूं, जिन्हें अपवाद क़तई नहीं कहा जा सकता और जो मुंह से सुनी हुई बात को बिल्कुल नहीं समझ पाते और अच्छी तरह तभी समझ पाते हैं, जब शांति से घर पर किताब पढ़ते हैं। मौखिक संप्रेषण सार्थक तभी होगा, जब विद्यार्थियों को असहमति जताने का अधिकार रहेगा और व्याख्यान संवाद होगा न कि सिर्फ़ पाठ। सिर्फ़ तभी हमें, पब्लिक को प्रोफ़ेसरों से अपने उन मैनुअलों को प्रकाशित करने की मांग करने का कोई अधिकार न होगा, जिनसे वे लगातार ३० वर्षों से हमारे बच्चों और भाइयों को पढ़ाते आ रहे हैं। आज जैसी व्यवस्था है, उसमें तो व्याख्यान और ख़ास तौर से जिस गंभीरता से उसे लिया जाता है वह मात्र एक निरर्थक, हास्यजनक अनुष्ठान है।

मैं विश्वविद्यालयों को सुधारने के उपायों का खोजी नहीं हूं। मैं नहीं कहता कि व्याख्यानों में विद्यार्थियों को आपत्तियां करने का अधिकार देकर विश्वविद्यालयी अध्यापन को सार्थक बनाया जा सकता है। प्रोफ़ेसरों और विद्यार्थियों को जहां तक मैं जानता हूं, मुझे लगता है कि अगर ऐसा किया जाता है, तो विद्यार्थी स्कूली बच्चों जैसा नटखटपन, उच्छृंखलता दिखायेंगे और प्रोफ़ेसर लोग शांति से इसे नहीं देख सकेंगे व सत्ता का उपयोग किये बिना बहस नहीं चला पायेंगे, और इस तरह नतीजा और भी बुरा होगा। फिर भी मेरे मत में इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जाना चाहिए कि विद्यार्थियों का काम चुप रहना है, जबकि प्रोफ़ेसर जो मन में आये, कह सकते हैं; इससे सिर्फ़ यही निष्कर्ष निकाला जाना चाहिए कि सारा विश्वविद्यालयी ढांचा ग़लत बुनियाद पर खड़ा है।

ऐसा विश्वविद्यालय समझ में आ सकता है, जो अपने नाम और

अपने बुनियादी विचार – पारस्परिक शिक्षा के उद्देश्य से लोगों का एकत्र होना – के अनुरूप है। ऐसे विश्वविद्यालय – हालांकि वे हमें मालूम नहीं हैं – रूस के विभिन्न कोनों में क़ायम हो रहे हैं और काम कर रहे हैं; स्वयं विश्वविद्यालयों में, विद्यार्थियों की मंडलियों में लोग एकत्र होते हैं, पढ़ते हैं, आपस में बहसें करते हैं और कैसे एकत्र हों, कैसे बहसें चलायें, इस बारे में नियम बनाते हैं। यही असली विश्वविद्यालय है। लेकिन हमारी यूनिवर्सिटियां उनके ढांचे में ढील लाने की सभी खोखली बातों के बावजूद सारतः ऐसी संस्थाएं ही बनी हुई हैं, जो संगठन की दृष्टि से महिला विद्यालयों अथवा कैडेट कोरों* से किसी भी प्रकार भिन्न नहीं हैं। जैसे कैडेट कोरों में अफ़सर और क़ानून की शिक्षा देनेवाले विद्यालयों में सरकारी अधिकारी तैयार किये जाते हैं, वैसे ही विश्वविद्यालयों में "उच्च शिक्षा प्राप्त" अधिकारियों व लोगों को तैयार किया जाता है (जैसा कि सभी जानते हैं, यह एक विशेष पद, उपाधि अथवा श्रेणी है)। विश्वविद्यालयों में हाल में जो कुछ घटा है, उसका कारण मेरी समझ में सीधा-सादा है: विद्यार्थियों को कमीज़ के कॉलर खुले रखने और कोट के बटन बंद न करने की इजाज़त दे दी गयी थी और व्याख्यानों में अनुपस्थिति के लिए सज़ा देना बंद किया जानेवाला था। मगर नतीजा यह हुआ कि सारा ही ढांचा चरमरा उठा और ढहते-ढहते बचा। स्थिति को सुधारने के लिए एक ही उपाय है: व्याख्यानों में अनुपस्थिति के लिए फिर से कोठरियों में बंद करना और वर्दी संबंधी पुराने नियम फिर से लागू करना। और भी अच्छा हो कि इंगलैंड की शिक्षा संस्थाओं की नक़ल पर पढ़ाई में असंतोषजनक प्रगति के लिए और ग़लत आचरण के लिए सज़ा दी जाये और विद्याथियों की संख्या उतनी ही रखी जाये, जितने लोगों की ज़रूरत है। यह ज़्यादा उचित होगा, और ऐसी व्यवस्था में विश्वविद्यालय हमें वैसे ही लोग देंगे, जैसे पहले दिया करते थे। विश्वविद्यालय जब तक समाज के, ठीक-ठीक कहें, तो उच्च अधिकारी समाज के सदस्यों को शिक्षा प्रदान करनेवाली संस्थाएं बने रहे, तब तक तो यह ठीक था, लेकिन जैसे ही उन्हें सारे रूसी समाज को शिक्षा

---

* रूस में १७३२ से १६१७ की महान अक्तूबर समाजवादी क्रांति तक चालू माध्यमिक सैनिक विद्यालय, जिनमें अभिजात लोगों के बच्चे पढ़ते थे।

देनेवाली संस्थाएं बनाने की बात चली, वैसे ही मालूम हुआ कि वे बेकार संस्थाएं हैं। मेरी समझ में क़तई नहीं आता कि क्यों कैडेट कोरों में वर्दी तथा अनुशासन को आवश्यक माना गया है और क्यों विश्वविद्यालयों में, जहां पढ़ाई ठीक वैसी ही है, यानी परीक्षाओं, ज़ोर-ज़बर्दस्ती तथा कार्यक्रम के साथ और असहमति दिखाने तथा कक्षा में अनुपस्थित होने के अधिकार के बिना, स्वतंत्रता की बात की जाती है और कैडेट कोरों जैसे तरीक़ों के बिना काम चलाने की सोची जाती है!

विश्वविद्यालयी शिक्षा के क्षेत्र में और सामान्यतः पूरी ही शिक्षा के क्षेत्र में सारी आफ़त की जड़ मुख्यतः वे लोग हैं, जो अपने दिमाग़ से काम लेने के बजाय फ़ैशनेबुल विचारों के पीछे भागते हैं और इसलिए सोचते हैं कि एक साथ दो मालिकों का हुक्म बजाया जा सकता है। ये वे लोग हैं, जो मेरे द्वारा 'यास्नाया पोल्याना' में व्यक्त विचारों के जवाब में कहते हैं: "ठीक है कि पढ़ाई में बच्चों को पीटने और रटवाने का ज़माना गुज़र गया है। यह सब बिल्कुल ठीक है। मगर यह भी मानिये कि कभी-कभी छड़ी के बिना काम चलाना कठिन हो जाता है, कि कभी-कभी रटने के लिए भी मजबूर किया जाना चाहिए। आप ठीक हैं, लेकिन चरम पर क्यों जाया जाये, वग़ैरह, वग़ैरह।"

लगता है कि ये लोग कितनी सही बात कह रहे हैं। मगर सच और स्वतंत्रता के दुश्मन वे ही हैं। वे आपसे सहमत होने का दिखावा इसीलिए करते हैं कि आपके विचारों पर छाकर उन्हें अपने ढंग से बदल सकें या उनमें काट-छांट कर सकें। वे नहीं मानते कि स्वतंत्रता आवश्यक है, लेकिन अगर कथनी में वे उसे आवश्यक बताते हैं, तो सिर्फ़ इसलिए कि ज़माने की हवा के खिलाफ़ जाने से डरते हैं। वे सरकारी नौकर हैं, इसलिए वे गवर्नर की, जिसके हाथ में सत्ता है, तारीफ़ करते हैं। उनसे हज़ारगुना बेहतर तो मैं अपने साथी पादरी को मानता हूं, जो सीधे-सीधे कहता है कि इसमें बहस की कोई बात नहीं कि अगर लोग ईश्वर के क़ानून को नहीं जानेंगे, तो वे अभागों की मौत मरेंगे, और इसलिए जैसे भी हो बच्चे को ईश्वर का क़ानून सिखाना, उसे बचाना आवश्यक है। वह कहता है कि बाध्यकरण आवश्यक है, कि शिक्षा शिक्षा है, मनोरंजन नहीं। उससे दलील की जा सकती है, मगर निरंकुशता तथा स्वतंत्रता, दोनों के सेवक उपरोक्त

श्रीमानों से दलील करना असंभव है। विश्वविद्यालयों की इस समय हम जो विशेष स्थिति देख रहे हैं, जिसमें कूटनीति की विशेष कला की आवश्यकता है और जिसमें, जैसा कि फ़िगारो कहता है, मालूम नहीं कि कौन किसको धोखा दे रहा है, वह स्थिति इन श्रीमानों की ही देन है: विद्यार्थी अपने अभिभावकों तथा गुरुओं को धोखा दे रहे हैं, गुरु लोग अभिभावकों, विद्यार्थियों, सरकार, आदि को धोखा दे रहे हैं और इसी तरह अन्य सभी संयोजनों तथा क्रमपरिवर्तनों में भी। और हमें कहा जाता है कि ऐसा ही होना भी चाहिए; हमें कहा जाता है कि आप कुछ नहीं जानते और इसलिए हमारे काम में दखल मत दीजिये, यहां विशेष कला की, ज्ञान की आवश्यकता है, यह ऐतिहासिक विकास है, आदि-आदि। दूसरी ओर, लगता है कि मसला कितना आसान है: कुछ लोग सिखाना चाहते हैं और दूसरे लोग सीखना चाहते हैं। तो सिखायें, जितना सिखा सकते हैं, और सीखें, जितना सीख सकते हैं।

मुझे याद पड़ता है कि विश्वविद्यालयों से संबंधित कोस्तोमारोव योजना पर बहस जब अपने चरम पर थी, मैं एक प्रोफ़ेसर के सामने उसकी हिमायत कर रहा था। तब प्रोफ़ेसर महोदय ऐसी गहन सोच से भरी अनुपम गंभीरता से, जिसकी और किसी चीज़ से तुलना नहीं जा सकती, और लगभग खुसफुसाते हुए, प्रभावक ढंग से तथा मानो मुझे विश्वास में लेते हुए बोले: "आपको मालूम है कि यह योजना है क्या? यह नये विश्वविद्यालय की योजना नहीं, बल्कि विश्वविद्यालयों को ख़त्म करने की योजना है," यह कहते हुए वह भयमिश्रित दृष्टि से मुझे देख रहे थे। "क्या बात करते हैं आप भी!" मैंने जवाब दिया। "यह तो बड़ी अच्छी योजना है, क्योंकि इस समय जैसे **विश्वविद्यालय** हैं, **उन्हें अच्छा क़तई नहीं कहा जा सकता।**" प्रोफ़ेसर ने मुझसे और बहस करना उचित नहीं समझा, हालांकि वैसे भी वह सिद्ध नहीं कर सकता था कि वर्तमान विश्वविद्यालय अच्छे हैं। सच तो यह है कि इसे कोई भी सिद्ध नहीं कर सकता है।

सभी लोग आदमी हैं, यहां तक कि प्रोफ़ेसर भी। कोई भी मज़दूर नहीं कहेगा कि उस फ़ैक्टरी को नष्ट कर देना चाहिए, जो उसकी रोज़ी-रोटी का ज़रिया है। उसके ऐसा न कहने का कारण यह नहीं कि उसे इस बात की समझ है, बल्कि वह अचेतन रूप से ऐसा अनुभव करता है। जो श्रीमान लोग विश्वविद्यालयों के लिए ज़्यादा स्वतंत्रता चाहते

14-942

हैं, वे उस आदमी की तरह हैं, जो कमरे में कुछ जवान बुलबुलों को लाकर यह सोचते हुए कि उन्हें आज़ादी की ज़रूरत है, उनके पैरों में डोरी बांधकर उन्हें पिंजरे से छोड़ देता है और बाद में आश्चर्य-चकित होता है कि बुलबुलों ने गाने के बजाय अपने पैरों को क्षत-विक्षत कर लिया है और मर गयी हैं।

किसी ने कभी जनता की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर विश्व-विद्यालय स्थापित करने की नहीं सोची। यह असंभव भी था, क्योंकि जनता की आवश्यकता पहले भी नहीं मालूम थी और अब भी नहीं मालूम है। मगर विश्वविद्यालय आंशिकतः सरकार की और आंशिकतः उच्चवर्गीय समाज की आवश्यकता को ध्यान में रखकर ज़रूर स्थापित किये गये। इन विश्वविद्यालयों के लिए आधार का काम करनेवाली शिक्षा संस्थाओं की एक पूरी शृंखला स्थापित की गयी है और उसका भी जनता की आवश्यकता से कोई संबंध नहीं है। सरकार को प्रशास-निक अधिकारी, चिकित्सक, वकील और अध्यापक चाहिए और उन्हें तैयार करने के लिए विश्वविद्यालय क़ायम किये गये हैं। अब उच्चवर्गीय समाज के लिए एक ख़ास ढंग के उदारपंथी चाहिए, तो विश्वविद्यालय उन्हें भी तैयार करने लगे हैं। ग़लती सिर्फ़ यह है कि जनता को ऐसे उदारपंथियों की क़तई ज़रूरत नहीं है।

आम तौर पर कहते हैं कि विश्वविद्यालयों में ख़ामियां इसलिए हैं कि निचले स्तर की संस्थाओं में ख़ामियां हैं। मगर मैं इससे बिल्कुल उल्टी बात कहता हूं: सार्वजनिक और विशेषतः उयेज़्द स्तर के स्कूलों में जो ख़ामियां हैं, उनका कारण मुख्य रूप से विश्वविद्यालयों की ग़लत मांगें हैं...

लोग अपने को जीवन के लिए, काम के लिए तैयार करते हैं। हर काम के लिए उसकी आदत के अलावा व्यवस्था और त्रुटिहीनता आवश्यक होती हैं और फिर जो सबसे बड़ी चीज़ है, आदमी को रहना और लोगों से बर्ताव करना भी आने चाहिए। देखिये, किसान का बेटा काश्तकार बनना, गिरजादार का बेटा गिरजे में गायनस्थल पर भजनों को पढ़ते हुए गिरजादार बनना और पशुचारक क़िर्ग़िज़ का बच्चा पशु-चारक बनना कैसे सीखता है; वह छुटपन से ही जीवन, प्रकृति और लोगों के साथ सीधे रिश्ते क़ायम कर लेता है, छुटपन से ही काम करते हुए फलप्रद ढंग से सीखता है, जीवन के भौतिक पक्ष के बारे

में निश्चिंत रहते हुए, यानी रोटी, कपड़े और सिर पर छत की कोई चिंता न करते हुए सीखता है। दूसरी ओर, विद्यार्थी को देखिये, जो घर, परिवार से कटा हुआ पराये शहर में, यौवन के लिए तरह-तरह के प्रलोभनों से भरे शहर में पड़ा हुआ है – जीवन-निर्वाह के साधनों के बिना (क्योंकि मां-बाप द्वारा बुनियादी ज़रूरतों के वास्ते दिये हुए सभी साधन तो मौजमस्ती पर ख़र्च कर दिये जाते हैं), ऐसे साथियों की संगत में, जो उसके चरित्र की कमियों ही को बढ़ावा देते हैं, किसी मार्गदर्शक या उद्देश्य के बिना और पुराने से तो नाता तोड़कर, मगर नये से अभी कोई संबंध न बना पाकर। कुछेक अपवादों को छोड़कर विद्यार्थियों की हालत यही है। उनसे वही निकलता है, जो निकलना चाहिए: या तो सरकारी अधिकारी, जो शासकों का कोई भी हुक्म बजाने को तैयार रहते हैं, या नौकरशाहों जैसे प्रोफ़ेसर, या नौकरशाहों जैसे साहित्यकार, जो समाज के जी-हुज़ूर हैं, या ऐसे लोग, जो अपने पहले के परिवेश से बेमतलब कटे हुए हैं, जिनका यौवन बिगड़ चुका है और जो जीवन में अपना ठौर नहीं खोज पाते हैं, यानी तथाकथित **विश्वविद्यालयी शिक्षा** पाये हुए लोग, विकसित, मगर वास्तव में चिड़चिड़े, बीमार उदारपंथी लोग। विश्वविद्यालय हमारी पहली और सर्वोच्च शिक्षा संस्था है। वह शिक्षा का प्रथम अधि-कार अपना लेता है और सबसे पहले वही अपने द्वारा प्राप्त परिणामों से सिद्ध करता है कि ऐसी शिक्षा अवैध तथा निरर्थक है। सिर्फ़ समाज के दृष्टिकोण से ही विश्वविद्यालय के फलों को उचित ठहराया जा सकता है। विश्वविद्यालय ऐसे लोग तैयार नहीं करता, जिनकी मानवजाति को आवश्यकता है, बल्कि जैसे लोग भ्रष्ट समाज को चाहिए।

अब कल्पना करें कि कोर्स समाप्त हो गया है। और यह भी कल्पना करें कि हमारा विद्यार्थी सभी लिहाज़ से एक सर्वोत्तम विद्यार्थी था। वह घर लौटता है। यहां पिता, माता, भाई, बहन, सब उसके लिए पराये हो गये हैं। उनका विश्वास उसका विश्वास नहीं रह गया है, उनकी इच्छा उसकी इच्छा नहीं रह गयी है, और वह उनके भगवान की नहीं, बल्कि किन्हीं और ही आराध्यों की पूजा करने लगा है। माता-पिता अपने को ठगा हुआ महसूस करते हैं। बेटा उनके साथ घुल-मिलकर एक होना चाहता है, पर हो नहीं पाता। मैं जो कह रहा हूं, वह बेबुनियाद बात, कल्पना से गढ़ी हुई बात नहीं है। मैं ऐसे

बहुत ज़्यादा विद्यार्थियों को जानता हूं, जो घर लौटने के बाद प्रायः अपने नाते-रिश्तेदारों के विश्वासों की खिल्ली उड़ाते थे और जिनकी विवाह, इज़्ज़त, व्यापार, आदि लगभग सभी चीज़ों के बारे में मान्यताएं अपने घरवालों की मान्यताओं से भिन्न थीं। मगर जो होना था, वह तो हो चुका, और अब माता-पिता अपने को यह सोचकर सांत्वना देते हैं कि **आज का** ज़माना ही ऐसा है और **आज की** शिक्षा ही ऐसी है, कि उनका बेटा अगर उनके अपने समाज में नहीं, तो कम से कम स्वयं ही अपने लिए कैरीयर बना लेगा, जीवन-निर्वाह के साधन ढूंढ लेगा तथा जब-तब उनकी भी मदद कर दिया करेगा, यानी अपने ढंग से सुखी बन जायेगा। मगर अफ़सोस है कि यहां भी १० में से ६ मामलों में माता-पिता ग़लत सिद्ध होते हैं।

कोर्स ख़त्म कर लेने के बाद विद्यार्थी नहीं जानता कि कहां जाये। अजीब बात है कि जो ज्ञान उसने अर्जित किया है, वह किसी को नहीं चाहिए और कोई उसके लिए एक पाई भी नहीं देता। उसका एकमात्र प्रयोग साहित्य में और शिक्षाशास्त्र के क्षेत्र में हो सकता है, यानी वैसे ही अवांछित लोगों को तैयार करनेवाले विज्ञान के क्षेत्र में। है न अजीब बात! रूस में शिक्षा का बहुत कम प्रसार है और इसलिए उसका अत्यधिक मूल्य किया जाना चाहिए था। किंतु व्यवहार में इसका उल्टा ही होता है। हमें मैकेनिक चाहिए, हमारे यहां उनकी कमी है और हम उन्हें मोटी-मोटी तनख्वाहें देकर यूरोप से बुलाते हैं। विश्वविद्यालयी शिक्षा प्राप्त लोग (मैं शिक्षित लोगों की बात नहीं कर रहा हूं, उनकी संख्या हमारे यहां सचमुच कम है) कैसे कहते हैं कि उनकी ज़रूरत है, जबकि हम न सिर्फ़ उनकी कोई क़द्र नहीं करते, बल्कि जानते भी नहीं कि उनका क्या करें?.. क्यों रेलवे में विद्यार्थी नहीं, बल्कि गंवार ठेकेदार हज़ारों मज़दूरों के काम पर निगरानी रखते हैं? विद्यार्थी को अगर अच्छी तनख्वाहवाली नौकरी मिलती भी है, तो क्यों वह उसे विश्वविद्यालय में पाये हुए ज्ञान के कारण नहीं, बल्कि उसके बाद पाये हुए ज्ञान के कारण मिलती है? क्यों जिन विद्यार्थियों ने क़ानून पढ़ा होता है, वे फ़ौजी अफ़सर बनते हैं और जिन्होंने गणित या प्राकृतिक विज्ञानों की शिक्षा पायी होती है, वे सरकारी अधिकारी बनते हैं? क्यों कोई भी व्यवसायी किसी विद्यार्थी को नहीं, बल्कि किसी किसान के बेटे को अपने यहां कारिंदा

रखता है या अपनी बेटी से उसकी शादी करता है या अपने घर में बुलाता है? जवाब मिलेगा : इसलिए कि हमारे समाज में लोग अभी शिक्षा की क़द्र करना नहीं जानते, कि विश्वविद्यालय में पढ़ा हुआ अध्यापक बच्चों को पीटेगा नहीं, कि उच्च शिक्षा प्राप्त मैनेजर मज़दूरों को ठगेगा नहीं, उन्हें पेशगी पैसे देकर बंधुआ नहीं बनायेगा, कि विद्यार्थी रह चुका व्यापारी कम नहीं नापेगा या तौलेगा, कि शिक्षा के फल उतने साफ़ नहीं दिखायी देते, जितने रूढ़िवाद और जाहिलियत के फल। हो सकता है कि यह सब सच हो, लेकिन मेरे प्रेक्षण दूसरी ही बात कहते हैं। विद्यार्थी को या तो बिल्कुल ही काम करना नहीं आता, न ईमानदारी से और न बेईमानी से, और अगर आता है, तो सिर्फ़ अपने स्वभाव के अनुसार, स्कूल से स्वतंत्र रूप से जीवन में उसने अपने में जो नैतिक आदतें डाली हैं, उनके सामान्य स्वरूप के अनुसार। जितने ईमानदार विद्यार्थियों में मिल सकते हैं, उतने ही ग़ैर-विद्यार्थियों में भी मिल जायेंगे और जितने बेईमान ग़ैर-विद्यार्थियों में मिलेंगे, उतने ही विद्यार्थियों में भी मिल सकते हैं।

लेकिन, चलिये, मान लिया कि विश्वविद्यालय की शिक्षा आदमी में न्याय की भावना को प्रबल बनाती है और इसलिए अशिक्षित लोग विद्यार्थियों के बजाय अपने जैसे अशिक्षित लोगों को तरजीह देते हैं तथा उनकी विद्यार्थियों से ज़्यादा क़द्र करते हैं। मान लिया कि बात ऐसी ही है। लेकिन हम तथाकथित शिक्षित तथा साधनसंपन्न लोग, अभिजात, साहित्यकार और प्रोफ़ेसर लोग विद्यार्थियों को नौकरी के अलावा और कहीं इस्तेमाल क्यों नहीं कर सकते? मैं इस कारण नौकरी की बात नहीं कर रहा कि तनख्वाह सेवाओं और ज्ञान का मापदंड नहीं मानी जा सकती। हर कोई जानता है कि ज्यों ही किसी विद्यार्थी, भूतपूर्व अफ़सर, उजड़े हुए ज़मींदार, परदेसी, आदि को किसी कारणवश जीवन-निर्वाह के साधन जुटाने की ज़रूरत होती है, वह राजधानी की राह पकड़ लेता है। वहां जैसे उसके जान-पहचानवाले हुए और जैसी उसकी मांगें हुईं, वैसी उसे प्रशासन में नौकरी मिल जाती है, और अगर नहीं मिलती, तो वह अपने को अपमानित महसूस करता है। मैं इसलिए तनख्वाह की बात नहीं कर रहा हूं। लेकिन मैं पूछता हूं कि क्यों वही प्रोफ़ेसर, जिसने विद्यार्थियों को शिक्षा दी थी, दरबान को १५ रूबल माहवार या बढ़ई को २० रूबल देता

है और जब कोई विद्यार्थी काम की खोज में आता है, तो अफ़सोस ज़ाहिर करता है कि कहीं **सिफ़ारिश** कर देने के अलावा और कोई मदद नहीं कर सकता, या बहुत हुआ, तो नक़ल करनेवाले अथवा प्रूफ़रीडर के काम के लिए सिर्फ़ १० रूबल तनख़्वाह देने को तैयार होता है, यानी ऐसी नौकरी देता है, जिसके लिए उयेज़्द के विद्यालय में पाया हुआ ज्ञान, लिखने की योग्यता ही पर्याप्त होते। ऐसी नौकरी न कोई है और न हो ही सकती है कि जहां रोमन विधि के इतिहास, यूनानी साहित्य या इंटीग्रल कैलकुलस का ज्ञान काम आये।

इस तरह विश्वविद्यालय की पढ़ाई पूरी करके घर लौटा बेटा ज़्यादातर मामलों में माता-पिता की आशाओं के अनुकूल नहीं निकलता और परिवार पर बोझ न बने, इसके लिए उसे ऐसी नौकरी क़बूल कर लेनी पड़ती है, जिसके लिए सिर्फ़ लिखना आना ही पर्याप्त है और जिसमें उसका सभी रूसी पढ़ना-लिखना जाननेवालों से मुक़ाबला होता है। एक चीज़, जिसमें वह औरों से श्रेष्ठ होता है, वह है उच्च शिक्षा की उपाधि, मगर वह सिर्फ़ सरकारी नौकरी के लिए काम आती है, जिसमें जान-पहचान और अन्य बातों का बड़ा महत्त्व होता है। दूसरी चीज़ जो उसे औरों से श्रेष्ठ बनाती है, वह है उदारवाद, पर उसे कहीं इस्तेमाल नहीं किया जा सकता। मुझे लगता है कि विश्वविद्यालय की शिक्षा पाये हुए ऐसे लोगों का अनुपात बहुत कम होगा, जो सरकारी क्षेत्र के बाहर किसी अच्छी तनख़्वाहवाली नौकरी पर हैं। उच्च शिक्षा प्राप्त लोगों के कार्यकलाप संबंधी सही आंकड़े शिक्षाशास्त्र के लिए महत्त्वपूर्ण सामग्री सिद्ध हो सकते हैं और मुझे विश्वास है कि उनसे उस सत्य की पुष्टि हो जायेगी, जिसे मैं सिर्फ़ अनुमानों और उपलब्ध तथ्यों के आधार पर सामने लाने की कोशिश कर रहा हूं, यानी यह सत्य कि विश्वविद्यालयी शिक्षा पाये हुए लोगों की कम आवश्यकता है और वे अधिकांशतः साहित्य तथा शिक्षा के क्षेत्र में ही काम करते हैं, दूसरे शब्दों में, अपने कार्यकलाप से वे जीवन के लिए वैसे ही अनावश्यक लोग तैयार करने की शाश्वत प्रक्रिया को दोहराते हैं।

मगर मैंने एक आपत्ति का, या ठीक-ठीक कहूं, तो आपत्तियों के एक स्रोत का, जिसकी ओर मेरे अधिकांश पाठकों का ध्यान जाना स्वाभाविक है, पहले से अनुमान नहीं लगाया। वह यह है: जो उच्च शिक्षा यूरोप में इतनी फलप्रद सिद्ध हो रही है, वही उच्च शिक्षा हमारे यहां इतनी अव्यवहार्य कैसे हुई? यूरोपीय समाज रूसी समाज से ज़्यादा शिक्षित है। तो क्यों रूसी समाज भी उसी रास्ते पर न चले, जिसपर यूरोपीय राष्ट्र चले हैं? इस आपत्ति का उत्तर दे पाना असंभव होता, अगर यह सिद्ध होता कि, पहले, यूरोपीय राष्ट्र जिस रास्ते पर चले हैं, वह सर्वोत्तम है, दूसरे, सारी मानवजाति एक ही रास्ते पर चलती है और, तीसरे, हमारी शिक्षा जनता में जड़ पकड़ रही है।

सारा पूरब यूरोपीयों से सर्वथा भिन्न तरीक़ों से शिक्षित बना है और बन रहा है। अगर कोई यह सिद्ध करता है कि अमुक प्राणी – भेड़िया या कुत्ता – गोश्त खाता है और उससे ही अपने पूर्ण विकास पर पहुंचता है, तो क्या इससे मुझे यह निष्कर्ष निकालने का अधिकार होगा कि घोड़े या ख़रगोश को पालने तथा पूर्ण विकास पर पहुंचाने के लिए उन्हें भी गोश्त खिलाना आवश्यक है? क्या इन विपरीत प्रयोगों से मैं निष्कर्ष निकाल सकता हूं कि भालू को पालने के लिए गोश्त और जई में से कोई एक ही चीज़ आवश्यक है? प्रयोग मुझे बतायेगा कि उसके लिए दोनों ही चीज़ें आवश्यक हैं। अगर मुझे लगता भी है कि गोश्त के ज़रिये गोश्त का बनना अधिक स्वाभाविक है और अगर पहले के प्रयोग मेरी प्राक्कल्पना की पुष्टि कर भी देते हैं, तो भी मैं बछेरे को इसलिए गोश्त देना जारी नहीं रख सकता कि वह हर बार उसे ठुकरा देता है, कि उसका शरीर इस आहार को स्वीकार नहीं करता। ठीक यही चीज़ रूप की दृष्टि से भी और अंतर्वस्तु की दृष्टि से भी यूरोपीय शिक्षा के साथ होती है, जिसे हमारी ज़मीन पर रोपा गया है। रूसी जाति का शरीर उसे आत्मसात् नहीं करता। दूसरी ओर, चूंकि रूसी जाति एक जीवित जाति है, तो कोई और आहार भी होना चाहिए, जो उसके शरीर को पोषण देता है। यह आहार हमें वैसे ही आहार नहीं लगता है, जैसे हिंस्र जानवरों के लिए घास होती है। इस बीच ऐतिहासिक एवं शरीरक्रियात्मक प्रक्रिया जारी है और जाति का विराट शरीर हमें नामालूम इस आहार को आत्मसात् किये जा रहा है और बढ़ता तथा पुष्ट बनता जा रहा है।

१०. सार्वजनिक शिक्षा के क्षेत्र में सामाजिक योगदान
(अगस्त, १८६२)

एक अंश

...जीवन अचेतन ढंग से संकल्पनाएं, जानकारियां देता है और स्कूल सचेतन ढंग से उन्हें सुसमन्वित तथा प्रणालीबद्ध करता है।

शिक्षा के लिए सर्वोत्तम परिस्थितियों का आदर्श जीवन से ज्ञान की प्राप्ति और स्कूल में उसके वर्गीकरण के बीच संतुलन है।

भ्रमवश स्कूल समाज के उच्च वर्गों के लिए बहुत पहले ही वह सीमा लांघ चुका है, जो प्रकृति ने मनुष्य के लिए निर्धारित की थी। उसने जीवन के क्षेत्र को अपनी परिधि में ले लिया है।

अतिशय शिक्षण बच्चों के लिए हानिकारक है

स्कूल आभासी ज्ञान का वर्गीकरण करता है, जिसे बच्चा अभी जीवन से सीख भी नहीं पाया है। स्कूल सोचता है कि वह नयी संकल्पनाएं, नया ज्ञान दे सकता है। एक विचित्र विडंबना उत्पन्न होती है: स्कूल सोचता है कि वह नयी संकल्पनाएं सिखा रहा है और सिखाता कुछ भी नहीं। मनुष्य नयी जानकारियां केवल अचेतन ढंग से पाता है। स्वतंत्रता अधिकतम जानकारियां पाने की आदर्शतम परिस्थिति है। स्कूल विद्यार्थी को स्वतंत्रता से वंचित करता है और इस तरह से यह सोचते हुए कि वह उसे नयी संकल्पनाएं दे रहा है, उल्टे उसे नयी जानकारियां पाने की संभावना से ही वंचित कर डालता है और स्कूल की परिस्थितियों द्वारा उसे दबा देता है। स्कूल जानेवाला बच्चा अपनी नयी संकल्पनाएं केवल स्कूली जीवन से, साथियों, अध्यापकों और किताबों से पाता है। उसकी संकल्पनाएं कम तथा संकीर्ण होती हैं और इसलिए स्कूल में उनका वर्गीकरण किया जाना आसान होता है।

यह पुराना क़िस्सा है, जिसकी मैं पहले भी कई बार चर्चा कर

चुका हूं। ऐसे बच्चे को सिखाना कठिन है, जिसे हमने एक विशिष्ट जीवनीय विकास का अवसर दिया है। इसी तरह तथाकथित आम लोगों के लिए किताब लिखना कठिन है। लेकिन जो बच्चा शैक्षिक विषयों की उसके लिए बनायी गयी, दिमाग़ को संकीर्ण और महत्त्व-हीन बनानेवाली सारी सीढ़ी चढ़ चुका है और जिसे हम स्कूली जीवन के ढांचे से गुज़ार चुके हैं, उस बच्चे को सिखाना आसान है। विश्व-विद्यालय का प्रोफ़ेसर बनने से ज़्यादा आसान कुछ नहीं है और सामान्य जन को पढ़ानेवाला अध्यापक बनने से ज़्यादा कठिन कुछ नहीं है: पहले मामले में सभी सवाल और कठिनाइयां पहले से मालूम हैं और दूसरे मामले में अपेक्षाओं की व्यापकता हमें चकित तथा भयभीत कर देती है।

पेस्तालोच्ची का मत इस लिहाज़ से ठीक ही है कि वास्तविक ज्ञान केवल प्रत्यक्ष रूप से, जीवन के अनुभवों के ज़रिये पाया जाता है और संकल्पनाओं की तादाद बढ़ाने के लिए इस तरीक़े से ज्ञान अर्जित करने के उपायों को बढ़ाना होगा। मगर उनका मत इस लिहाज़ से ठीक नहीं है कि वह ज्ञानार्जन के प्रत्यक्ष तरीक़े को स्कूल में उपयोग किये जाने पर जोर देता है। नयी संकल्पनाएं सीखने के प्रत्यक्ष तरीक़े के लिए पूर्ण स्वतंत्रता ज़रूरी है और इसलिए उसका नियंत्रण-निदेशन संभव नहीं है। ज्ञान अर्जित करने के प्रत्यक्ष तरीक़े में ध्यान ही नहीं, शौक़ की भी, जो छाप पड़ रही है, अपने को पूरी तरह उसे समर्पित करने की भी आवश्यकता होती है, और ये चीज़ें स्कूल में कृत्रिम रूप से नहीं पैदा की जा सकतीं। बच्चा घोड़े और उसके शरीर के सभी अंगों को जाने, इसके लिए ज़रूरी है कि उसे अपने या पिता के ज़िंदा घोड़े से लगाव रहा हो। इस लगाव को और उसके द्वारा आवश्यक बनाये गये ध्यान तथा प्रेक्षणशक्ति को स्कूल में नहीं पैदा किया जा सकता।

स्कूल का काम सिर्फ़ उन शौक़ों तथा उनके द्वारा आवश्यक बनाये गये प्रेक्षणों का वर्गीकरण करना है, जिन्हें जीवन ने जगाया है। वर्गी-करण एक विज्ञान है, जिसके अपने नियम हैं। वर्गीकरण वस्तुमूलक पाठ या दृश्य शिक्षा नहीं है, जिनकी कोई आंतरिक प्रणाली नहीं होती और इसलिए जो विद्यार्थियों के लिए कोई बौद्धिक आकर्षण नहीं रखते। विज्ञान अलग चीज़ है और जीवन अलग चीज़ है; दोनों में से प्रत्येक

की अपनी अपेक्षाएं, अपने नियम और मनुष्य के लिए अपना आकर्षण है। विज्ञान जीवन की चेतना मात्र है। बीच का न कुछ था और न हो ही सकता है।

जीवन की मांगों को पूरा न करनेवाला तथा उससे पिछड़ा हुआ विज्ञान ही और इससे भी ज़्यादा पिछड़ा हुआ शिक्षाशास्त्र ही दृश्य शिक्षा जैसे समझौतों के चक्कर में पड़ सकते हैं। जिस बच्चे ने जीवन में कभी पेड़ और अनाज की बालियां नहीं देखी हैं, उसे ही स्कूल में ये चीज़ें दिखाना आवश्यक हो सकता है। जब तक बच्चा अनाज के खेत में पड़ा अचेतन ढंग से बालियां नहीं खींचेगा और नहीं तोड़ेगा, जब तक वह पेड़ काटते आदमी के कुल्हाड़े के उठने-गिरने पर ग़ौर नहीं करेगा, इस पेड़ की छाल को नाख़ून से नहीं कुरेदेगा, तब तक वह न अनाज को जान पायेगा, न पेड़ को, चाहे उसे पेड़ों और बालियों की काटों की कितनी ही अच्छी प्रदर्शनियां क्यों न दिखायी जायें... **ज्ञान अर्जित करने का मुख्य साधन जीवन की परिघटनाओं से प्रत्यक्ष संबंध है। जीवन की परिघटनाओं से प्रत्यक्ष संबंध के लिए पूर्ण स्वतंत्रता अपेक्षित है। स्कूल, अध्यापक और किताब सारतः वैसे ही जीवन की परिघटनाएं हैं, जैसे माता-पिता का घर, काम, वन और आकाश हैं। स्कूल में अधिक से अधिक ज्ञान अर्जित किया जाये, इसके लिए विद्यार्थियों के स्कूल, अध्यापक और किताब से संबंध वैसे ही स्वतंत्र हों, जैसे इन विद्यार्थियों के ये संबंध प्रकृति के साथ, जीवन की सभी परिघटनाओं के साथ हैं।**

दृश्य शिक्षा की विधियों के बेकार होने का सर्वोत्तम लक्षण जर्मनी और स्विट्ज़रलैंड में इस प्रणाली का ह्रास है। इन बहुत ही भोंडी व्याख्याओं के अलावा कि मेज़ के चार पाये होते हैं, कि फ़र्श नीचे होता है और छत ऊपर, वग़ैरह, मैंने जर्मनी और स्विट्-ज़रलैंड में सबसे छोटे बच्चों की पाठशालाओं में दृश्य शिक्षा की विधियों का व्यवहार में और कोई निशान नहीं पाया... वहां मैं कई बार object lessons [वस्तुपरक पाठों] में बैठा। लंदन के एक स्कूल के प्रधाना-ध्यापक ने मेरे अनुरोध पर cotton — कपास – के बारे में वस्तुमूलक पाठ और परीक्षा का आयोजन किया। उस समय प्रधानाध्यापक का शांत आत्मविश्वास देखते ही बनता था, जब वह और अध्यापक विद्यार्थियों से पूछ रहे थे : कपास कैसी वनस्पति है? उसकी खेती कैसे

की जाती है? वह कहां पैदा होती है? वह हमारे यहां कैसे पहुंचती है और कैसे फ़ैक्टरियों में उसका संसाधन किया जाता है? विद्यार्थी बहुत अच्छा उत्तर दे रहे थे। शायद वह उन्होंने रटा हुआ था। मैंने भी कुछ प्रश्न पूछने की अनुमति मांगी। मैंने पूछा : कपास किस वर्ग की वनस्पतियों में आती है, उसकी खेती के लिए कैसी मिट्टी चाहिए, कपास की एक घन फ़ुट गांठ का कितना वज़न होता है, उसकी गांठ कैसे बनायी जाती है, उसकी ढुलाई, लदाई तथा उतराई के रेट क्या हैं, कपास में कौन से रासायनिक तत्त्व होते हैं, कपास के गीला होने पर उसका क्या किया जाता है, फ़्लैक्स के कपड़े और सूती कपड़े में फ़र्क़ कैसे किया जाता है, सूती माल हमारे यहां पीटर्सबर्ग सीधे पहुंचने के बजाय इंगलैंड के ज़रिये क्यों पहुंचते हैं, कपास के आम इस्तेमाल में आने का मज़दूर वर्ग पर क्या असर पड़ा और सूत कातने की सर्वोत्तम मशीनें कैसे बनी हैं? ये सभी प्रश्न साफ़ है कि पाठ और परीक्षा की वस्तु – कपास – से संबंध रखते थे, मगर कहने की आवश्यकता नहीं कि विद्यार्थी उनका उत्तर न दे सके। सूती मिल का कोई भी मज़दूर उनमें से ज़्यादातर के उत्तर दे देता, लेकिन विद्या-र्थी सिर्फ़ उन्हीं प्रश्नों के उत्तर दे रहे थे, जो किसी कारण से कपास संबंधी वस्तुमूलक पाठ के लिए सीख लिये गये थे। वे रटे-रटाये उत्तर दे रहे थे कि कपास गरम जलवायु में उगती है, कि अफ़्रीका में और दक्षिणी यूरोप में भी उसे उगाने की कोशिशें की गयी हैं। उन्होंने समुद्री मार्ग का विस्तार से वर्णन किया, बताया कि कपास की उपयोगिता पहले-पहल कैसे मालूम हुई और उससे क्या-क्या चीज़ें बनायी जाती हैं। लेकिन ज़ाहिर है कि कपास के संबंध में जिन प्रश्नों का वे उत्तर दे रहे थे, उनका ही उत्तर देने और जो प्रश्न मैंने पूछे थे, उनका उत्तर न देने का इसके अलावा और कोई कारण न था कि अध्यापक ऐसा चाहते थे। अध्यापक ऐसा इसलिए चाहते थे कि वे ख़ुद भी और कुछ नहीं जानते थे। शायद सिद्ध करने की ज़रूरत नहीं है कि कपास ही नहीं, बल्कि कोई भी वस्तु – उदाहरण के लिए, रोटी का टुकड़ा, चर्बी का टुकड़ा – लेकर उसका वर्णन करते हुए आप सभी ही विज्ञानों को छू सकते हैं। सारा सवाल इसका होता है कि किस विज्ञान को आप किस हद तक छूते हैं।

यहां न कोई नियम हैं, न सीमाएं। विज्ञानों का वर्गीकरण किसी

एक आदमी के दिमाग़ की उपज नहीं है, बल्कि वह मनुष्य की प्रकृति में ही निहित है। उसका आधार हर बच्चे के मस्तिष्क में मौजूद है। अगर मैं वनस्पतिशास्त्र के प्रसंग में कपास की बात कर रहा हूं, तो मुझे बच्चे को उन सभी सवालों के उत्तर देने होंगे, जो वह इस प्रसंग में मुझसे पूछ सकता है, यानी कि मुझे उसे वनस्पतिशास्त्र के बारे में बताना होगा; अगर मैं उन मार्गों की बात कर रहा हूं, जिनसे कपास पहुंचती है, तो बच्चे के सभी प्रश्नों का उत्तर देने के लिए मुझे भूगोल की व्यापक जानकारी देनी होगी। ऐसा ही रसायनशास्त्र, व्यापार, इतिहास, आदि के प्रसंग में भी होता है। अगर मैं तर्कबुद्धि की इन शाश्वत अपेक्षाओं को, जिनका नाम विज्ञान है, ध्यान में नहीं रखता, तो मेरे लिए न कोई मार्गदर्शक है, न कोई सीमाएं ही। मुझे वैसे सिखाना चाहिए, जैसे स्वयं जीवन सिखाता है, यानी केवल उस चीज़ से निदेशित होते हुए, जो बच्चे के लिए रुचिकर और चिताकर्षक है। अगर मैं इस ढंग की पढ़ाई में बच्चे का स्वयं मार्गदर्शन करना चाहता हूं, तो मुझे विज्ञानों के वर्गीकरण के लिए नये आधार ढूंढने होंगे। वस्तुमूलक पाठों के पक्षधर कहने को ऐसा ही करते हैं। वे विज्ञानों का वर्गीकरण वैसा नहीं करते, जैसा पहले किया जाता था, यानी इतिहास, रसायनशास्त्र, यांत्रिकी, आदि में, बल्कि न जाने क्यों कपास, गोभी, समोवार, आदि में करते हैं। इस ढंग के वर्गीकरण में अध्यापन की मनमानी और निरंकुशता दोगुनी असह्य हो जाती हैं। पहले मनमानी की अभिव्यक्ति यही थी कि विद्यार्थी को वह चीज़ सिखायी जाती थी, जिसे अध्यापक उपयोगी समझते थे, अब उसे सिर्फ़ उस ढंग से सीखने को बाध्य किया जाता है, जिस ढंग से अध्यापक चाहता है।

एक बार पीटर्सबर्ग के एक रविवासरीय स्कूल में मुझे एक महिला को अपनी छात्रा को कुछ समझाते हुए देखने का मौक़ा मिला। चर्चा अब्राहम के यहां तीन यात्रियों के आगमन की चल रही थी। अब्राहम ने अपने अतिथियों के पैर धोये थे। शिक्षिका छात्रा से सवाल पूछने का मौक़ा नहीं चूकी: अब्राहम ने अतिथियों के पैर क्यों धोये और आजकल क्यों नहीं धोते हैं? फिर खुद ही समझाया कि उस ज़माने में लोग पैदल, सिर्फ़ चप्पलें पहने हुए रेगिस्तान में यात्रा करते थे। इसके बाद वह प्राचीन जूतों, रेगिस्तान, रेगिस्तान के जहाज़ ऊंट

और उसकी प्राणिवैज्ञानिक विशेषताओं के बारे में बताने लगी। यह सब समझाना कोई पांच मिनट जारी रहा। छात्रा लगता है कि अभी भी यात्रियों के साथ तंबू के द्वार पर खड़ी हुई थी और उसके साथ मैं भी मन ही मन आशा कर रहा था कि अब तो बात फिर इतिहास पर आ जायेगी। लेकिन मुझे ध्यान से सुनता देखकर अध्यापिका का हौसला शायद और बढ़ गया था और अपने ज्ञान का प्रदर्शन करने के लिए उसने कुछ रुककर सांस ली, एकाग्र हुई और सहसा सवाल किया कि अब लोग एक जगह से दूसरी जगह कैसे जाते हैं, और इस तरह बड़े ही स्वाभाविक ढंग से बात भाप, रेल इंजन, आदि पर आ गयी।

लंदन में मैंने जो वस्तुमूलक पाठ सुने थे, वे इस महिला के पाठ से किसी भी भांति बेहतर न थे। बल्कि सच कहूं, तो मुझे महिला का पाठ ही ज़्यादा पसंद आया, क्योंकि उसमें कम से कम कल्पना की उड़ान के लिए पूरी छूट तो मिल जाती है। लंदन के पाठों में जैसे कि कोई सामान्य सरकारी मात्रा निर्धारित की हुई थी, जिसका महिला के पाठ जैसे ही बहुत कम आधार था और जो उसके जैसे ही विद्यार्थियों से सिर्फ़ चुपचाप याद कर लेने पर ज़ोर देती थी।

श्री पेरेव्लेस्स्की जैसे कि इस कमी को महसूस करते हैं और अपने वस्तुमूलक पाठों में किसी वस्तु-विशेष के संबंध में दिये जानेवाले ज्ञान के दायरे को यथासंभव सीमित रखने का प्रयत्न करते हैं। मगर हमें लगता है कि अध्यापक की मनमानी और विद्यार्थियों से सिर्फ़ रट लेने की मांग तब तक ख़त्म नहीं होंगी, जब तक वस्तुमूलक पाठों का दायरा संकुचित करके बिल्कुल ही शून्य पर नहीं ले आया जायेगा।

जैसा कि हमने ऊपर कहा, वस्तुमूलक पाठों का तरीक़ा जीवन का तरीक़ा है, जिसे किन्हीं भी रूपों की सीमाओं में नहीं बांधा जा सकता। उसकी पहली और एकमात्र शर्त स्वतंत्रता है।

"लगता है कि शिक्षा की दिशा में पहला क़दम बच्चों को अपने आसपास की वस्तुएं ध्यान से देखना और अपने अनुभवों का ठीक-ठीक चित्रण करना सिखाना होना चाहिए," श्री पेरेव्लेस्स्की कहते हैं।

इसका यह अर्थ हुआ कि श्री पेरेव्लेस्स्की बच्चों को देखना और बताना सिखाना चाहते हैं। क्या स्कूल के पास बच्चों को वह चीज़ सिखाने के अलावा और कोई काम नहीं है, जिसे जीवन आसानी

से और अलक्षित ढंग से सिखा देता है? इस बात को मैं, श्री पेरेव्ले-स्स्की और हर पंद्रहवर्षीय लड़का कहीं भी सीखे बग़ैर जानते हैं। हम यह जानते ही नहीं, बल्कि जब मैं बिल्कुल छोटा था, उन दिनों की याद करते हुए मुझे ऐसा एक भी क्षण याद नहीं आता कि जब मैंने महसूस किया हो कि मुझे देखना और बताना नहीं आता। क्यों नहीं लोगों को सांस लेना और खाना पचाना भी सिखाया जाये? हो सकता है कि ये काम किसी मैनुअल के अनुसार करना जानकर वे और भी अच्छे हो जायेंगे?

...समिति द्वारा मंज़ूर की गयी पुस्तकों में जर्मन शिक्षाशास्त्री ग्रूबे की पद्धति के अनुसार लिखी गयी एक अंकगणित की पुस्तक है... इस पुस्तक को पढ़ते हुए मैंने जो क्रोध, अपमान और दुख अनुभव किया, उन्हें जानने के लिए इसे पढ़ना आवश्यक है। आरंभ से, यानी प्रस्तावना से शुरू करूं। उसमें हमें बताया जाता है कि जिस तरह प्राकृतिक विज्ञान जैसे कि रसायनशास्त्र, भौतिकी, वनस्पतिशास्त्र, आदि में नहीं, बल्कि गाजर, चुंबक, गोश्त, आदि में बांटे जाते हैं, उसी तरह गणित में अंकगणित भी जैसे कि जोड़, घटाव, गुणा और भाग में नहीं, बल्कि संख्याओं में, यानी २, ३, ४, ५, आदि में बांटा जाता है। लेकिन यह तो अविश्वसनीय है!

...अंकगणित का चार क्रियाओं में विभाजन अपने अध्ययनकक्ष में बैठे किसी जर्मन के दिमाग़ की उपज नहीं है, बल्कि ऐसा विभाजन मनुष्य के मस्तिष्क की ही सामान्य विशेषता है। जिस बच्चे ने अध्यापक को देखा भी नहीं है, वह भी पुराने स्कूल की भांति जीवन से पहले जोड़ सीखता है, फिर घटाव, गुणा और भाग। विज्ञानों के ऐसे विभाजन के लिए नया दार्शनिक आधार पा लीजिये, जिसमें पहले का विभाजन भी शामिल हो, तब आप नये शिक्षाशास्त्रीय आधार भी पा जायेंगे; उदाहरण के लिए, गणित के आधार के लिए गणना को ले लीजिये और सभी गणितीय क्रियाओं को केवल गणना के परिवर्तित रूप मान लीजिये – आपके पास शिक्षाशास्त्र के सिद्धांत का नया आधार हो जायेगा; या फिर मान लीजिये कि गणित का आधार राशियों के बीच अनुपातों की संख्या है; या मान लीजिये कि ज्यामिति हर तरह के अंकगणितीय परिकलन का आधार है – तब आपके पास हो सकता है कि भ्रामक, अधूरा, नया शिक्षाशास्त्रीय सिद्धांत होगा, लेकिन

ऐसे सिद्धांत के आधार पर आपको नया वर्गीकरण करने का अधिकार होगा। इस सबके बजाय महान नवप्रवर्तक ग्रूबे और पाउलसोन ने जोड़ने के विभिन्न ज्ञात तरीक़ों पर आधारित पुराने विभाजन को अलग करके इकाइयों की भिन्न-भिन्न संख्या को विभाजन का आधार बनाया। उन्होंने बिल्कुल वही किया, जो कोई नवप्रवर्तक यांत्रिकी में करता, जिसमें वह शक्ति के नियमों के बजाय ब्लॉक, पेटी, बेयरिंग, आदि की शिक्षा देने लगता। ये श्रीमान सिर्फ़ १, २, ३, ४ जैसी संख्याओं को सीखने की बात कहते हैं और भूल जाते हैं कि ये संख्याएं और उनके अनुपात हर बच्चे को स्कूल के बिना भी मालूम हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि इन श्रीमानों का या तो बच्चों से कोई वास्ता नहीं रहा है, या फिर वे अपनी अध्यापकीय योग्यता – बच्चों के जानकारी हासिल करने के सभी तरीक़ों को भांप और देख सकने की योग्यता – इस हद तक खो बैठे हैं कि अंकगणित की पुस्तक या तो अपने ही लिए लिखते हैं, या ऐसे कल्पित बच्चों के लिए, जिन्हें शुरू से ही संख्याओं के प्रभावों से रहित वातावरण में पाला गया है और जिन्हें गिनना वैसे ही सिखाना चाहिए, जैसे किसी सधे हुए घोड़े को सिखाया जाता है। लगता है कि लेखक ने बच्चों में वे सैकड़ों बातें देखने का कष्ट कभी नहीं उठाया है, जो हर सजग अध्यापक को पहली ही नज़र में दिखायी दे जाती हैं, जैसे: १) बच्चों में स्वतंत्र सक्रियता तभी पैदा होती है, जब उन्हें कुछ चक्कर में डालनेवाला सवाल दिया जाता है; २) बच्चे बड़ी अमूर्त संख्याओंवाले अव्यावहारिक सवाल बहुत पसंद करते हैं, उन्हें जैसे कि शुद्ध गणित में काव्य जैसा आनंद आता है; ३) बच्चों को जीवन से लिये हुए सवाल बिल्कुल नहीं भाते (उनके लिए यह सवाल कहीं ज़्यादा अमूर्त है कि कोई व्यापारी १०० गज मख़मल बेचकर कितना मुनाफ़ा कमाता है, बजाय इस सवाल के कि ५० टन गुणा १०० टन कितना होता है); ४) बच्चों में हिसाब करने की क्षमता हिसाब के फल तथा प्रक्रिया को किसी ख़ास ढंग से व्यक्त करने की अपेक्षा कहीं पहले विकसित हो जाती है; ५) अध्यापक की हिसाब के फल तथा प्रक्रिया को साफ़-साफ़ व्यक्त करने की मांग बच्चे के गणितीय विकास में बाधक बनती है; ६) विद्यार्थियों की स्वतंत्र सक्रियता में उनके लिए सबसे अधिक आवश्यक स्वतंत्रता और रुचि होती हैं, जिन्हें अध्यापक आदेश देकर पैदा नहीं

कर सकता, पर जिनकी उसे प्रत्याशा करनी चाहिए और कुशलतापूर्वक इस्तेमाल करना चाहिए ; ७) अधिकांश स्कूलों में विद्यार्थियों को नियमित रूप से बिगाड़े जाने के बावजूद विद्यार्थी वयस्क आदमी, यानी अध्यापक से काम के तथा बुद्धिमत्तापूर्ण सवाल की अपेक्षा करते हैं और ऐसे सवाल उन्हें असमंजस में डाल देते हैं, जैसे : नूह के तीन बेटे थे – शेम, हाम और येपेत। इन तीनों का बाप कौन था? मुझे अभी तक याद है कि बचपन में यह सवाल मुझे कितना परेशान करता था। पाउलसोन की किताब ऐसे सवालों से भरी पड़ी है, और इस सबका कारण यह है कि महान शिक्षाशास्त्री ग्रूबे और पाउलसोन बच्चे को वह चीज़ सिखाना चाहते हैं, जिसे वह बहुत पहले ही सीख चुका है। उनकी शिक्षण विधि वह है, जिसे ईश्वर बहुत पहले ही बना चुका है, यानी तभी, जब उसने मनुष्य नामक बुद्धियुक्त प्राणी को उसके जन्म से ही दिक्, काल और संख्याओं की परिस्थितियों में रखने की सोची थी। गणित का काम आदमी को हिसाब-किताब करना सिखाना नहीं, बल्कि हिसाब-किताब करते समय आदमी के दिमाग़ के काम करने के ढंगों को सिखाना है। कल्पनाएं और एकांगी प्रयोग शिक्षा-शास्त्र का आधार नहीं हो सकते। शिक्षाशास्त्र का आधार सिर्फ़ दर्शन और विज्ञान के शाश्वत नियम ही हो सकते हैं, जो चिंतन और ज्ञान की सर्वोच्च अभिव्यक्तियों में भी और बच्चे की अविकसित आत्मा में भी समान रूप से प्रकट होते हैं...

११. प्रगति और शिक्षा की परिभाषा

(सितंबर, १८६२)

श्री मार्कोव के 'रूस्की वेस्तनिक', १८६२, अंक ५ में प्रकाशित लेख का उत्तर

शिक्षा के बारे में हमारे दृष्टिकोण से अपने मतभेदों को श्री मार्कोव ने यों सूत्रबद्ध किया है : १) हम (श्री मार्कोव – अनु०) मानते हैं कि एक पीढ़ी को दूसरी पीढ़ी की शिक्षा में हस्तक्षेप करने का **अधिकार** है। २) हम मानते हैं कि उच्च वर्गों को सार्वजनिक शिक्षा में दखल देने का **अधिकार** है। ३) हम 'यास्नाया पोल्याना' की **शिक्षा की परिभाषा** से सहमत नहीं हैं। ४) हम सोचते हैं कि स्कूलों को ऐतिहासिक परि-स्थितियों से अलग न रखा जा सकता है, न रखा ही जाना चाहिए। ५) हम सोचते हैं कि मध्ययुगीन स्कूलों के बजाय आधुनिक स्कूल आज की आवश्यकताओं के कहीं अधिक अनुरूप हैं। ६) हम अपनी शिक्षा को हानिकारी नहीं, बल्कि लाभकारी मानते हैं। ७) हम समझते हैं कि शिक्षा की पूर्ण स्वतंत्रता – जिस अर्थ में काउंट तोलस्तोय उसे समझते हैं, उस अर्थ में – हानिकारी और अव्यवहार्य है। ८) हम सोचते हैं कि यास्नाया पोल्याना स्कूल की व्यवस्था **'यास्नाया पोल्याना'** के संपादक के विश्वासों से मेल नहीं खाती है।

('रूस्की वेस्तनिक', १८६२,
अंक ५, पृ० १८६)

इससे पहले कि हम इनमें से हर मुद्दे का जवाब दें, हम अपने दृष्टिकोण के साथ श्री मार्कोव की असहमति के, जिससे शैक्षिक और शिक्षेतर, दोनों ही हल्क़ों में व्यापक सहानुभूति दिखायी गयी है, मूल कारण खोजने का प्रयत्न करेंगे।

15–942

पहला कारण यह है कि हमने अपने दृष्टिकोण को पूरी तरह पेश नहीं किया था। इस कमी को हम पूरा करने की कोशिश करेंगे। दूसरा कारण यह है कि श्री मार्कोव और आम तौर पर अन्य लोग भी हमारी प्रस्थापनाओं को ठीक-ठीक नहीं समझ पाये हैं या एक सीमा तक ही समझ पाये हैं। हम उन्हें और स्पष्ट ढंग से पेश करने की कोशिश करेंगे। संभवतः ये मतभेद शिक्षा की समझ में और इसके फलस्वरूप शिक्षा की परिभाषा में अंतर के कारण भी पैदा होते हैं। श्री मार्कोव कहते हैं: हम 'यास्नाया पोल्याना' की शिक्षा की परिभाषा से सहमत नहीं हैं। मगर श्री मार्कोव हमारी परिभाषा का खंडन नहीं करते, बल्कि अपनी परिभाषा ही देते हैं। मुख्य प्रश्न यह है: शिक्षा की हमारी परिभाषा सही है या श्री मार्कोव की? हमने कहा था: **अपने व्यापकतम अर्थ में, जिसमें पालन भी आ जाता है, शिक्षा हमारे मत में मनुष्य का वह कार्यकलाप है, जिसका आधार समानता की आवश्यकता और शिक्षा के आगे बढ़ने का अटल नियम होते हैं।** श्री मार्कोव ने पाठकों से इन शब्दों पर विशेष ध्यान देने का आग्रह किया था। हम मानते हैं कि अधिकांश पब्लिक के लिए और श्री मार्कोव के लिए इन शब्दों का खुलासा करने की ज़रूरत थी। मगर यह खुलासा करने से पहले हम इस संबंध में चंद शब्द कहना आवश्यक समझते हैं कि श्री मार्कोव और पब्लिक ने इस परिभाषा को क्यों नहीं समझना चाहा और उसपर कोई ध्यान क्यों नहीं दिया।

हेगेल और इस प्रसिद्ध उक्ति के समय से ही कि "जो इतिहाससंगत है, वही विवेकसंगत है," विशेषतः हमारे यहां साहित्यिक और मौखिक बहसों में एक बड़ा ही विचित्र बौद्धिक खेल लोकप्रिय बना हुआ है, जिसका नाम है ऐतिहासिक दृष्टिकोण। मिसाल के लिए, आप कहते हैं कि आदमी को स्वतंत्र रहने और सिर्फ़ उन क़ानूनों के आधार पर दंडित होने का अधिकार है, जिन्हें वह स्वयं न्यायसंगत मानता है, लेकिन ऐतिहासिक दृष्टिकोण उत्तर देता है कि इतिहास एक निश्चित ऐतिहासिक क्षण को तैयार करता है, जो निश्चित ऐतिहासिक क़ानूनों और उनके प्रति लोगों के ऐतिहासिक रवैये को जन्म देता है। आप कहते हैं कि आप ईश्वर में विश्वास करते हैं, लेकिन ऐतिहासिक दृष्टिकोण उत्तर देता है कि इतिहास कुछ निश्चित धार्मिक मतों और उनके बारे में लोगों के निश्चित रवैयों को उत्पन्न करता है। आप कहते हैं कि 'इलियड' एक महान काव्य-रचना है, ऐतिहासिक दृष्टिकोण उत्तर देता है कि 'इलियड' एक निश्चित ऐतिहासिक क्षण में एक जाति-विशेष की ऐतिहासिक चेतना की अभिव्यक्ति है। इस आधार पर ऐतिहासिक दृष्टिकोण आपसे न सिर्फ़ बहस नहीं करता कि मनुष्य के लिए स्वतंत्रता आवश्यक है या नहीं, ईश्वर है या नहीं, अथवा 'इलियड' अच्छी रचना है या बुरी रचना है, वह न सिर्फ़ उस स्वतंत्रता की प्राप्ति के लिए कुछ नहीं करता, जिसे आप चाहते हैं, या आपको ईश्वर के अस्तित्व और 'इलियड' के सौंदर्य का क़ायल बनाने अथवा न बनाने के लिए कुछ नहीं करता, बल्कि आपकी आंतरिक आवश्यकता, सत्य अथवा सौंदर्य के प्रति प्रेम इतिहास में जो स्थान रखते हैं, आपको केवल वह स्थान ही दिखाता है। वह केवल स्वीकार करता है, लेकिन प्रत्यक्ष चेतना के ज़रिये नहीं, बल्कि ऐतिहासिक निगमनों के ज़रिये। आप कहेंगे कि आपको अमुक चीज़ से प्यार है या उसमें आपका विश्वास है, ऐतिहासिक दृष्टिकोण कहेगा कि प्यार कीजिये, विश्वास रखिये, आपका प्यार और विश्वास हमारे ऐतिहासिक दृष्टिकोण में अपने लिए स्थान पा जायेंगे। सदियां बीत जायेंगी और हम वह स्थान खोज लेंगे, जिसे आपने इतिहास में पाया था। लेकिन इतना पहले से जान लें कि जिसे आप प्यार करते हैं, वह अनिवार्यतः सुंदर नहीं है और जिसमें आप विश्वास करते हैं, वह अनिवार्यतः न्यायसंगत नहीं है; फिर भी मन बहला लें, क्योंकि, बच्चे – आपका प्यार और विश्वास – अपने लिए स्थान और उपयोग पा जायेंगे। ज्यों ही आप किसी संकल्पना के लिए "ऐतिहासिक" शब्द इस्तेमाल करते हैं, यह संकल्पना अपना जीवंत, वास्तविक अर्थ खो बैठती है और किसी कृत्रिम रूप से बनाये गये ऐतिहासिक विश्वदृष्टिकोण में एक बनावटी तथा बांझ अर्थ ग्रहण कर लेती है।

श्री मार्कोव कहते हैं: "सामान्य उद्देश्य सारे जीवन का परिणाम है, विभिन्न प्रकार की शक्तियों की क्रिया का अंतिम फल है। उसे सिर्फ़ समाप्ति पर देखा जा सकता है और फ़िलहाल उसकी आवश्यकता नहीं है। यानी कि शिक्षाशास्त्र का भी कोई अंतिम उद्देश्य होना आवश्यक नहीं है और वह अपने सामयिक तथा स्थानीय उद्देश्यों को पाने के लिए ही प्रयत्नरत रह सकता है, जिनका मुख्यतः जीवन के लिए महत्त्व है।" उनके मतानुसार शिक्षाशास्त्र के लिए कोई कसौटी ढूंढना

व्यर्थ है। इतना ही जानना पर्याप्त है कि हम ऐतिहासिक परिस्थितियों में रहते हैं, और सब ठीक है।

श्री मार्कोव ने ऐतिहासिक दृष्टिकोण को भली भांति आत्मसात् कर लिया है। आज के ज़्यादातर चिंतनशील रूसियों की तरह वह भी ऐतिहासिक की संकल्पना को जीवन की हर परिघटना से जोड़ने की कला में माहिर हैं, हर मौक़े के लिए ढेरों, ऐतिहासिक अर्थ में पांडित्यपूर्ण तथा चटपटी बातें बनाना जानते हैं और ऐतिहासिक श्लेष के प्रयोग में भी खूब सिद्धहस्त हैं। 'यास्नाया पोल्याना' के पहले लेख में कहा गया था कि समानता की आवश्यकता और शिक्षा के आगे बढ़ने का नियम शिक्षा का आधार हैं। इसकी पुष्टि में कोई प्रमाण नहीं दिया गया था, पर यह प्रस्थापना परिघटना के कारण को स्पष्ट कर देती थी। उसे नहीं भी माना जा सकता था या प्रमाण की मांग की जा सकती थी, पर सिर्फ़ ऐतिहासिक दृष्टिकोण ही शिक्षा जैसी परिघटना के कारण की खोज की आवश्यकता अनुभव नहीं कर सकता है। श्री मार्कोव कहते हैं: "हम चाहते हैं कि पाठक इन शब्दों पर विशेष ध्यान दे। मुझे वे निरर्थक दलीलें लगती हैं और उनसे उन बातों के अर्थ पर पर्दा ही पड़ता है, जिन्हें अन्यथा सभी समझते हैं। समानता की आवश्यकता अथवा समानता की नैसर्गिक प्रवृत्ति से यहां क्या सरोकार है? विशेष रूप से यह भाग्य-वाद, यह गति का अज्ञात नियम यहां कहां से आया, जो एक चीज़ को तो वर्जित ठहराता है और दूसरी को अवश्यकरणीय बनाता है? किसने उसे स्वीकारा या सिद्ध किया है? अगर काउंट तोलस्तोय की भांति युवा पीढ़ी पर बड़ी पीढ़ी के शैक्षिक प्रभाव को न माना जाये, तो यह विलक्षण नियम और किस चीज़ में व्यक्त होता है? मां बच्चे को प्यार करती है, उसकी ज़रूरतें पूरी करना चाहती है और सचेतन रूप से, न कि किसी रहस्यमय आवश्यकता के कारण, अपने को उसकी भ्रूण बुद्धि के अनुरूप बनाने की ज़रूरत महसूस करती है और उससे सरलतम भाषा में बोलती है। वह न सिर्फ़ अपने बच्चे के बराबर बनने की कोशिश नहीं करती है, जो अत्यधिक अस्वाभाविक भी होता, बल्कि, इसके विपरीत, जानबूझकर उसे वह सब ज्ञान देने का प्रयत्न करती है, जो ख़ुद उसने अर्जित किया है। बौद्धिक उपलब्धियों का एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को स्वाभाविक अंतरण ही शिक्षा का आगे बढ़ना है, जिसके लिए किन्हीं नये नियमों की आवश्यकता नहीं है।

"साझी राशि में हर युग अपना योगदान करता है और जैसे-जैसे समय गुज़रता है, वैसे-वैसे यह राशि बढ़ती जाती है और उसके साथ हम भी ऊपर उठते जाते हैं। यह घिसी-पिटी हो जाने की हद तक सबको मालूम बात है और मैं नहीं समझता कि ऐसे तार्किक तथा ऐतिहासिक दृष्टि से स्वतःस्पष्ट सत्य को झकझोरने की कोशिशों का कोई औचित्य है।"

यह ऐतिहासिक दृष्टिकोण का एक सर्वोत्तम नमूना है। आप जीवन की एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण परिघटना का स्पष्टीकरण ढूंढते हैं, आप सोचते हैं कि आपने वह सामान्य नियम पा लिया है, जो इस परिघटना का आधार है, आप सोचते हैं कि आपने मानवजाति का आदर्श और उसके कार्यकलाप की कसौटी पा ली है, मगर आपको बताया जाता है कि एक ऐसी राशि है, जो हर युग के साथ बढ़ती जा रही है और यह घिसी-पिटी हो जाने की हद तक सबको मालूम बात है। क्या यह अच्छा है कि वह बढ़ रही है? और क्यों बढ़ रही है? आपके इन प्रश्नों का उत्तर नहीं दिया जाता है और, उल्टे, हैरानी ही प्रकट की जाती है कि आप ऐसे प्रश्नों का हल खोजने में दिमाग़ खपा रहे हैं।

एक अन्य स्थल पर श्री मार्कोव हमारे शब्दों का पदान्वय करते हुए कहते हैं: "हर पीढ़ी नयी पीढ़ी के बढ़ने में बाधा डालती है; यह प्रति-रोध उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है और स्थिति बदतर होती जाती है। अजीब प्रगति है यह! अगर इतिहास पर भरोसा करने के बजाय हमारे लिए यास्नाया पोल्याना के सिद्धांत पर विश्वास करना आवश्यक होता, तो शायद मानना पड़ता कि हज़ारों वर्षों के प्रतिरोध के कारण दुनिया उत्तरोत्तर कमज़ोर होती गयी है और उसका अंत अब दूर नहीं है।"

"प्रगति अच्छी है!" नहीं, बहुत बुरी है, और मैं सिर्फ़ इसी की बात कर रहा था। मैं प्रगति में अंध आस्था नहीं रखता, किंतु आस्था के अलावा कोई और चीज़ है भी तो नहीं कि जो प्रगति की आवश्यकता को सिद्ध करती हो। "दुनिया क्या उत्तरोत्तर कमज़ोर होती गयी है?" मैं यही तो सिद्ध करने की कोशिश कर रहा था – सिर्फ़ इस अंतर के साथ कि कमज़ोर सारी मानवजाति नहीं होती, बल्कि उसका केवल वह हिस्सा ही होता है, जिसे वह शिक्षा दी जाती है, जिसकी श्री मार्कोव हिमायत कर रहे हैं।

लेकिन श्री मार्कोव का ऐतिहासिक दृष्टिकोण अपनी पूर्ण शान के

साथ निम्न उद्धरण में प्रकट होता है।

"'**यास्नाया पोल्याना**' को यह बात परेशान करती है कि अलग-अलग ज़मानों में लोग अलग-अलग ढंग से और अलग-अलग बातें सिखाते आये हैं। स्कालेस्टिक एक चीज़ सिखाते थे, लूथर दूसरी चीज़ और रूसो तीसरी चीज़। पेस्तालोच्ची भी अपनी ही बात सिखाते हैं। 'यास्नाया पोल्याना' इसे शिक्षाशास्त्र की कोई कसौटी न बना पाने का प्रमाण समझती है और इस आधार पर शिक्षाशास्त्र को ही नकार डालती है। मगर मुझे लगता है कि उसने उपरोक्त मिसालें देकर खुद ही इस आवश्यक कसौटी को इंगित कर दिया है। कसौटी यह है कि समय के तक़ाज़ों के अनुसार सिखाया जाये। वह बड़ी सरल है और इतिहास तथा तर्क से पूरी तरह मेल खाती है। लूथर इसीलिए एक पूरी सदी का शिक्षक बन सका कि वह स्वयं अपने युग की उपज था, उसके ढंग से सोचता था और उसकी रुचि के अनुसार काम करता था। अन्यथा लूथर का जो अपरिमित प्रभाव पड़ा था, वह न पड़ा होता या यह एक अतिप्राकृतिक परिघटना हुई होती। अगर लूथर अपने समकालीनों जैसा न होता, तो वह एक समझ में न आनेवाली अनावश्यक परिघटना जैसे, एक ऐसे बाहरी आदमी जैसे कोई भी निशान छोड़े बिना खो जाता, जो ऐसे लोगों के बीच पहुंचा है, जिनकी वह भाषा भी नहीं समझता। यही बात रूसो और दूसरों के बारे में भी कही जा सकती है। रूसो ने अपने सिद्धांतों में आकारवाद तथा कृत्रिमता के प्रति अपने युग की अदम्य नफ़रत को, साधारण, हार्दिक संबंधों की उसकी पिपासा को सूत्रबद्ध किया था। यह वर्साई राजप्रासाद के नमूने के जीवन की अनिवार्य प्रतिक्रिया थी, और अगर अकेले रूसो ने ही इसे अनुभव किया होता, तो न स्वच्छंदतावाद का युग आता, न मानवजाति का कायाकल्प करने की सार्वभौम योजनाएं, अधिकारों का घोषणापत्र, आदि ही अस्तित्व में आये होते। लूथर और रूसो को इस बात का उलाहना देने का कि उन्होंने ऐतिहासिक बंधनों का सक्रिय विरोध करते हुए लोगों पर अपने सिद्धांत लादे, अर्थ सारे ही युग को उलाहना देना है कि उसके रुझान अवैध, अनुचित हैं। सिद्धांत पूरे ही युग पर नहीं लादे जा सकते।"

"लेकिन इस कारण उसके सिद्धांत से पिंड छुड़ाना शायद ही संभव हो। मैं नहीं समझ पाता कि काउंट तोलस्तोय शिक्षाशास्त्र से

क्या अपेक्षा करते हैं। वह बार-बार अंतिम उद्देश्य और शाश्वत कसौटी की ही बातें करते हैं। अगर ये नहीं हैं, तो, वह कहते हैं, और कोई लक्ष्य और कसौटी नहीं चाहिए। क्यों नहीं वह किसी एक व्यक्ति के जीवन को, अपने ही जीवन को याद करते? आखिर वह भी तो अपने अस्तित्व के अंतिम उद्देश्य को, अपने जीवन के सभी दौरों के कार्यकलाप के लिए सामान्य दार्शनिक कसौटी को नहीं जानते। इसके बावजूद वह रहते हैं और काम करते हैं, और इसकी एकमात्र वजह यह है कि बचपन में उनका एक उद्देश्य था, एक कसौटी थी, जवानी के दिनों में दूसरे उद्देश्य, दूसरी कसौटी को अपनाया गया, अब उससे भिन्न उद्देश्य तथा कसौटी हैं और आगे चलकर ये भी बदल जायेंगे। वह यक़ीनन शरारती छोकरे भी थे – उसकी मालूम है कसौटी कैसी होती है – और धर्मभीरु किशोर भी, वह उदारवादी कवि भी थे और व्यावहारिक, दुनियादार आदमी भी। ऐसी हर प्राकृतिक मनःस्थिति ने उन्हें दुनिया को भिन्न दृष्टि से देखने को, किसी और चीज़ की आशा करने और किसी और चीज़ से निदेशित होने को विवश किया था। मनुष्यजाति के विकास की सारगर्भिता और उसकी दार्शनिक और सांसारिक दक्षता दृष्टिकोणों के इस सतत परिवर्तन में ही निहित हैं। काउंट तोलस्तोय जिसे मानवजाति तथा शिक्षाशास्त्र के लिए दोष और उनकी विसंगति मानते हैं, मैं उसे आवश्यक, सहज और यहां तक कि गुण भी मानता हूं।"

लगता है कि कितनी अधिक और कितनी बुद्धिमत्तापूर्ण बातें कही गयी हैं, कितनी ज़्यादा जानकारियां हैं और सब कुछ के बारे में कितना शांत ऐतिहासिक नज़रिया है! जैसे कि आप खुद किसी कल्पित ऊंचाई पर खड़े हैं और रूसो, शिलर और लूथर कहीं नीचे काम कर रहे हैं, फ़्रांसीसी क्रांतियां कहीं नीचे घट रही हैं; आप अपनी ऐतिहासिक ऊंचाई से उनके ऐतिहासिक कामों का अनुमोदन कर रहे हैं अथवा नहीं कर रहे हैं और उन्हें ऐतिहासिक चौखटों में फ़िट करते जा रहे हैं। इतना ही नहीं, व्यक्तिरूपी हर मनुष्य भी वहीं कहीं रेंग रहा है। उसका संचालन इतिहास के अटल नियम कर रहे हैं, जिन्हें हम जानते हैं। लेकिन अंतिम उद्देश्य इनमें से किसी भी व्यक्ति का नहीं है तथा न हो ही सकता है। जो है, वह केवल ऐतिहासिक दृष्टिकोण है! लेकिन हम उस बारे में क़तई नहीं पूछ रहे हैं, हम उस सामान्य

बौद्धिक नियम को जानने का प्रयत्न कर रहे हैं, जिससे शिक्षा के क्षेत्र में मनुष्य का कार्यकलाप निदेशित हुआ है और इसलिए जो शिक्षा के क्षेत्र में मनुष्य के कार्यकलाप के सही होने की कसौटी बन सकता था। ऐतिहासिक दृष्टिकोण हमारी सभी कोशिशों का सिर्फ़ यही जवाब देता है कि रूसो और लूथर अपने युग की उपज थे। हम उस चिरंतन सिद्धांत को ढूंढ रहे हैं, जो उनमें व्यक्त हुआ था, लेकिन हमें उस रूप के बारे में बताया जाता है, जिसमें वह व्यक्त हुआ था, और फिर उन्हें वर्गों, टुकड़ियों, आदि में बांट दिया जाता है। हमें कहा जाता है कि **कसौटी केवल यह है कि समय के तक़ाज़ों के अनुसार सिखाया जाये**, कि यह बड़ा सरल है। ईसाइयत अथवा इस्लाम के धर्मसिद्धांतों के अनुरूप सिखाने की बात तो मैं समझ सकता हूं, लेकिन समय के तक़ाज़ों के अनुसार सिखाने की बात किसी भी तरह मेरे दिमाग़ में नहीं घुसती। कौन से तक़ाज़े? कौन उन्हें तय करेगा? कहां वे व्यक्त होंगे? जिन ऐतिहासिक परिस्थितियों ने रूसो को अपनी बातें उस रूप में कहने को विवश किया था, जिस रूप में उसने उन्हें कहा, उनके बारे में ऊल-जलूल बातें करके मन बहलाया जा सकता है, लेकिन उन ऐतिहासिक परिस्थितियों को ढूंढ पाना नामुमकिन है, जिनमें भावी रूसो अपनी बातें कहेगा...

शिक्षा के क्षेत्र में इस कसौटी को व्यक्त तथा निर्धारित करना ही मेरा काम था। पर ऐतिहासिक दृष्टिकोण मुझसे असहमति दिखाते हुए उत्तर देता है कि रूसो और लूथर अपनी जगह पर थे (जैसे कि वे किसी और की जगह पर भी हो सकते थे!), कि स्कूल तरह-तरह के होते हैं (जैसे कि हम यह नहीं जानते!) और उस रहस्यमय ऐतिहासिक राशि में हर स्कूल अपना अंशदान करता है। काम के अभाव में ऐतिहासिक दृष्टिकोण बहुत सी दिलचस्प चर्चाओं को जन्म दे सकता है और वह चीज़ समझा सकता है, जो सबको मालूम है; लेकिन जिस शब्द के आधार पर वास्तविकता का निर्माण हो सकता है, वैसा शब्द वह नहीं कह सकता। अगर वह बोलेगा भी, तो कुछ इस ढंग की बात कहेगा, जैसे: समय के तक़ाज़ों के अनुसार सिखाना चाहिए। क्या हमें कोई बता सकता है: सिज़रान, जेनेवा या सीर-दरिया प्रदेश में ये तक़ाज़े क्या हैं? इन तक़ाज़ों की अभिव्यक्ति कहां मिल सकती है? और फिर जिस **समय के तक़ाज़ों** की आप बात कर रहे हैं, वह

समय कौन सा है? अगर बात ऐतिहासिक समय की चल पड़ी है, तो वर्तमान में सिर्फ़ ऐतिहासिक क्षण ही तो है। कुछ लोग सन् २५ की मांगों को वर्तमान की मांगें कहते हैं, दूसरे सिर्फ़ अगस्त, १८६२ की मांगें जानते हैं और तीसरे मध्ययुगीन मांगों को ही वास्तविक मांगें समझते हैं। मैं दोहराता हूं कि "**समय के तक़ाज़ों के अनुसार सिखाना चाहिए**" – हमारे लिए बिल्कुल अर्थहीन ये शब्द अगर जानबूझकर लिखे गये हैं, तो हम पूछते हैं: ये तक़ाज़े हैं क्या? हम ईमानदारी से, सच्चे दिल से कह रहे हैं कि हम इन तक़ाज़ों को जानना चाहते हैं, क्योंकि हम उनसे परिचित नहीं हैं।

हम कैसियोडोर के Trivium [कलात्रयी] तथा Quadrivium [कलाचतुष्टय], टामस अक्वीनास, शेक्सपीयर, हैमलेट, आदि के हवाले देकर और इस तरह की अन्य रोचक बातों का ज़िक्र करके श्री मार्कोव के ऐतिहासिक दृष्टिकोण के और भी बहुत सारे नमूने पेश कर सकते थे। मगर ये सभी जगहें भी हमारे सवालों के जवाब नहीं देती हैं और इसलिए हम अपने को दार्शनिक समस्याओं के संदर्भ में ऐतिहासिक दृष्टिकोण की निराधारता के कारणों पर प्रकाश डालने तक सीमित रखेंगे।

यह कारण निम्न है: ऐतिहासिक दृष्टिकोण रखनेवाले लोगों ने सोचा कि अमूर्त चिंतन, जिसे वे घृणा से तत्त्वमीमांसा का नाम देना पसंद करते हैं, निष्फल है, क्योंकि वह ऐतिहासिक परिस्थितियों का, सीधे-सरल शब्दों में कहें, तो जिन मतों तथा विश्वासों का बोलबाला है, उनका विरोधी है, कि यह चिंतन बेकार भी है, क्योंकि यह सामान्य नियम ज्ञात हो चुका है कि मनुष्य समाज में व्याप्त मतों तथा विश्वासों के विरोधी चिंतन की सहभागिता के बिना भी आगे बढ़ता जाता है। मानवजाति के इस तथाकथित नियम को **प्रगति** कहा जाता है।

प्रगति की यह संकल्पना और उसमें विश्वास क्या हैं?

प्रगति का मुख्य भाव और अभिव्यक्ति यह है: "**मानवजाति** निरंतर बदलती रहती है, विगत पर पुनर्विचार करती है और उसमें से शुरू किये हुए कार्यों तथा यादों को शेष रखती है।" लाक्षणिक अर्थ में मानव संबंधों के इस बदलाव को हम गति कहते हैं और विगत के बदलाव को **पीछे** तथा भावी बदलाव को **आगे** कहा जाता है। सामान्यतः लाक्षणिक अर्थ में हम कहते हैं कि मानवजाति आगे बढ़ती

है। अस्पष्ट ढंग से पेश की हुई होने के बावजूद लाक्षणिक अर्थ में यह प्रस्थापना निर्विवाद है। मगर जो लोग प्रगति में और ऐतिहासिक विकास में यक़ीन करते हैं, वे इस निर्विवाद प्रस्थापना की आड़ में यह अप्रमाणित प्रस्थापना भी पेश करते हैं कि मानवजाति पहले ज़मानों में कम खुशहाल थी और जितना ही हम पीछे जायेंगे, यह खुशहाली उतनी ही कम होगी तथा जितना ही हम आगे जायेंगे, खुशहाली उतनी ही ज्यादा होगी। इससे यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि फलप्रद कार्यकलाप के लिए ऐतिहासिक परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए काम करना आवश्यक है, और प्रगति के नियम के अनुसार हर ऐतिहासिक क्रिया सार्विक खुशहाली की वृद्धि में सहायक बनेगी, यानी सब ठीक होगा, और यह कि इतिहास की गति को रोकने या यहां तक कि उसके विरुद्ध जाने की सभी कोशिशें व्यर्थ सिद्ध होंगी। यह निष्कर्ष इसलिए भ्रामक है कि दूसरी प्रस्थापना – प्रगति के पथ पर मानवजाति के निरंतर बेहतर बनते जाने की प्रस्थापना – को कोई भी चीज़ सही सिद्ध नहीं करती और इसलिए वह ग़लत है।*

प्रगति में यक़ीन करनेवाला इतिहासकार कहता है कि सारी मानवजाति में अति प्राचीन काल से ही प्रगति की प्रक्रिया चल रही है, और फिर वह, उदाहरण के लिए, १६८५ के इंगलैंड की आज के इंगलैंड से तुलना करके अपनी इस प्रस्थापना की पुष्टि करता है। लेकिन आज के रूस, फ़्रांस और इटली की प्राचीन रोम, यूनान, कार्थेज, आदि से तुलना करके अगर यह सिद्ध करना संभव भी होता कि नये राष्ट्रों की खुशहाली का स्तर प्राचीन राष्ट्रों की खुशहाली की अपेक्षा ऊंचा है, तो भी मेरे लिए यह समझ पाना कठिन ही होता कि मानवजाति के एक छोटे से भाग – यूरोप – के अतीत और वर्तमान की तुलना करके सारी ही मानवजाति के लिए सामान्य नियम क्यों निकाला जाता है। वे कहते हैं कि प्रगति सारी मानवजाति के लिए सामान्य नियम है, मगर एशिया, अफ़्रीका, अमरीका और आस्ट्रेलिया, यानी एक अरब लोग इसकी परिधि में नहीं आते। हमने ३ हज़ार की आबादीवाली होहेनज़ौलर्न-सिगमारिंगेन

* लेव तोलस्तोय प्रभुत्वसंपन्न वर्गों का हितसाधन करनेवाली प्रगति के विरोधी थे। दूसरी ओर, वह ऐसी प्रगति का स्वागत ही करते थे, जिससे जनसामान्य खुशहाल बनता।

की काउंटी में प्रगति के नियम को काम करता पाया है। मगर हम करोड़ों की आबादीवाले चीन को भी जानते हैं, जो प्रगति के हमारे सारे सिद्धांत का खंडन करता है, और इसके बावजूद हम एक क्षण के लिए भी संदेह नहीं करते कि प्रगति सारी मानवजाति का सामान्य नियम है, कि हम प्रगति में विश्वास करनेवाले सही हैं तथा विश्वास न करनेवाले ग़लत हैं और इसलिए तोपें और बंदूकें लेकर हम चीनवालों को प्रगति का विचार सिखाने जा रहे हैं। लेकिन सामान्य बुद्धि मुझे कहती है कि अगर मानवजाति का अधिकांश भाग, सारा तथाकथित पूरब प्रगति के नियम की पुष्टि करने के बजाय, उल्टे, उसका खंडन ही करता है, तो यह नियम सारी मानवजाति के लिए नहीं है और जो है, वह मानवजाति के एक निश्चित भाग का उसमें विश्वास ही है। प्रगति में अंधविश्वास से मुक्त अन्य लोगों की भांति मैं भी सिर्फ़ यही देखता हूं कि मानवजाति जीवित है, कि विगत की यादें बढ़ती भी हैं और लोप भी होती हैं, कि विगत में किये गये काम वर्तमान में नये कामों के लिए कभी आधार बनते हैं, तो कभी बाधा, कि लोगों की खुशहाली कहीं किसी वर्ग में तथा किसी ख़ास अर्थ में बढ़ती है, तो कहीं घटती है, कि मैं कितना भी क्यों न चाहूं, मानवजाति के जीवन में कोई सामान्य नियम नहीं खोज सकता हूं, और इतिहास को प्रगति का पर्याय समझना उतना ही आसान है, जितना कि पश्च-गति का या यहां तक कि किसी ऐतिहासिक स्वैरकल्पना का भी... सामान्य शाश्वत नियम हर मनुष्य की आत्मा में लिखा हुआ है। प्रगति या परिष्कार का नियम भी हर मनुष्य की आत्मा में अंकित है, और सिर्फ़ भ्रमवश ही उसे इतिहास के क्षेत्र में अंतरित किया जाता है। जब तक वह व्यक्ति तक सीमित है, तब तक वह फलप्रद और हर किसी की पहुंच के भीतर सिद्ध होता है, लेकिन इतिहास के क्षेत्र में अंतरित होकर वह बेकार बकवास बन जाता है, जिसका अंत हर बेतुकेपन और भाग्यवाद को उचित ठहराने में होता है। सामान्यतः प्रगति, सारी मानवजाति के स्तर पर प्रगति एक अपुष्ट तथ्य है तथा सभी पूर्वी जातियों के लिए उसका कोई अस्तित्व नहीं है। अतः प्रगति सारी मानवजाति का नियम है, यह कहना वैसे ही निराधार है, जैसे यह कि काले बालवालों के अलावा और सभी लोग सुनहले बालोंवाले होते हैं।

लेकिन हो सकता है कि हमने अभी भी प्रगति को वैसे परिभाषित नहीं किया है, जैसे बहुत सारे लोग उसे समझते हैं। हम उसकी सबसे व्यापक और तर्कसंगत परिभाषा देने की कोशिश कर रहे हैं। हो सकता है कि प्रगति ऐसा नियम है, जिसका उद्घाटन सिर्फ़ यूरोपीय राष्ट्रों ने किया है, लेकिन जो इतना तर्कसंगत है कि उसे सारी ही मानवजाति पर लागू किया जाना चाहिए। इस अर्थ में प्रगति ऐसा रास्ता है, जिसपर मानवजाति का एक ही भाग चलता है और जिसे मानवजाति का यह भाग अपनी खुशहाली का मार्ग मानता है। बोकल यूरोपीय राष्ट्रों की सभ्यता की प्रगति को इसी अर्थ में लेते हैं और प्रगति की अपनी सामान्य संकल्पना में सामाजिक, आर्थिक तथा वैज्ञानिक प्रगति, कलाओं तथा शिल्पों की प्रगति और विशेषत: बारूद के आविष्कार, मुद्रण तथा संचार साधनों से संबंधित प्रगति को शामिल करते हैं। प्रगति की यह परिभाषा स्पष्ट और बोधगम्य है। मगर तब अनायास ही सवाल पैदा होते हैं: पहला – किसने तय किया कि यह प्रगति खुशहाली की ओर ले जाती है? इसमें विश्वास करने के लिए मैं यह ज़रूरी समझता हूं कि विशिष्ट वर्ग के विशिष्ट लोग – इतिहासकार, विचारक, पत्रकार – नहीं, बल्कि प्रगति की क्रिया का लक्ष्य बनने-वाला सारा जनसामान्य माने कि प्रगति उसे खुशहाली की ओर ले जाती है। हमें तो हमेशा इससे बिल्कुल उल्टा ही दिखायी देता है। दूसरा प्रश्न यह है: खुशहाली किसे मानें – संचार साधनों के सुधार, मुद्रण के प्रसार, सड़कों पर गैस के प्रकाश की व्यवस्था, मुहताजखानों के निर्माण, आदि को या प्रकृति की मूल संपदा वनों, तथा पशु-पक्षियों और मछलियों, अच्छे शारीरिक विकास, निर्दोष आचार-व्यवहार, आदि को? मानवजाति अपने अस्तित्व के एक साथ इतने सारे पहलुओं में जीती है कि किसी युग-विशेष में उसकी खुशहाली की मात्रा को आंक पाना – और वह भी किसी एक आदमी द्वारा – सर्वथा असंभव है। एक आदमी केवल कला की प्रगति देखता है, दूसरा सिर्फ़ नैतिक प्रगति, तीसरा सिर्फ़ भौतिक सुविधाओं की प्रगति, चौथा सिर्फ़ शारी-रिक शक्ति की प्रगति, पांचवां सिर्फ़ सामाजिक व्यवस्था की प्रगति, छठा सिर्फ़ विज्ञानों की प्रगति, सातवां सिर्फ़ सौहार्द, समानता तथा स्वतंत्रता की प्रगति और आठवां सिर्फ़ गैस की प्रकाश-व्यवस्था तथा मशीनी सिलाई की प्रगति पर ग़ौर करता है। अगर कोई आदमी जीवन

के सभी पहलुओं को निष्पक्ष होकर देखेगा, तो वह हमेशा पायेगा कि एक पहलू की प्रगति का मूल्य हमेशा मानव जीवन के किसी दूसरे पहलू की अधोगति के रूप में चुकाया जाता है। समानता और स्वतंत्रता की प्रगति में विश्वास करनेवाले सबसे ईमानदार राजनीतिज्ञ क्या रोज़मर्रा इस निष्कर्ष पर नहीं पहुंचते कि चीन और भारत में युद्ध चलानेवाले नये इंगलैंड, दो-दो बोनापार्टोंवाले नये फ़्रांस और यहां तक कि दासता के अधिकार के लिए भीषण युद्ध में व्यस्त खुद नये अमरीका की तुलना में प्राचीन यूनान और रोम में ज्यादा स्वतंत्रता और समानता थी? कला की प्रगति में विश्वास करनेवाले सबसे ईमानदार लोगों को क्या यक़ीन नहीं हो गया है कि आज कोई फ़ीडियस, रफ़ाएल और होमर नहीं हैं? सबसे चतुर आर्थिक प्रगतिवादी क्या इस नतीजे पर नहीं पहुंचे हैं कि मज़दूर लोगों के बच्चे पैदा करने पर पाबंदी लगाना आवश्यक है, ताकि विद्यमान आबादी को भरपेट खाना मुहैया किया जा सके?

इस तरह उपरोक्त दो प्रश्नों का उत्तर देते हुए मैं कहता हूं कि पहले, प्रगति को खुशहाली की ओर ले जानेवाला केवल तभी माना जा सकता है, जब प्रगति की क्रिया का लक्ष्य बननेवाली सारी ही जनता स्वीकार करेगी कि यह क्रिया अच्छी तथा उपयोगी है, हालांकि वर्तमान काल में हम ९/१० आबादी, यानी तथाकथित साधारण, मज़दूर जनता का रवैया हमेशा इसके विपरीत ही पाते हैं; और, दूसरे, जब यह सिद्ध कर दिया जायेगा कि प्रगति मानव जीवन के सभी पहलुओं में सुधार लाती है, अथवा एक साथ लिये जाने पर उसके प्रभाव के परिणाम अधिकांशत: बुरे तथा हानिकारक होने के बजाय शुभ तथा श्रेयस्कर होते हैं। जनता, यानी व्यापक जनसामान्य, यानी कुल आबादी का ९/१० भाग सदा प्रगति को द्वेषपूर्ण दृष्टि से देखता है और सदा उसके लाभ को नकारता ही नहीं है, बल्कि निश्चित रूप से और जानबूझकर उसे अपने लिए हानिकारक भी मानता है। मैकाले (वही मैकाले, जिसे श्री मार्कोव आंग्ल शिक्षा पद्धति की शक्ति को सिद्ध करने के लिए प्रमाण के रूप में उद्धृत करते हैं) जैसे इतिहासकार मानते हैं कि उन्होंने मानव जीवन के सभी पहलुओं को नाप-तौल लिया है और इस नाप-तौल के आधार पर तय किया है कि प्रगति से बुरे के बजाय भला ज्यादा हुआ है। इन इतिहासकारों के निष्कर्षों से हम सहमत नहीं हो सकते, क्योंकि इन निष्कर्षों का कोई आधार नहीं है।

हर ईमानदार और निष्पक्ष निर्णायक कहेगा कि लेखक के सर्वथा भिन्न उद्देश्य के बावजूद ये निष्कर्ष यही सिद्ध करते हैं कि प्रगति से जनता को, यानी अधिकांश आबादी को – और राज्य को तो और भी – लाभ के बजाय हानि ही ज़्यादा हुई है। निष्कर्ष बेधड़क और दृढ़निश्चय के साथ निकाला गया है, लेकिन उसका आधार क्या है, यह प्रगति में विश्वास से अंधे न हुए आदमी की समझ में क़तई नहीं आता। महत्त्वपूर्ण तथ्य सिर्फ़ निम्न हैं: १) आबादी बढ़ गयी है, यानी इतनी बढ़ गयी है कि माल्थस का सिद्धांत आवश्यक हो गया है। २) पहले सेनाएं नहीं थीं और अब विशाल सेनाएं हैं। यही बात फ़ौजी बेड़े पर भी लागू होती है। ३) छोटे काश्तकारों की संख्या घट गयी है। ४) नगरों ने आबादी के ज़्यादातर हिस्से को अपनी ओर खींच लिया है। ५) वन बहुत कम रह गये हैं। ६) पगार डेढ़गुनी हो गयी है और दाम भी सभी चीज़ों के बढ़े हैं, जबकि दूसरी ओर, सुविधाओं में कमी आयी है। ७) ग़रीबों पर लगे करों में दसगुना वृद्धि हुई है। अख़बार ज़्यादा निकलने लगे हैं, सड़कों पर प्रकाश-व्यवस्था सुधरी है, बच्चों और पत्नियों को कम पीटा जाता है और अंग्रेज़ औरतें लिखने में हिज्जों की ग़लतियां नहीं करती हैं। मैं पाठकों से इन साधारण तथ्यों को याद रखने का आग्रह करूंगा कि एक बार बढ़ायी हुई सेनाएं फिर कभी घटायी नहीं जा सकतीं; कि एक बार नष्ट किये हुए सदियों से खड़े वन फिर कभी बहाल नहीं हो सकते; कि एक बार सुविधाओं की बहुतायत से भ्रष्ट हुई आबादी फिर कभी आदिम सादगी और संयम की ओर नहीं लौट सकती। मैं प्रगति में विश्वास न रखनेवाले या कुछ समय के लिए इस विश्वास को छोड़ चुके पाठक से वह सब पढ़ने का आग्रह करूंगा, जो प्रगति की उपयोगिता सिद्ध करने के लिए कहा गया है, और फिर अपने से यह पूछने – बेशक प्रगति में विश्वास से पूरी ही तरह नाता तोड़कर पूछने – को कहूंगा: क्या इसका कोई प्रमाण है कि प्रगति लोगों का बुरा करने के बजाय भला ज़्यादा करती है? पूर्वाग्रहरहित आदमी के सामने यह सिद्ध नहीं किया जा सकता है। जहां तक पूर्वाग्रहग्रस्त आदमी का सवाल है, तो उसके लिए प्रगति के विरोधाभास समेत किसी भी विरोधाभास को ऐतिहासिक तथ्यों का जामा पहनाया जा सकता है।

कितनी विचित्र और गूढ़ बात है! मानवजाति के आगे बढ़ने का

कोई सामान्य नियम नहीं है जैसा कि यह गतिहीन पूरब के जनगण सिद्ध करते हैं। यह प्रमाणित करना भी असंभव है कि यूरोपीय जनगण निरंतर ख़ुशहाली की ओर बढ़ते जा रहे हैं। किसी ने अभी तक यह सिद्ध नहीं किया है। और, अंत में, जो सबसे लाक्षणिक है – मानो प्रगति के मार्ग पर अग्रसर उसी यूरोपीय जनगण का ९/१० भाग प्रगति से सचेतन रूप से घृणा करता है और सब उपायों से उसका मुक़ाबला करने की कोशिश करता है जबकि हम सभ्यता की प्रगति को निर्विवाद भलाई मानते हैं। यह बात कितनी ही गूढ़ क्यों न प्रतीत हो, वह साफ़ हो ही जायेगी अगर हम पूर्वाग्रहरहित होकर उसपर ग़ौर करें।

समाज का सिर्फ़ एक छोटा सा भाग ही प्रगति में विश्वास करता है और उसकी उपयोगिता सिद्ध करते हुए उसका प्रचार करता है। समाज का दूसरा, बड़ा, भाग उसकी उपयोगिता में विश्वास न करते हुए उसका विरोध करता है। इससे मैं यह निष्कर्ष निकालता हूं कि समाज के छोटे भाग के लिए प्रगति श्रेयस्कर है और बड़े भाग के लिए अश्रेयस्कर। मेरे ऐसा निष्कर्ष निकालने का कारण यह है कि सभी लोग चेतन या अचेतन रूप से अपने भले के लिए ही लालायित रहते हैं और जो अपने लिए बुरा है, उससे दूर भागते हैं। यह निष्कर्ष निकालने के बाद मैं तथ्यों के उजाले में उसकी जांच करता हूं। प्रगति में विश्वास करनेवाला वह छोटा भाग कौन है? यह तथाकथित शिक्षित समाज, या, बोकल के शब्दों में, कोई काम न करनेवाले वर्ग हैं। और वह बड़ा भाग कौन है, जो प्रगति में विश्वास नहीं करता? यह तथाकथित जनता, या काम करनेवाले वर्ग हैं। समाज और जनता के हित सदा परस्परविरोधी होते हैं। एक के लिए जो जितना हितकर होगा, दूसरे के लिए वह उतना ही हानिकर होगा। प्रगति के संबंध में मेरी प्रस्थापना पुष्ट हो रही है और इससे मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचता हूं कि प्रगति समाज के लिए उतनी ही ज़्यादा लाभकर है, जितनी ज़्यादा वह जनता के लिए अलाभकर है...

प्रगति में विश्वास करनेवाले सच्चे मन से विश्वास इसलिए करते हैं कि उनका विश्वास उनके लिए लाभदायी है, और इसीलिए वे अदम्य और प्रचंड उत्साह से अपने विश्वास का प्रचार करते हैं। इस सिलसिले में मुझे अनायास ही वह चीनी युद्ध याद हो आता है, जिसमें तीन महाशक्तियों ने पूर्ण निष्ठा और भोलेपन के साथ चीन को बारूद और

गोलों की मदद से प्रगति के मार्ग पर अग्रसर करना चाहा था।

लेकिन मैं कहीं ग़लत तो नहीं हूं? आइये, देखें कि प्रगति से समाज के लिए क्या लाभ या जनता के लिए क्या हानि हो सकती है। यहां चूंकि प्रश्न तथ्यों का है, तो मैं आवश्यक समझता हूं कि मैं यूरोप को अलग छोड़कर रूस की बात करूं, जिसे मैं अच्छी तरह जानता हूं। हमारे यहां कौन प्रगति में विश्वास करनेवाला है और कौन नहीं करनेवाला है? विश्वास करनेवाले हैं: सरकार, शिक्षित अभिजात वर्ग, शिक्षित व्यापारी वर्ग तथा अधिकारी वर्ग, यानी वे वर्ग, जो बोकल के अनुसार काम नहीं करते हैं। प्रगति में विश्वास न करनेवाले और उसके शत्रु हैं: कारीगर, फ़ैक्टरी मज़दूर, काश्तकार किसान, शिकारी, मछुए, उद्यमी, वे लोग, जो प्रत्यक्ष शारीरिक श्रम करते हैं, यानी काम करनेवाले वर्ग। सबसे ज़्यादा प्रगतिवादी टैक्स-फ़ार्मर, लेखक, अभिजात, विश्वविद्यालयों के विद्यार्थी, नौकरीपेशा वर्ग और फ़ैक्टरियों के बेरोज़गार लोग होते हैं और सबसे कम प्रगतिवादी काश्तकार किसान, छोटा बाबू, और रोज़गारशुदा फ़ैक्टरी कामगर होता है।

प्रगति की सबसे सामान्य और सबसे विख्यात परिघटनाओं – मुद्रण, वाष्प और बिजली – पर समाज तथा जनता के लिए उनके लाभ या अलाभ के संदर्भ में विचार करें।

"मनुष्य प्रकृति की शक्तियों पर नियंत्रण कर रहा है, विचार बिजली की सी तेज़ी से विश्व के एक छोर से दूसरे छोर पर पहुंच रहे हैं। समय पर विजय पा ली गयी है।" यह सब बहुत अच्छा है, प्रभावोत्पादक है। मगर इससे लाभ किसे होता है? हम विद्युत टेलीग्राफ़ की प्रगति की बात करते हैं। स्पष्ट है कि टेलीग्राफ़ का इस्तेमाल केवल उच्च वर्ग, यानी तथाकथित शिक्षित वर्ग ही कर सकता है और इसलिए उससे लाभ भी उसी को है। जनता, यानी ९/१० आबादी तो सिर्फ़ टेलीग्राफ़ के तारों का भनभनाना ही सुनती है और उसे टेलीग्राफ़ प्रणाली को क्षति पहुंचाने से संबंधित कठोर क़ानून के ज़रिये व्यर्थ सताया ही जाता है।

इन तारों के ज़रिये जनता के ऊपर से गुज़रनेवाले विचारों का सार यही होता है कि जनता का सबसे अमानवीय तरीक़े से शोषण कैसे किया जाये। टेलीग्राफ़ के ज़रिये सूचित किया जाता है कि अमुक व्यापार की वस्तु की मांग बढ़ गयी है, इसलिए उस वस्तु के

दाम बढ़ा दिये जाने चाहिए; या यह कि फ़्रांस ने अपने हथियारों में वृद्धि कर ली है, अतः शीघ्रातिशीघ्र इतने नागरिकों को और सैनिक सेवा के लिए बुला लिया जाये; या यह कि अमुक जगह पर जनता में अपनी स्थिति के प्रति असंतोष बढ़ता जा रहा है, इसलिए उसे शांत करने के लिए तुरंत इतने सिपाही भेज दिये जायें; या यह कि मेरी, फ़्लोरेंस में रहनेवाली रूसी ज़मींदारिन की, सेहत में अब ख़ुदा के शुक्र से काफ़ी सुधार आ गया है और अपने प्राणप्रिय को गले लगाते हुए अनुरोध करती हूं कि तुरंत ४० हज़ार फ़्रैंक मेरे पते पर रवाना कर दिये जायें। तार-संदेशों का विस्तृत आंकड़ा-विश्लेषण किये बिना भी यह बात पक्की समझी जा सकती है कि सभी तार-संदेश उस प्रकार के पत्राचारों की श्रेणी में आते हैं, जिनकी मिसालें मैंने यहां दी हैं। तूला गुबेर्निया के यास्नाया पोल्याना गांव के किसान ने या किसी भी रूसी किसान ने एक बार भी तार से संदेश न कभी भेजा है और न पाया ही है, और अभी बहुत समय तक न भेजेगा और न पायेगा ही (यह नहीं भूलना चाहिए कि प्रगति जिस जनता को ख़ुशहाल करना चाहती है, वह जनता ये किसान ही हैं)। सभी तार-संदेश, जो उसके सिर के ऊपर से गुज़रते हैं, मिलकर भी उसकी ख़ुशहाली में रत्तीभर भी बढ़ौती नहीं कर सकते, क्योंकि वह अपनी आवश्यकता की हर चीज़ अपने खेत से, अपने जंगल से पाता है और चीनी अथवा सूती कपड़े के महंगा या सस्ता होने, राजा ओट्टोन को गद्दी से उतार दिये जाने, पामरस्टन तथा नेपोलियन तृतीय के भाषणों और फ़्लोरेंस से तार भेजनेवाली ज़मींदारिन की भावनाओं की ओर से समान रूप से उदासीन रहता है। बिजली जैसी तेज़ी से पृथ्वी का चक्कर लगानेवाले ये सब विचार न उसके खेतों की उर्वरता बढ़ाते हैं, न ज़मींदारों या सरकार के जंगलों की चौकीदारी में ढील आने देते हैं, न उसकी और उसके परिवार की कार्यक्षमता में वृद्धि करते हैं और न उसे अतिरिक्त कामगर ही उपलब्ध करवाते हैं। ये सभी महान विचार उसकी ख़ुशहाली को स्थायी बनाने या बढ़ाने के बजाय, उल्टे, नष्ट ही कर सकते हैं और उसके लिए केवल नकारात्मक अर्थ में ही रोचक हो सकते हैं। लेकिन जो प्रगति में विश्वास करनेवाले लोग हैं, उनके लिए तो टेलीग्राफ़ के तार अत्यधिक लाभकारी सिद्ध होते हैं। मैं लाभों के बारे में बहस नहीं कर रहा हूं, मैं तो सिर्फ़ यही सिद्ध करना चाहता हूं कि न

तो खुद ऐसा सोचना चाहिए और न दूसरों को ही ऐसा यक़ीन दिलाना चाहिए कि जो मेरे लिए लाभकारी है, वह बाक़ी सारी दुनिया के लिए भी बहुत बड़ी नेमत है। या तो इसका प्रमाण पेश किया जाना चाहिए, या, कम से कम, तब तक इंतज़ार किया जाना चाहिए, जब तक सभी लोग उसे नेमत न मान लें, जो हमारे लिए लाभकारी है। बिजली के ज़रिये दिक् और काल पर तथाकथित विजय में तो हम ऐसी कोई बात पाते नहीं। उल्टे, हम पाते हैं कि इस सिलसिले में प्रगति के समर्थक ठीक पुराने ज़मींदारों जैसी बातें करते हैं, जो यक़ीन दिलाते हैं कि किसानों के लिए, राज्य के लिए और सारी मानवजाति के लिए भूदास प्रथा और बेगार से अधिक लाभकारी और कुछ नहीं है; अंतर सिर्फ़ यह है कि ज़मींदारों का विश्वास पुराना है और बेन-क़ाब हो चुका है, जबकि प्रगतिवादियों का विश्वास अभी नया है और सर्वत्र छाया हुआ है।

प्रगतिवादियों का दूसरा प्रिय और घिसा-पिटा विषय मुद्रण है। उसके प्रसार और उसके फलस्वरूप साक्षरता के प्रसार को हमेशा और बिलाशर्त सारी जनता के लिए एक असंदिग्ध वरदान समझा जाता रहा है। लेकिन ऐसा क्यों? मुद्रण, साक्षरता और जिसे हम शिक्षा कहते हैं, वह प्रगतिरूपी धर्म के बुनियादी अंधविश्वास हैं, और इसलिए इस मामले में मैं पाठक से हर तरह के विश्वास से सच्चे मन से निर्लिप्त होकर पूरी ईमानदारी से अपने आपसे यह पूछने का आग्रह करूंगा: ऐसा क्यों है, और क्यों वह शिक्षा, जिसे हम अल्पसंख्यक लोग अपने लिए वरदान मानते हैं, और इसलिए वह मुद्रण तथा वह साक्षरता, जिसका हम प्रसार करना चाहते हैं, बहुसंख्या के लिए भी, जनता के लिए भी नेमतें ही हों? हम 'यास्नाया पोल्याना' के कुछ लेखों में जिक्र कर चुके हैं कि जो शिक्षा हमने पायी है, वह शिक्षा अपने सारतत्त्व की दृष्टि से क्यों जनता के लिए श्रेयस्कर नहीं हो सकती। अतः यहां हम सिर्फ़ मुद्रण की चर्चा करेंगे। मेरे लिए साफ़ है कि पत्रि-काओं और पुस्तकों का रवैया और मुद्रण की बेरोक और बड़ी भारी प्रगति लेखकों, संपादकों, प्रकाशकों, प्रूफ़रीडरों और कंपोज़ीटरों के लिए लाभकारी थे। जनता का अपरिमित पैसा अप्रत्यक्ष तरीक़ों से इन लोगों के हाथों में पहुंचा। मुद्रण इन लोगों के लिए इतना लाभकारी है कि पाठक-संख्या बढ़ाने के लिए हर तरह के तरीक़े ईजाद किये जाते

हैं: कविताएं, कहानियां, स्कैंडल, भंडाफोड़, अफ़वाहें, बहसें, सौगातें, इनाम, साक्षरता समाज, साक्षरों की तादाद बढ़ाने के लिए किताबें और पत्रिकाएं बांटना, आदि। और किसी मेहनत की क़ीमत इतनी आसानी से वसूल नहीं होती, जितनी आसानी से साहित्यिक मेहनत की क़ीमत वसूल होती है। साहित्यिक ब्याजों से ज़्यादा ऊंचे और कोई ब्याज नहीं होते। साहित्यिक काम करनेवालों की संख्या दिनोंदिन बढ़ती जा रही है। ज्यों-ज्यों पत्र-पत्रिकाओं की संख्या बढ़ रही है, त्यों-त्यों घटिया और बेकार साहित्य भी बढ़ रहा है। लेकिन भोले लोग कहेंगे: अगर पुस्तकों और पत्रिकाओं की तादाद बढ़ रही है और अगर साहित्य का प्रतिफल इतना अच्छा मिल जाता है, तो इसका मतलब है कि लोगों को उसकी ज़रूरत है। इसका मैं यह जवाब दूंगा: क्या हम यह समझें कि टैक्स-फ़ार्मिंग से चूंकि अच्छा प्रतिफल मिलता है, तो वह भी ज़रूरी है? साहित्य की सफलता लोगों की आवश्यकताओं की पूर्ति की परिचायक तभी होती, जब सारी जनता उससे सहानुभूति रखती।

साहित्य से जनता का क्या भला होता है? जनता को अभी तक तो सस्ती बाइबिलें और चर्च के पंचांग भी उपलब्ध नहीं हैं। दूसरी ओर, जो अन्य किताबें उसके हाथ लगती हैं, वे उसकी नज़रों में अपने लिखने-वालों की मूर्खता तथा तुच्छता का ही प्रदर्शन करती हैं। जनता का पैसा और मेहनत तो ख़र्च हो जाते हैं, लेकिन इतना ज़्यादा वक़्त गुज़र जाने पर भी किताबों से, मुद्रण से उसे कोई फ़ायदा होता हमें दिखायी देता नहीं। ज़मीन जोतना, क्वास* बनाना, पेड़ की छाल के जूते तैयार करना, मकान बनाना, गीत गाना और यहां तक प्रार्थना करना भी जनता ने किताबों से न कभी सीखा है और न सीखती ही है। हर ईमानदार निर्णायक, जिसपर प्रगति का विश्वास हावी नहीं है, मानेगा कि मुद्रण से जनता को कोई लाभ नहीं हुआ है। दूसरी ओर, बहुतों को हानियां अवश्य हुई हैं... मगर हो सकता है कि मेरी दलीलों को उचित मानने पर भी कुछ लोग कहें कि मुद्रण की प्रगति जनता को प्रत्यक्ष लाभ न पहुंचाकर इस बात से उसकी ख़ुशहाली में योग देती है कि समाज को अधिक सहनशील बना देती है, कि, उदाहरण के

* एक रूसी पेय।

लिए, भूदास प्रश्न का समाधान मुद्रण की प्रगति के कारण ही संभव बना है। इसका मैं यह उत्तर दूंगा कि समाज अधिक सहनशील बना है, यह अभी सिद्ध किया जाना बाक़ी है, कि व्यक्तिगत रूप से मैं ऐसा कुछ नहीं पाता और शब्दों का विश्वास करना आवश्यक नहीं समझता। उदाहरण के लिए, मैं नहीं पाता कि कारख़ानामालिक के अपने मजदूर से संबंध ज़मींदार के भूदास किसान से संबंधों की अपेक्षा ज़्यादा मानवीय हैं। मगर यह मेरा व्यक्तिगत दृष्टिकोण है और यह साक्ष्य नहीं हो सकता। इस तरह की दलील के ख़िलाफ़ मैं जो मुख्य बात कहना चाहता हूं, वह यह है कि भूदासता से मुक्ति की मिसाल लेकर भी मैं नहीं पाता कि मुद्रण ने इस प्रश्न के प्रगतिशील समाधान में कोई योग दिया हो। अगर सरकार ने इस मामले में अपना दृढ़ मत न प्रकट किया होता, तो इसमें कोई संदेह नहीं कि मुद्रण ने सारे मसले की दूसरे ही ढंग से व्याख्या की होती। हम देखते कि अधिकांश पत्रिकाएं और पत्र भूमि के बिना मुक्ति की मांग करते और इसके समर्थन में भी देखने में उतने ही युक्तिसंगत, चटपटे और व्यंग्यपूर्ण तर्क देते। मैं पूछना चाहता हूं: किसानों की मुक्ति की प्रक्रिया १६ फ़रवरी के क़ानून पर ही क्यों रुक गयी, जिसने अभी मालूम नहीं कि किसानों को चरागाहों के इस्तेमाल के अधिकार तथा वनों में प्रवेश के अधिकार से वंचित करके और उनपर ऐसे नये दायित्व लादकर कि जिन्हें पूरा करने में वे क़तई समर्थ नहीं हैं, उनकी, यानी किसानों की स्थिति को सुधारा है या, उल्टे, और बिगाड़ा ही है? मैं पूछना चाहता हूं: मुद्रण की प्रगति १६ फ़रवरी के क़ानून पर ही क्यों रुक गयी? सबको मालूम है कि भूमि का सभी नागरिकों के बीच समान वितरण असंदिग्ध रूप से एक शुभ कार्य है। तो ऐसे लोगों के अलावा, जिन्हें पागलों की संज्ञा दी जा रही है, प्रेस के ज़रिये कोई और क्यों भूमि के समान वितरण के पक्ष में आवाज़ नहीं उठा रहा है? वास्तव में यहां पागलपन की कोई बात है नहीं और मुद्रण की प्रगति का सीधे-सीधे उद्देश्य यह होना चाहिए था कि ऐसे वितरण की आवश्यकता तथा लाभ को समझाया जाता। मगर क्या रूस, क्या इंगलैंड या क्या यूरोप का कोई और देश, कहीं भी कोई इस बारे में एक भी शब्द नहीं छाप रहा है। इसका कारण मेरे लिए बिल्कुल साफ़ है। विद्युत टेलीग्राफ़ की प्रगति की भांति मुद्रण की प्रगति भी समाज के एक ख़ास

वर्ग का एकाधिकार है, जिससे केवल इस वर्ग के लोगों को लाभ होता है, और ये वे लोग हैं, जो अपने निजी लाभ को ही प्रगति मानते हैं। कहना न होगा कि उनका निजी लाभ सदा जनता के लाभ के विपरीत होता है। जब कोई काम नहीं होता, मुझे पत्रिकाएं पढ़ना अच्छा लगता है और मैं यूनान के राजा ओट्टोन में भी दिलचस्पी लेता हूं। मुझे लेख लिखना, उसे छपवाना और उसके लिए पैसा पाना तथा प्रसिद्धि कमाना भी अच्छे लगते हैं। मुझे तार से अपनी बहन की सेहत का समाचार पाना और यह ठीक-ठीक जानना अच्छा लगता है कि अपने गेहूं के लिए मैं कितना दाम पाने की उम्मीद रख सकता हूं। दोनों ही मामलों में न तो जो आनंद मैं अनुभव करता हूं, उसमें कुछ ग़लत है और न जो मैं यह चाहता हूं कि इस तरह के आनंद के लिए सुविधाएं बढ़ती जायें, उसमें ही कुछ ग़लत है। मगर यह सोचना निश्चय ही सर्वथा अनुचित होगा कि मेरा आनंद सारी मानवजाति की ख़ुशहाली की वृद्धि से मेल खाता है। ऐसा सोचना वैसे ही अनुचित है, जैसे किसी टैक्स-फ़ार्मर या ज़मींदार का यह सोचना कि कोई मेहनत किये बिना आमदनी पाकर वह मानवजाति को सुखी बनाता है, क्योंकि वह कलाओं को प्रोत्साहित करता है और अपनी ऐयाशी से बहुतों को रोज़गार देता है। मैं पाठक से इस बात को ध्यान में रखने का आग्रह करूंगा कि होमर, सुकरात, अरस्तू, जर्मन लोककथाओं तथा गीतों और रूसी काव्य के लिए और बाइबिल के लिए भी अमर रचनाएं बनने के वास्ते किसी मुद्रण सुविधा की आवश्यकता नहीं पड़ी थी।

भाप, रेलें, इतने अधिक प्रशंसित स्टीमर, लोकोमोटिव और मशीनें – मैं पाठक को पुनः आगाह करना चाहता हूं कि हमारे विषय से इतना घनिष्ठ संबंध रखनेवाली इन सब चीज़ों पर विचार करते हुए जरूरी है कि हम उन विश्वासों और राजनीतिक व आर्थिक विरोधाभासों को, जहां तक हो सकता है, सच्चे मन से त्याग दें, जिन्हें सत्य समझा जाता है, और केवल विद्यमान, अपने सामने घट रहे तथ्यों को ही आधार बनायें। हम इस प्रश्न का उत्तर पाना चाहते हैं: क्या परिवहन और फ़ैक्टरी उत्पादन में वाष्प के अनुप्रयोग का विकास जनता की ख़ुशहाली के बढ़ने में सहायक होता है? हम उसकी बात नहीं करेंगे, जो आगे चलकर हो सकता है, यानी परस्पर विरोधी राजनीतिक अर्थशास्त्र के सिद्धांतों के अनुसार ऐसे अनुप्रयोग के जो परिणाम निकलते

हैं, हम उनकी बात नहीं करेंगे, बल्कि सिर्फ़ उन लाभों पर विचार करेंगे, जो वाष्प की बदौलत आम लोगों को हुए हैं या हो रहे हैं। मैं अपने नज़दीकी और सुपरिचित तूला के किसान को देखता हूं, जिसे तूला से मास्को, राइन प्रदेश या पेरिस तक और वापस द्रुत यात्राएं करने की कोई आवश्यकता नहीं है। ऐसी यात्राओं की संभावना उसकी खुशहाली में कोई वृद्धि नहीं करती है। अपनी सभी ज़रूरतों की तुष्टि वह अपनी ही मेहनत से करता है, खाने से लेकर कपड़े-लत्ते तक सब कुछ वह खुद ही पैदा करता है; पैसा उसके लिए दौलत नहीं। यह इस हद तक सही है कि जब उसके पास पैसे होते भी हैं, वह उन्हें ज़मीन में गाड़ देता है और उन्हें किसी काम में लाना ज़रूरी नहीं समझता। इसलिए अगर रेलें कारखानों और व्यापार की चीज़ों को उसके लिए सहज उपलभ्य बना भी देती हैं, तो भी वह इस सहज उपलभ्यता के प्रति बिल्कुल उदासीन रहता है। उसे न होज़री की चीज़ें चाहिए, न रेशमी कपड़े, न घड़ियां, न फ़्रां-सीसी शराबें और न सार्डिन मछलियां ही। उसे जो कुछ भी चाहिए और जो कुछ भी उसकी नज़रों में दौलत है या खुशहाली में वृद्धि का सूचक है, वह सब वह अपनी मेहनत से अपनी ज़मीन पर हासिल कर लेता है। मैकाले कहते हैं कि मज़दूर आदमी की खुशहाली का सर्वोत्तम मापदंड उसकी पगार की मात्रा है। क्या हम रूसी लोग इस हद तक अपनी जनता की स्थिति को नहीं जानना चाहते और न जानते हैं कि हमारी परिस्थितियों में निरर्थक और ग़लत ऐसी प्रस्थापना को दोहरायेंगे? क्या हर रूसी के लिए स्पष्ट नहीं है कि आम रूसी आदमी की नज़र में पगार एक सांयोगिक चीज़, एक विलास है, जिसपर कुछ भी आधारित नहीं किया जा सकता? निरपवादतः हर रूसी आदमी स्तेपीवासी किसान को, जिसने पगार का नाम भी नहीं सुना है, बिला शक संपन्न कहेगा और छींट की क़मीज़ पहननेवाले मास्को के पास के किसान को, जो हमेशा खूब पगार पाता है, ग़रीब कहेगा। रूस में न सिर्फ़ पगार की मात्रा से संपन्नता को नहीं मापा जा सकता, बल्कि, उल्टे, बेझिझक कहा जा सकता है कि रूस में पगार पर रहना संपन्नता और खुशहाली के घटने का निशान है। अपनी जनता का अध्ययन करनेवाले हम रूसी इस नियम को सारे रूस में काम करता देख सकते हैं, और इसलिए सारे यूरोप की संपन्नता के चक्कर में पड़े बिना हम कह

सकते हैं – और कहना भी चाहिए – कि रूस के लिए, यानी उसकी अधिकांश जनता के लिए पगार की मात्रा न सिर्फ़ खुशहाली का मापदंड नहीं है, बल्कि पगार का प्रकट होना ही जनता की संपन्नता के ह्रास का प्रदर्शन कर देता है। स्पष्ट है कि हमें यूरोप से भिन्न आधार ढूंढने होंगे, हालांकि यूरोपीय राजनीतिक अर्थशास्त्र हमपर भी अपने नियम लागू करना चाहता है। रूस की अधिकांश आबादी के लिए पैसा दौलत नहीं है और मैन्यूफ़ेक्चर उद्योग की वस्तुओं का सस्ता होना खुशहाली नहीं बढ़ाता है। इसी प्रकार रेलों से ज़्यादातर आबादी को कोई लाभ नहीं पहुंचता है (ध्यान रहे कि जनता जिसे लाभ समझती है, मैं उस लाभ की बात कर रहा हूं, न कि जिसे सभ्यता की प्रगति ज़बर्दस्ती लादना चाहती है)।

रूसी जनता की धारणा के अनुसार भूमि का समान वितरण, भूमि की उर्वरता का बढ़ना, पशुपालन का बढ़ना, अनाज के उत्पादन का बढ़ना और नतीजे के तौर पर उसका सस्ता होना (कृपया ध्यान दें कि अनाज के सस्ता होने की शिकायत एक भी किसान को नहीं है; सिर्फ़ यूरोपीय राजनीतिक अर्थशास्त्री ही उसे उकसाते हैं कि अगर अनाज महंगा हुआ, तो वह मैन्यूफ़ेक्चरिंग उद्योग की ज़्यादा वस्तुएं खरीद पायेगा, पर वह ऐसा नहीं चाहता है), काम करनेवालों का बढ़ना (किसान कभी नहीं कहता कि उसके गांव में बहुत ज़्यादा लोग हैं), जंगलों और चरागाहों का बढ़ना और शहरी प्रलोभनों का न होना ही खुशहाली के बढ़ने के सूचक हैं। रेलें किसानों के लिए इनमें से कौनसी नेमतें लेकर आयी हैं? वे प्रलोभन बढ़ाती हैं, जंगलों को नष्ट करती हैं, कामगर छीन लेती हैं, अनाज के भाव बढ़ा देती हैं और घोड़े पालने के धंधे को तबाह करती हैं। हो सकता है कि मैं जनता द्वारा रेलों की शुरूआत का स्वागत न किये जाने के सही कारण नहीं बता पाया हूं। हो सकता है कि कुछ कारण मुझसे छूट गये हों, पर इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि जनभावना हमेशा की तरह आज भी रेलों के विरुद्ध है। जनता उन्हें सिर्फ़ इसी हद तक सहन करती है, जिस हद तक कि उनके प्रलोभन के आगे झुककर वह खुद इस शोषण में भागीदार है। वास्तविक जनता, यानी स्वयं काम करने और फलप्रद ढंग से रहनेवाली जनता, मुख्य रूप से काश्तकार जनता, ९/१० जनता, जिसके बिना किसी भी प्रगति की कल्पना तक नहीं की जा सकती,

हमेशा से उनसे वैर रखती रही है। इस तरह प्रगति में विश्वास करने-वाली अल्पसंख्या कहती है कि रेलें जनता की खुशहाली की वृद्धि का प्रतीक हैं, जबकि बहुसंख्या कहती है कि वे उसके घटने का लक्षण हैं।

जनता की ओर से प्रगति का ऐसा विरोध हम प्रगति की हर अभि-व्यक्ति के सिलसिले में पा सकते हैं और बता सकते हैं। मगर हम अपने को यहां उपरोक्त मिसाल तक ही सीमित रखेंगे और सहज ही जो प्रश्न उठता है, उसका उत्तर देने की कोशिश करेंगे। प्रश्न यह है: क्या जनता के इस विरोध का विश्वास किया जाना चाहिए? हमें कहा जायेगा: आप कहते हैं कि किसान – सारी ज़िंदगी धूलभरी झोंपड़ी में या हल की मूठ पकड़े हुए गुज़ारनेवाले, अपने लिए छाल के जूते खुद बनानेवाले और कमीज़ खुद बुननेवाले, कभी किताब हाथ तक में न लेनेवाले, जूओंभरे कपड़े दो-दो हफ़्ते न उतारनेवाले, सूरज और मुर्गे की बांगों से समय का पता लगानेवाले और घोड़े जैसे काम, सोने, खाने और शराब पीने के सिवाय और कोई आवश्यकता न जाननेवाले काश्तकार – रेलों से खुश नहीं हैं। "मगर सच तो यह है कि ये आदमी नहीं, जानवर हैं," प्रगतिवादी कहेंगे और सोचेंगे। "और इसलिए हम समझते हैं कि उनकी राय पर ध्यान न देकर और जो अपने लिए अच्छा समझते हैं, वही उनके लिए भी करके हम ठीक ही कर रहे हैं।" ऐसी राय अगर व्यक्त नहीं भी की जाती, तो भी वह प्रगतिवादियों के तर्कों के मूल में सदा विद्यमान रहती है; मगर मैं सोचता हूं कि जानवर कहे जानेवाले ये लोग, इन जानवरों की पूरी की पूरी पीढ़ियां वैसे ही आदमी हैं, इनसान हैं, जैसे कि पामरस्टन, ओट्टोन या बोनापार्ट जैसे लोग। मैं समझता हूं कि किसानों और उनके बच्चों में भी वैसे ही मानवसुलभ गुण हैं, विशेषतः यह खोजने का गुण कि कहां बेहतर है, जैसे लार्डों, बैरनों, प्रोफ़ेसरों, बैंकरों, आदि और उनके बच्चों में। इस विचार की मेरे व्यक्तिगत, निस्संदेह, ज्यादा महत्त्व न रखनेवाले इस विश्वास से भी पुष्टि होती है कि बैरनों, बैंकरों और प्रोफ़ेसरों व उनके बच्चों की अपेक्षा किसानों और उनके बच्चों में ज़्यादा शक्ति, सत्य तथा भलाई की ज़्यादा चेतना होती है। मेरा यह विचार इस सामान्य प्रेक्षण से भी पुष्ट होता है कि किसान भी वैसे ही व्यंग्य और बुद्धिमानी से अपने मालिक की बात करता है, उसके इस अज्ञान पर हंसता है कि हल क्या होता है, अमुक अनाज क्या होता है, जई कब बोयी जाती है, या कैसे मालूम हो कि गाय

गाभिन है या नहीं। वह मालिक पर इसलिए भी हंसता है कि वह सारी ज़िंदगी कुछ भी किये बिना गुज़ार देता है। ठीक ऐसे ही ज़मींदार भी किसान की बात करता है, उसपर इसके लिए हंसता है कि वह त्यौहारों पर अंधाधुंध शराब पीकर जानवरों से भी बदतर हो जाता है। मुझे इस बात ने भी चकित किया है कि दो यार आदमी अलग होते ही बिल्कुल सच्चे मन से एक दूसरे को बेवकूफ़ और कमीना कहने लग जाते हैं। इन सब प्रेक्षणों से मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचता हूं कि अगर प्रगतिवादी लोग जनता को अपनी खुशहाली के बारे में कुछ कहने का अनधिकारी मानते हैं और जनता प्रगतिवा-दियों को अपने निजी स्वार्थों की चिंता करनेवाला ही मानती है, तो इन दो विरोधी मतों में से न्यायसंगत किसी को भी नहीं कहा जा सकता। फिर भी मेरा झुकाव जनता के पक्ष में होना चाहिए, क्यों-कि पहली बात तो यह है कि जनता संख्या में समाज की अपेक्षा बड़ी है, और इसलिए मानना होगा कि ज़्यादातर सत्य जनता के पक्ष में है; और दूसरी तथा मुख्य बात यह है कि जनता तो प्रगतिवादियों के बिना रह सकती है और मेहनत, मनोविनोद, प्रेम, चिंतन, कला-त्मक सृजन (इलियड, रूसी गीत, आदि) की अपनी मानवीय आव-श्यकताएं किसी न किसी प्रकार पूरी कर सकती है, पर प्रगतिवादियों का तो जनता के बिना अस्तित्व भी संभव नहीं है।

हाल में हमें बोकल का लिखा हुआ इंगलैंड की सभ्यता का इति-हास पढ़ने को मिला। यह पुस्तक यूरोप में अत्यधिक सराही गयी है (जो बहुत स्वाभाविक भी है) और रूस के भी साहित्यिक तथा वैज्ञा-निक हल्क़ों में उसकी काफ़ी प्रशंसा हुई है (जिसका कारण मेरी समझ में नहीं आया है)। बोकल सभ्यता के नियमों का विश्लेषण करते हैं और वह भी काफ़ी रोचक ढंग से। लेकिन यह सारी रोचकता मेरे लिए और ऐसे उन सभी रूसियों के लिए बेकार है, जो ऐसा सोचने का कोई आधार नहीं देखते कि हम रूसियों को भी सभ्यता की गति के उन्हीं नियमों से निदेशित होना चाहिए, जिनसे यूरोप के राष्ट्र निदेशित होते हैं, और, दूसरे, यह कि सभ्यता का आगे बढ़ना वरदान है। हम रूसियों के वास्ते पहले इन दोनों बातों को सिद्ध करना होगा। व्यक्तिगत रूप से हमारी राय तो यह है कि सभ्यता की प्रगति एक सबसे बड़ी अवपीड़नकारी बुराई है, जिसने मानवजाति के

एक निश्चित भाग को अपने वश में किया हुआ है। हम इस प्रगति को अपरिहार्य नहीं मानते। बोकल वैसे तो प्रमाणहीन प्रस्थापनाओं के घोर विरोधी हैं, लेकिन वह खुद इस संबंध में कोई प्रमाण नहीं पेश करते कि उनके लिए इतिहास की सारी रुचि सभ्यता की प्रगति में ही क्यों निहित है? हमारे लिए तो यह रुचि सबकी खुशहाली की प्रगति में निहित है। और खुशहाली की प्रगति, हमारे मत में, न सिर्फ़ सभ्यता की प्रगति का परिणाम नहीं होती, बल्कि अधिकांशतः उसका विलोम ही होती है। यदि कोई इससे सहमत नहीं है, तो उसे अपनी बात के पक्ष में प्रमाण देने होंगे। मगर ऐसे प्रमाण हमें न जीवन की परिघटनाओं के प्रत्यक्ष प्रेक्षण में मिलते हैं, न इतिहासकारों, दार्शनिकों और पत्रकारों की रचनाओं में ही। इसके विपरीत, हम देखते हैं कि हमारे विरुद्ध अपनी दलीलों में ये लोग और श्री मार्कोव कोई आधार न होने पर भी सार्विक खुशहाली और सभ्यता के एक ही होने के प्रश्न को तय मान लेते हैं।

हमने यह काफ़ी लंबा विषयांतर सिर्फ़ यह कहने के लिए किया कि हम नहीं मानते व ऐसा मानने के लिए हमारे पास कोई आधार भी नहीं है कि प्रगति मानवजाति की खुशहाली के बढ़ने में सहायक होती है, कि जो प्रगति है, वह अच्छा है तथा जो प्रगति नहीं है, वह बुरा है, हम अच्छे-बुरे का इसके बजाय कोई और मापदंड ढूंढ रहे हैं और अपने पहले लेख में भी ढूंढने का प्रयत्न किया था। श्री मार्कोव के साथ अपने मतभेद के इस मुख्य, छिपे हुए मुद्दे को स्पष्ट कर देने के बाद हम रूस के तथाकथित शिक्षित समाज के ज्यादातर हिस्से के साथ सोचते हैं कि 'रूस्स्की वेस्तनिक' के लेख में उठाये गये मुद्दों का जवाब देना हमारे लिए सरल और आसान हो जायेगा।

१) 'रूस्स्की वेस्तनिक' का लेख मानता है कि एक पीढ़ी को दूसरी पीढ़ी के पालन व शिक्षा में दखल देने का इसलिए अधिकार है कि यह **स्वाभाविक** है और प्रगति में हर पीढ़ी का योगदान होता है। हमने इस अधिकार को इसलिए नहीं माना और न मानते हैं कि हमारी दृष्टि में प्रगति एक असंदिग्ध वरदान नहीं है, कि हम ऐसे अधिकार के लिए अन्य आधार ढूंढ रहे हैं और सोचते हैं कि हमने उन्हें पा लिया है। अगर कोई सिद्ध करता है कि हमारे आधार भ्रामक हैं, हम प्रगति में विश्वास को फिर भी पर्याप्त आधार मानने को तैयार नहीं होंगे।

२) 'रूस्स्की वेस्तनिक' का लेख मानता है कि उच्च वर्गों को सार्वजनिक शिक्षा में दखल देने का अधिकार है। मगर पूर्ववर्ती पृष्ठों पर पर्याप्त स्पष्ट कर दिया गया है कि प्रगति और जनता की शिक्षा में विश्वास करनेवालों का दखल क्यों अनुचित है तथा उच्च वर्गों के लिए लाभकर है, और क्यों भूदास रखने के **अधिकार** जैसे ही यह अनुचित कार्य भी उन्हें अधिकार लगता है।

३) 'रूस्स्की वेस्तनिक' का लेख सोचता है कि स्कूलों को ऐतिहासिक परिस्थितियों से असंबद्ध न बनाया जा सकता है और न बनाया ही जाना चाहिए। मगर हम इस कथन को निरर्थक मानते हैं, क्योंकि, पहले, व्यवहार में और विचारों में किसी भी चीज़ को ऐतिहासिक परिस्थितियों से अलग नहीं किया जा सकता है। दूसरे, जिन नियमों पर शिक्षा आधारित थी तथा होनी चाहिए, उन नियमों की खोज अगर श्री मार्कोव की राय में शिक्षा को ऐतिहासिक परिस्थितियों से असंबद्ध बनाना है, तो हम सोचते हैं कि ज्ञात नियमों की खोज करनेवाला हमारा चिंतन भी ऐतिहासिक परिस्थितियों में काम करता है, लेकिन आवश्यकता इस बात की है कि स्वयं चिंतन का खंडन या मंडन चिंतन के ही ज़रिये किया जाये, ताकि उसे स्पष्ट किया जा सके, न कि उत्तर में इस सत्य को दोहराया जाये कि हम ऐतिहासिक परिस्थितियों में रहते हैं।

४) 'रूस्स्की वेस्तनिक' का लेख सोचता है कि मध्ययुगीन स्कूलों की अपेक्षा समकालीन स्कूल समय के तक़ाज़ों को ज्यादा पूरा करते हैं। हमें अफ़सोस है कि हमने श्री मार्कोव को विपरीत बात सिद्ध करने का मौक़ा दिया, और सहर्ष स्वीकार करते हैं कि विपरीत बात को सिद्ध करते हुए ऐतिहासिक तथ्यों को पूर्वस्वीकृत विचारों के अनुरूप ढालने की आम आदत के शिकार बन गये। श्री मार्कोव ने भी यही किया है, हालांकि हमसे कुछ अधिक सफलता और होहल्ले के साथ। हम इसकी तफ़सील में नहीं जाना चाहते और अपनी ग़लती को खुले आम स्वीकार करते हैं। इस प्रश्न के संबंध में बातें जितनी चाहें, बनायी जा सकती हैं, लेकिन यक़ीन कोई नहीं करेगा!

५) 'रूस्स्की वेस्तनिक' का लेख हमारी शिक्षा को हानिकारक होने के बजाय लाभकारी सिर्फ़ इसीलिए मानता है कि हमारी शिक्षा प्रगति के लिए लोगों को तैयार करती है, और 'रूस्स्की वेस्तनिक' प्रगति में विश्वास करता है। मगर हम तो प्रगति के समर्थक नहीं हैं

और इसलिए हमारी शिक्षा को हानिकारक ही समझते हैं।

६) 'रूस्स्की वेस्तनिक' का लेख मानता है कि शिक्षा की पूर्ण स्वतंत्रता न तो लाभकारी है और न संभव ही है। लाभकारी वह इसलिए नहीं है कि हमें सिर्फ़ लोगों की नहीं, बल्कि प्रगति के लिए लोगों की ज़रूरत है, और संभव वह इसलिए नहीं है कि हमारे यहां प्रगति के लोगों की शिक्षा के लिए तो तैयार कार्यक्रम उपलब्ध हैं, मगर सिर्फ़ लोगों की शिक्षा के लिए कोई कार्यक्रम नहीं है।

७) लेखक सोचता है कि यास्नाया पोल्याना स्कूल की व्यवस्था संपादक की मान्यताओं से मेल नहीं खाती है। इस बात में हम उससे सहमत हैं, खास तौर से इसलिए भी कि वह खुद मानता है कि ऐतिहासिक परिस्थितियों का प्रभाव कितना प्रबल होता है, और इसलिए उसे मालूम ही होगा कि यास्नाया पोल्याना स्कूल में एक साथ दो शक्तियां सक्रिय हैं – एक तो दृढ़ विश्वास, जो लेखक के मत में अतिवादी क़िस्म का है, और, दूसरी, ऐतिहासिक परिस्थितियां, यानी स्वयं अध्यापकों की शिक्षा, साधन, आदि। फलस्वरूप स्कूल काफ़ी कम ही स्वतंत्र बन पाया है और इसलिए वह अन्य स्कूलों के मुक़ाबले कोई ज्यादा अच्छा भी नहीं है। लेकिन उस हालत में क्या हुआ होता, अगर ये विश्वास, जैसा कि लेखक को लगता है, अतिवादी क़िस्म के न होते? लेखक कहता है कि स्कूल की सफलता प्रेम पर निर्भर है। मगर प्रेम आकस्मिक चीज़ तो नहीं है। प्रेम वहीं हो सकता है, जहां स्वतंत्रता है। यास्नाया पोल्याना स्कूल जैसे विश्वासों पर आधारित सभी स्कूलों में वही बात हुई: अध्यापक अपने स्कूल को बेहद चाहने लग गया। और मैं जनता हूं कि वही अध्यापक सारे आदर्शीकरण के बावजूद ऐसे स्कूल को क़तई नहीं चाह सकता, जहां बच्चे अनुशासित ढंग से बेंचों पर बैठते हैं, घंटी बजने के साथ ही कक्षा में आते-जाते हैं, शनिवारों को छड़ियों से पीटे जाते हैं, वग़ैरह।

८) और अंत में, लेखक शिक्षा की यास्नाया पोल्याना की परिभाषा से सहमत नहीं है। यहां हमारे लिए अपनी अधूरी बात को पूरा करना आवश्यक है। मुझे लगता है कि लेखक के लिए यह अधिक उचित होता कि आगे विवेचन के चक्कर में पड़े बिना वह हमारी परिभाषा का खंडन करने का कष्ट करता। मगर उसने ऐसा नहीं किया और हमारी परिभाषा पर नज़र डाले बिना ही उसे ज़बर्दस्ती गढ़ी हुई बताकर अपनी

यह परिभाषा दे डाली कि शिक्षा प्रगति का दूसरा नाम है और इस कारण उसका उद्देश्य समय की आवश्यकताओं के अनुकूल सीख देना है। हमने प्रगति के बारे में जो कुछ लिखा है, उसका उद्देश्य यही है कि लोगों को एतराज़ करने के वास्ते उकसायें। अन्यथा हमारे साथ बहस करने के बजाय सीधे यही कहा जाता है: सहजवृत्ति की, समानता की आवश्यकता और इन सब शब्दों की क्या ज़रूरत है, क्योंकि बढ़ता हुआ ढेर तो है ही?

मगर हम प्रगति को नहीं मानते और इसलिए ढेर से तसल्ली नहीं कर सकते। अगर हम मानते होते, तो कहते: ठीक है, उद्देश्य समय के तक़ाज़ों के अनुसार सिखाना है, ढेर में अपनी ओर से एक मुट्ठी डालना है; हम स्वीकार कर लेते कि मां, जैसा कि श्री मार्कोव कहते हैं, जानबूझकर अपना ज्ञान देने की कोशिश करते हुए बच्चे को सिखाती है। लेकिन किसलिए? – मैं पूछता और मुझे उत्तर पाने का अधिकार होता। आदमी सांस लेता है। मगर मैं पूछता हूं: क्यों? मुझे यह उत्तर नहीं दिया जाता कि वह इसलिए सांस लेता है कि वह सांस लेता है, बल्कि यह उत्तर दिया जाता है कि वह इसलिए सांस लेता है कि आवश्यक आक्सीजन पा सके और अनावश्यक गैसें बाहर निकाल सके। मैं फिर पूछता हूं: आक्सीजन क्यों चाहिए? शरीरक्रियाविज्ञानी ऐसे प्रश्न के सार को देखता है और उत्तर देता है: ताकि गरमी मिल सके। और गरमी क्यों चाहिए? यहां वह उत्तर देता है या देने का प्रयत्न करता है, खोजता है और जानता है कि ऐसे प्रश्न का समाधान जितना ही अधिक सामान्य होगा, उससे उतने ही अधिक निष्कर्ष निकाले जा सकेंगे। तब हम पूछते हैं: एक आदमी दूसरे आदमी को क्यों सिखाता है? अध्यापक के लिए शायद इससे अधिक क़रीबी प्रश्न और कोई नहीं होगा। और हम, हो सकता है कि ग़लत तथा अनुमान पर आधारित उत्तर देते हैं, लेकिन प्रश्न और उत्तर, दोनों ही दो टूक होते हैं। श्री मार्कोव (मेरा आशय मार्कोव से ही नहीं है, क्योंकि उनके स्थान पर कोई अन्य प्रगतिवादी भी हो सकता है) न सिर्फ़ हमारे प्रश्न का उत्तर नहीं देते, बल्कि वह उसे देख भी नहीं पाते हैं। उनके लिए ऐसा प्रश्न हो ही नहीं सकता, क्योंकि वह ज़बर्दस्ती गढ़ा हुआ प्रश्न है और वह पाठक से उसपर विशेष ध्यान देने का अनुरोध करते हैं, अगर वह अपना मन बहलाना

चाहता है। मगर इस प्रश्न और उसके उत्तर में उसका सारा सार निहित है, जो मैंने शिक्षाशास्त्र के बारे में कहा, लिखा या सोचा था। श्री **मार्कोव** और उनसे सहमति रखनेवाले बुद्धिमान, शिक्षित और बहस करने के अभ्यस्त लोग हैं। तो फिर यह कमअक्ली कहां से आयी? **प्रगति। प्रगति** शब्द कहा नहीं कि जो ऊल-जलूल है, वह साफ़ बात लगने लगती है और जो साफ़ बात है, वह ऊल-जलूल लगने लगती है। मैं प्रगति को तब तक हितकर नहीं मानूंगा, जब तक मुझे उसके ऐसा होने का सबूत नहीं मिल जाता, और इसलिए शिक्षा की परिघटनाओं का प्रेक्षण करते हुए मेरे लिए शिक्षा की परिभाषा आवश्यक है। इसीलिए मैंने जो पहले कहा था, उसे फिर दोहराता हूं तथा स्पष्ट करता हूं, यानी यह कि **शिक्षा मनुष्य का ऐसा कार्य है, जिसका आधार समानता की आवश्यकता और शिक्षा के आगे बढ़ते जाने का अटल नियम हैं।**

जैसा कि हम पहले ही कह चुके हैं, शिक्षा के नियमों के अध्ययन के लिए हम तत्त्वमीमांसात्मक पद्धति नहीं, बल्कि प्रेक्षणों से निष्कर्ष निकालने की पद्धति इस्तेमाल करते हैं। हम पालन समेत सबसे व्यापक अर्थ में शिक्षा की परिघटनाओं का प्रेक्षण करते हैं। शिक्षा की हर परिघटना में हमें दो सक्रिय पक्ष दिखायी देते हैं: शिक्षा देनेवाला तथा शिक्षा पानेवाला, पालन करनेवाला और पालन किया जानेवाला। शिक्षा की परिघटना को जैसे हम समझते हैं, उस रूप में उसका अध्ययन करने के लिए, उसकी परिभाषा और कसौटी निश्चित करने के लिए हमें पहले दोनों कार्यों का अध्ययन करना होगा और वह कारण खोजना होगा, जो इन दोनों कार्यों को शिक्षा या पालन कही जानेवाली एक परिघटना में सूत्रबद्ध करता है। पहले शिक्षा पानेवाले के कार्य और उसके कारण की जांच करें। शिक्षा पानेवाला चाहे कैसे भी, कहीं भी और कुछ भी क्यों न पढ़ता हो (चाहे वह अकेले ही किताब पढ़े), उसका कार्य हमेशा केवल यह होता है कि उस व्यक्ति अथवा व्यक्तियों के सोचने के ढंग, रूप तथा अंतर्वस्तु को हृदयंगम करे, जिन्हें वह अपने से अधिक जाननेवाला समझता है। ज्यों ही वह ज्ञान में अपने को अपने शिक्षादाताओं का समकक्ष समझने लग जायेगा, ज्यों ही वह अपने शिक्षकों को ज्ञान में अपने से ऊंचा मानना बंद कर देगा, त्यों ही उसका शिक्षा पाने का कार्य अनजाने ही रुक जायेगा और कोई भी शर्तें उसे इस कार्य को जारी रखने को विवश नहीं कर सकेंगी। कोई आदमी

दूसरे आदमी से नहीं सीख सकता, अगर सिखानेवाला सीखनेवाले से ज़्यादा नहीं जानता है। ज्यों ही विद्यार्थी अंकगणित की चारों संक्रियाओं का ज्ञान पूरी तरह आत्मसात् कर लेता है, बीजगणित न जाननेवाला अंकगणित का अध्यापक अनजाने ही अंकगणित पढ़ाना बंद कर देता है। यह सिद्ध करना शायद निरर्थक ही है कि ज्यों ही अध्यापक और विद्यार्थी के ज्ञानों का स्तर एकसमान हो जाता है, वैसे ही इस विद्यार्थी और अध्यापक के बीच शिक्षा के व्यापक अर्थ में शिक्षण और पालन का कार्य अनिवार्य रूप से बंद हो जाता है और एक नया कार्य शुरू होता है, जो यह है कि वही अध्यापक विद्यार्थी के सामने विज्ञान की किसी शाखा से संबंधित ऐसे ज्ञान के नये क्षितिज उद्घाटित करता है, जो उसने स्वयं तो आत्मसात् किया हुआ है, लेकिन जिससे विद्यार्थी अवगत नहीं है, और इस तरह शिक्षा तब तक चलती रहती है, जब तक विद्यार्थी का ज्ञान अध्यापक के बराबर स्तर पर नहीं पहुंच जाता, या वह नया कार्य यह है कि विद्यार्थी अंकगणित के ज्ञान में अध्यापक के बराबर स्तर पर पहुंचकर अध्यापक को छोड़ देता है और किताब लेकर बीजगणित सीखने लगता है। इस मामले में किताब या उसका लेखक नये अध्यापक के रूप में सामने आते हैं और शिक्षा की प्रक्रिया केवल तब तक जारी रहती है, जब तक विद्यार्थी का ज्ञान किताब या उसके लेखक के बराबर स्तर पर नहीं पहुंच जाता। और शिक्षा का कार्य ज्ञान के स्तरों में समानता के स्थापित होते ही तुरंत रुक जाता है। हम समझते हैं कि इस तथ्य को सिद्ध करना निरर्थक है, क्योंकि उसे शिक्षा के सभी मामलों में परखा जा सकता है। इन प्रेक्षणों और बातों से हम इस नतीजे पर पहुंचते हैं कि केवल शिक्षा पानेवाले के पहलू से देखे जाने पर शिक्षा के कार्य का आधार शिक्षा पानेवाले की ज्ञान के मामले में शिक्षा देनेवाले के बराबर बनने की आकांक्षा होती है। इस सत्य की पुष्टि यह साधारण प्रेक्षण करता है कि ज्यों ही बराबरी हासिल कर ली जाती है, शिक्षा की प्रक्रिया तुरंत और अनिवार्य रूप से रुक जाती है। उसकी पुष्टि इस पहले से अधिक साधारण प्रेक्षण से भी होती है कि कम या अधिक मात्रा में समानता की यह प्राप्ति हर प्रकार की शिक्षा में दिखायी देती है। शिक्षा का अच्छा या ख़राब होना सर्वदा तथा सर्वत्र और सारी मानवजाति में केवल इस बात से निर्धारित होता है कि विद्यार्थी और अध्यापक के बीच समानता में अधिक समय लगता है या कम:

समय जितना ही ज्यादा लगेगा, शिक्षा उतनी ही खराब होगी, और समय जितना ही कम लगेगा, शिक्षा उतनी ही अच्छी होगी। यह सत्य इतना सामान्य तथा स्पष्ट है कि उसे सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं है। लेकिन क्या यह सिद्ध किया जाना आवश्यक है कि क्यों यह साधारण सत्य किसी को खुद नहीं सूझता, किसी के द्वारा नहीं कहा जाता और जब कहा भी जाता है, तो उसका घोर विरोध होता है? ये कारण निम्न हैं: हर प्रकार की शिक्षा के मुख्य आधार – ज्ञान के मामले में समानता की आकांक्षा – के अतिरिक्त, जो शिक्षात्मक कार्य के सारतत्व से ही निःसृत है, नागरिक समाज में शिक्षा के लिए प्रेरित करनेवाले कतिपय अन्य कारण भी हैं। वे इतने प्रबल प्रतीत होते हैं कि शिक्षाशास्त्री केवल उन्हें ही ध्यान में रखते हैं, जबकि मुख्य आधार को अनदेखा कर दिया जाता है। अब केवल शिक्षा पानेवाले के कार्य की ही जांच करते हुए हम शिक्षा के लिए ऊपर बताये गये वास्तविक आधार के अलावा बहुत से अन्य आभासी आधार भी पाते हैं। इन आधारों की अस्वीकार्यता सहज ही सिद्ध की जा सकती है। ये मिथ्या, लेकिन अपने को जतानेवाले आधार निम्न हैं। पहला और सबसे ज्यादा प्रचलित आधार यह है कि बच्चा इसलिए सीखता है कि सज़ा न मिले। दूसरा – बच्चा इसलिए सीखता है कि पुरस्कार मिले। तीसरा – बच्चा इसलिए सीखता है कि औरों से बेहतर बने। चौथा – बच्चा या नौजवान इसलिए सीखता है कि समाज में फ़ायदे की जगह मिले। सबके द्वारा मान्य इन आधारों को तीन मुख्य श्रेणियों में वर्गीकृत किया जा सकता है: १) आज्ञापालन के कारण शिक्षण; २) अहंभाव के कारण शिक्षण; और ३) भौतिक लाभ तथा महत्त्वाकांक्षा के कारण शिक्षण। वास्तव में विभिन्न शिक्षाशास्त्रीय मत इन तीन श्रेणियों के आधार पर ही विकसित हुए हैं और विकास कर रहे हैं...

मगर इन तीनों प्रेरकों की निराधारता स्पष्ट है। पहला कारण तो यह है कि वास्तव में इन आधारों पर स्थापित शिक्षा संस्थाओं से कोई भी संतुष्ट नहीं है। दूसरे, उस कारण, जिसका मैं दसियों बार उल्लेख कर चुका हूं और तब तक करता रहूंगा, जब तक उसके उत्तर में मैं यह नहीं सुनूंगा कि ऐसे आधारों (आज्ञापालन, अहंभाव और भौतिक लाभ) के रहते हुए शिक्षा की कोई सामान्य कसौटी नहीं हो सकती। सचमुच, यह इसका ही नतीजा है कि धर्मशास्त्री

और प्रकृतिविज्ञानी, दोनों अपनी शिक्षा को दोषहीन और दूसरों की शिक्षा को निश्चय ही दोषयुक्त, हानिकारक मानते हैं। तीसरे और अंततः, इस कारण कि जिसे शिक्षा पानेवाले के कार्य का आधार माना जाता है (आज्ञापालन, अहंभाव अथवा भौतिक लाभ), वह शिक्षा की परिभाषा का काम नहीं कर सकता है। अगर हम मानते हैं कि ज्ञान के मामले में समानता शिक्षा पानेवाले के कार्य का उद्देश्य है, तो मैं देखता हूं कि इस उद्देश्य के प्राप्त होते ही कार्य भी रुक जाता है; लेकिन अगर हम मानें कि उद्देश्य आज्ञापालन, अहंभाव की तुष्टि या भौतिक लाभ है, तो मैं देखूंगा कि शिक्षा पानेवाला कितना भी आज्ञाकारी क्यों न बन जाये, अपनी खूबियों के कारण औरों से कितना भी श्रेष्ठ क्यों न माना जाने लगे अथवा कैसे भी भौतिक लाभ तथा नागरिक अधिकार हासिल क्यों न कर ले, उसका उद्देश्य बिल्कुल भी हासिल नहीं हुआ है, और इसलिए शिक्षा पाने की प्रक्रिया खत्म नहीं हुई है। यथार्थ में मैं देखता हूं कि जब ऐसे मिथ्या आधार होते हैं, तब शिक्षा का लक्ष्य कभी हासिल नहीं हो पाता, यानी ज्ञान के मामले में समानता नहीं प्राप्त की जाती। दूसरी ओर, जो प्राप्त किया जाता है, वह है आज्ञापालन की आदत, या उत्तेजनशील अहंभाव, या भौतिक लाभ, जिसमें शिक्षा की कोई भूमिका नहीं होती। शिक्षा के इन मिथ्या आधारों का आग्रह ही मेरी दृष्टि में शिक्षाशास्त्र की सभी ग़लतियों का और फलस्वरूप शिक्षा के परिणामों के शिक्षा से मानवोचित अपेक्षाओं के अनुरूप न होने का वास्तविक कारण है।

अब शिक्षा देनेवाले के कार्य की समीक्षा करें। ठीक पहले प्रसंग जैसे ही नागरिक समाज में इस परिघटना का अध्ययन करके हम पाते हैं कि इस कार्य के बहुत सारे और नानाविध कारण हैं। इन्हें निम्न श्रेणियों में वर्गीकृत किया जा सकता है: पहला और मुख्य कारण है लोगों को वैसा बनाने की इच्छा, जैसा अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए हम उन्हें बना देखना चाहते हैं (उदाहरण के लिए, ज़मींदार लोग अपने भूदास नौकरों को संगीत तक की शिक्षा पाने भेजते हैं, या सरकार अपने लिए इंजीनियर, अफ़सर, कर्मचारी, आदि तैयार करती है)। दूसरी श्रेणी के कारणों में वही आज्ञापालन और भौतिक लाभ आते हैं, जो विश्वविद्यालय के विद्यार्थी को एक निश्चित पारिश्रमिक के एवज़ में बच्चों को किसी निश्चित कार्यक्रम के अनुसार पढ़ाने को विवश

17-942

करते हैं। तीसरी श्रेणी के कारणों के मूल में अहंभाव होता है, जो आदमी को अपने ज्ञान का प्रदर्शन करने के लिए सिखाने को प्रेरित करता है। और चौथी श्रेणी का कारण है दूसरे लोगों को अपनी रुचियों में सहभागी बनाने, उन्हें अपनी मान्यताएं, अपने विश्वास अंतरित करने और इस उद्देश्य से उन्हें अपना ज्ञान देने की इच्छा। मुझे लगता है कि अपने बच्चे को बोलना सिखानेवाली माता और तनख़्वाह के एवज़ में फ़्रांसीसी सिखानेवाले ट्यूटर से लेकर प्रोफ़ेसर और साहित्यकार तक सभी शिक्षादाताओं का कार्यकलाप इन चार श्रेणियों के अंतर्गत आ जाता है। इन श्रेणियों के लिए वही मापदंड इस्तेमाल करके कि जो हमने शिक्षा पानेवाले के कार्य के आधारों के संबंध में इस्तेमाल किया था, हम पायेंगे कि, पहले, जिस कार्य का उद्देश्य अपने लिए उपयोगी आदमी तैयार करना है (जैसा भूतपूर्व ज़मींदारों और सरकार के मामले में हमने देखा), वह कार्य उद्देश्य की प्राप्ति के साथ ख़त्म नहीं हो जाता। दूसरे शब्दों में कहें, तो वह उसका चरम उद्देश्य नहीं है। सरकार और ज़मींदार अपना शिक्षा देने का कार्य आगे भी जारी रख सकते थे। बहुत बार तो ऐसा होता है कि उपयोगिता के उद्देश्य की प्राप्ति का शिक्षा से कोई संबंध नहीं होता। इसलिए उपयोगिता को मैं शिक्षा देनेवाले के कार्य का मापदंड नहीं मान सकता। दूसरे, अगर जिम्नाज़ियम के अध्यापक या ट्यूटर के कार्य का आधार उसकी आज्ञा के पालन को माना जाये, जिसने इस अध्यापक या ट्यूटर को शिक्षा देने का ज़िम्मा सौंपा है, या भौतिक लाभ को माना जाये, जो इस कार्य से उसे प्राप्त होता है, तो मैं फिर देखता हूं कि अधिकतम भौतिक लाभ प्राप्त कर लेने के बाद भी शिक्षा देने का कार्य रुकता नहीं है। इसके विपरीत, मैं पाता हूं कि शिक्षा के एवज़ में मिलनेवाले बड़े भौतिक लाभ प्रायः उस शिक्षा की मात्रा पर निर्भर नहीं होते, जो शिक्षा दी जा रही है। तीसरे, अगर हम यह मानें कि अहंभाव और ज्ञान प्रदर्शन की इच्छा शिक्षा का उद्देश्य हो सकते हैं, तो मैं पुनः पाता हूं कि अपने व्याख्यानों के लिए या पुस्तक के लिए अत्यधिक वाहवाही लूट लेने के बाद भी शिक्षा का कार्य रुकता नहीं है, क्योंकि हो सकता है कि यह वाहवाही शिक्षा पानेवाले द्वारा पाये गये ज्ञान की मात्रा पर निर्भर न हो। इससे बढ़कर प्रशंसा तो उन लोगों द्वारा भी की जा सकती है, जिन्होंने कोई शिक्षा नहीं पायी है। चौथे और

अंत में, शिक्षा के इस अंतिम उद्देश्य की जांच करते हुए मैं पाता हूं कि अगर शिक्षादाता का कार्य शिक्षार्थी के ज्ञान को अपने समान स्तर पर लाने तक सीमित है, तो यह कार्य उद्देश्य की पूर्ति होते ही तुरंत रुक जाता है। सचमुच, इस परिभाषा को यथार्थ की कसौटी पर परखते हुए मैं देखता हूं कि अन्य सभी कारण सारतः बाह्य, जीवनीय परि-घटनाएं ही हैं, जो हर प्रकार के शिक्षादाता के वास्तविक उद्देश्य पर परदा डाल देती हैं। अंकगणित के अध्यापक का प्रत्यक्ष उद्देश्य यही होता है कि उसका विद्यार्थी गणितीय चिंतन के उन सभी नियमों को आत्मसात् कर ले, जिन्हें वह ख़ुद जानता है। फ़्रांसीसी के अध्यापक का भी और रसायनशास्त्र अथवा दर्शनशास्त्र के अध्यापक का भी उद्देश्य वही होता है, और ज्यों ही यह उद्देश्य पा लिया जाता है, कार्य रुक जाता है। केवल वह शिक्षा ही सर्वत्र और सर्वदा अच्छी मानी गयी है, जिसमें विद्यार्थी अध्यापक के समान स्तर पर पहुंच जाता है – ऐसा जितना ही ज़्यादा होगा, शिक्षा उतनी ही अच्छी है, और जितना ही कम होगा, शिक्षा उतनी ही ख़राब है। यही बात सा-हित्य पर भी लागू होती है, जो शिक्षा का एक अप्रत्यक्ष माध्यम है। हम केवल उन्हीं किताबों को अच्छी मानते हैं, जिनमें लेखक या शिक्षा देनेवाला पाठक को या शिक्षा पानेवाले को अपना सारा ज्ञान देता है।

इस तरह परिघटना को शिक्षा देनेवाले और शिक्षा पानेवाले के समेकित कार्य के रूप में देखते हुए हम पाते हैं कि दोनों ही सूरतों में इस कार्य का आधार वही है – ज्ञान के मामले में समानता की मनुष्य की आकांक्षा। पहले अंक में दी गयी परिभाषा में हमने यही कहा था। उसमें हमसे सिर्फ़ एक चूक हुई थी: हम यह जोड़ना भूल गये थे कि समानता से हमारा आशय ज्ञान के मामले में समानता से है।

मगर हमने समानता की आकांक्षा के साथ-साथ शिक्षा के आगे बढ़ते जाने के अटल नियम की भी चर्चा की थी। श्री मार्कोव न इसे समझ पाये और न उसे ही, और बड़ी हैरानी से पूछते हैं: यहां शिक्षा के आगे बढ़ते जाने के अटल नियम का सवाल कहां से उठता है? शिक्षा के आगे बढ़ते जाने के नियम का अर्थ सिर्फ़ यह है कि क्योंकि शिक्षा लोगों की ज्ञान के मामले में समान बनने की आकांक्षा का प्रतीक है, तो यह समानता ज्ञान के निम्न स्तर पर नहीं, बल्कि सिर्फ़ उच्चतर

स्तर पर पायी जा सकती है, जिसका सीधा-सादा कारण यह है कि जो मैं जानता हूं, बच्चा उसे सीख सकता है, लेकिन मैं अपने जाने हुए को भुला नहीं सकता। एक कारण यह भी है कि मुझे गुज़री हुई पीढ़ियों के सोचने का ढंग, उनके विचार मालूम हो सकते हैं, जबकि गुज़री हुई पीढ़ियों को मेरा सोचने का ढंग, मेरे विचार नहीं मालूम हो सकते। मैं इसे शिक्षा के आगे बढ़ते जाने के अटल नियम की संज्ञा देता हूं। इस तरह श्री मार्कोव के सभी मुद्दों के जवाब में मेरा सिर्फ़ यह कहना है: पहले, सब कुछ बेहतरी की ओर अग्रसर है, यह प्रमाण नहीं हो सकता, क्योंकि पहले तो इसे ही प्रमाणित करना होगा कि सब कुछ वास्तव में बेहतरी की दिशा में अग्रसर है; और दूसरे, यह कि शिक्षा मनुष्य का केवल वह कार्य है, जिसका आधार मनुष्य की समानता की आकांक्षा और शिक्षा के आगे बढ़ते जाने का अटल नियम हैं। इस लेख में मैंने श्री मार्कोव को निरर्थक ऐतिहासिक दलीलों के धरातल से ऊपर उठाने और जो चीज़ वह नहीं समझ पाये हैं, उसे स्पष्ट करने का ही प्रयत्न किया है।

१२. लिखना कौन किससे सीखे – किसान बच्चे हमसे या हम किसान बच्चों से?

(सितंबर, १८६२)

भाषा की पढ़ाई में अध्यापक की मुख्य कला इसमें प्रकट होती है – और यह उसके लिए इसी उद्देश्य से निबंध लेखन में बच्चों के मार्गदर्शन का मुख्य अभ्यास भी है – कि वह निबंध के लिए कैसे विषय देता है। लेकिन इससे भी ज़्यादा वह प्रचुर विकल्प देने, निबंध का आकार बताने और प्रारंभिक युक्तियां दिखाने से संबंध रखती है। बहुत से अन्यथा बुद्धिमान और प्रतिभाशाली बच्चे मामूली बातें लिखा करते थे, जैसे: "आग जलने लगी, लोगों ने पानी लाना शुरू किया और मैं बाहर सड़क पर आ गया।" इसके बावजूद कि निबंध का विषय घटनाबहुल था और जिसका वर्णन किया जाना था, उसने बच्चे के मन पर गहरी छाप छोड़ी थी, बात बन नहीं पाती थी। बच्चे मुख्य बात नहीं समझ पाते थे: लिखने की क्या आवश्यकता है? उससे क्या लाभ है? वे कला – जीवन की शब्दों में अभिव्यक्ति के सौंदर्य – को, इस कला के जादू को नहीं समझ पाते थे। मैंने निबंध लिखाने के बहुत सारे और विभिन्न तरीक़े इस्तेमाल किये। विद्यार्थियों के रुझानों को देखते हुए मैंने उन्हें यथार्थपरक, कलात्मक, भावुकतापूर्ण, हास्य-जनक, गाथात्मक विषय दिये। पर काम चला नहीं। आजकल मैं जो तरीक़ा इस्तेमाल कर रहा हूं, वह मुझे अचानक ही सूझा था और उसका क़िस्सा यों है।

स्नेगिर्योव के कहावत-संग्रह को पढ़ना मेरा एक पुराना और प्रिय शौक़ है। हर कहावत मुझे जैसे कि आम लोगों का, उनके टकरावों का प्रतीक लगती है। मेरे सपनों में हमेशा साकार न हो पायी ऐसी कहानियां या तसवीरें भी रहती हैं, जो कहावतों को लेकर लिखी

या बनायी गयी हैं। पिछली सरदियों में एक बार दिन के खाने के बाद मैं स्नेगिर्योव की किताब में इतना खो गया कि स्कूल में उसे भी ले आया। रूसी भाषा का पाठ था।

"चलो, आज एक कहावत पर निबंध लिखा जाये," मैंने कहा।

फ़ेद्का, स्योम्का और दूसरे जो सबसे अच्छे विद्यार्थी थे, वे चौकन्ने हो गये।

"कहावत पर कैसे? उसपर भी क्या निबंध लिखा जाता है?" सवालों की बौछार होने लगी।

मैंने एक कहावत बतायी: **एक हाथ से खिलाना, दूसरे से आंख फोड़ना।**

"कल्पना करो," मैंने कहा, "कि किसी किसान ने एक भिखारी को अपने घर में रख लिया और बाद में अपनी रोटी तोड़ने के लिए उसे ताने मारने लगा। इसे ही कहते हैं 'एक हाथ से खिलाना, दूसरे से आंख फोड़ना'।"

"हां, लेकिन लिखेंगे कैसे?" फ़ेद्का बोला। दूसरे भी सभी जो चौकन्ने हो गये थे, यह सोचकर बग़लें झांकने लगे कि ऐसा काम उनके बस का नहीं है, और अपने पहले के काम में व्यस्त हो गये।

"तुम खुद लिखकर दिखाओ," एकाएक किसी ने मुझसे कहा।

सभी अपने काम में व्यस्त थे। मैंने कलम-दवात ली और लिखने लगा।

"देखें, कौन बेहतर लिखता है," मैंने कहा। "मैं भी तुम्हारे साथ लिख रहा हूं।"

मैंने कहानी शुरू की और पहला पन्ना लिख डाला। कोई भी आदमी, जिसके मन में पूर्वाग्रह नहीं हैं और जो कलात्मकता तथा जनपरकता का बोध रखता है, मेरे द्वारा लिखे हुए इस पहले पृष्ठ और स्वयं विद्यार्थियों द्वारा लिखे हुए अन्य पृष्ठों में अंतर कर लेगा और जान जायेगा कि मेरा लिखा हुआ पृष्ठ दूध में मक्खी की तरह है, क्योंकि वह बेमेल है, कृत्रिम है और बड़ी ख़राब शैली में लिखा हुआ है। यह भी बता दिया जाना चाहिए कि अपने आरंभिक रूप में वह और भी भद्दा था और उसमें बहुत सारे सुधार विद्यार्थियों के सुझाये हुए हैं।

फ़ेद्का अपनी कापी के पीछे से बार-बार मेरी ओर झांक रहा

था और मुझसे नज़र मिलने पर मुस्कराते और आंख से इशारा करते हुए कह रहा था: "लिखो, लिखो, फिर देखा जायेगा।" शायद उसे यह देखकर मज़ा आ रहा था कि बड़े को भी लिखना पड़ रहा है। अपना निबंध जल्दी और पहले के मुक़ाबले में जैसे-तैसे ख़त्म करके वह खड़ा होकर मेरी कुर्सी के पीछे से पढ़ने लगा कि मैंने क्या लिखा है। मैं आगे जारी न रख सका; दूसरे भी हमारे पास आ गये और मैंने अपना लिखा हुआ पढ़कर सुनाया। उन्हें पसंद नहीं आया, क्योंकि किसी ने तारीफ़ नहीं की। मुझे अपने ऊपर बड़ी शर्म आयी और अपने साहित्यिक अहं को तसल्ली देने के लिए मैं उन्हें आगे जो लिखने जा रहा था, उसका खाका बताने लगा। ज्यों-ज्यों मैं बताता गया, त्यों-त्यों मेरी दिलचस्पी भी बढ़ती गयी और मैं अपने खाक़े को सुधारता गया। वे मुझे बहुत सी बातें अपनी ओर से सुझाने लगे। एक कह रहा था कि यह बूढ़ा कोई जादूगर होगा; दूसरा कह रहा था कि नहीं, उसे मामूली सिपाही होना चाहिए; तीसरा ज़ोर दे रहा था कि बेहतर है वह उन्हें लूट डाले; चौथे की राय थी कि यह कहावत के अनुसार नहीं होगा, वग़ैरह-वग़ैरह।

सबकी दिलचस्पी चरम पर पहुंच गयी थी। उनके लिए रचना की प्रक्रिया के दौरान उपस्थित रहना और उसमें भाग लेना शायद नयी और मज़ेदार बात थी। कहानी के गठन, तफ़सीलों और पात्रों के चरित्रों के बारे में सबके विचार ज़्यादातर एक जैसे और सही थे। रचना में भाग लगभग सभी ले रहे थे, लेकिन अपने चित्रणों की असाधारण कलात्मकता के कारण स्योम्का ने और अपनी काव्यात्मक कल्पनाओं की सटीकता तथा विशेषत: ओजपूर्ण व द्रुत कल्पनाशक्ति के कारण फ़ेद्का ने अपने को शुरू से ही औरों से भिन्न सिद्ध कर दिया था। उनकी मांगें इस हद तक तर्कसंगत तथा सुनिश्चित थीं कि अनेक बार उनसे बहस में आख़िरकार हार मुझे ही माननी पड़ी। मेरे दिमाग़ में यह बात बैठी हुई थी कि कहानी का गठन ठीक होना चाहिए और कहावत में व्यक्त विचार तथा कहानी के बीच कोई विसंगति नहीं रहनी चाहिए, लेकिन उनकी मांगें, इसके विपरीत, केवल कलात्मक सत्य से ही संबंध रखती थीं। मिसाल के लिए, मैं चाहता था कि बूढ़े को अपने घर में लानेवाला किसान खुद अपने नेक काम पर पछ-ताये, लेकिन वे इसे असंभव मानते थे और उन्होंने कहा कि किसान

की औरत झगड़ालू थी। मेरा कहना था: किसान को पहले बूढ़े पर दया आयी और बाद में अपनी रोटी के लिए अफ़सोस होने लगा। फ़ेद्का का जवाब था कि यह अटपटा लगेगा: "वह अपनी औरत के सामने पहले नहीं झुका, तो बाद में क्या झुकेगा।" "तुम्हारे हिसाब से वह कैसा आदमी है?" मैंने पूछा। "वह चाचा तिमोफ़ेई जैसा है," फ़ेद्का ने मुस्कराते हुए जवाब दिया। "छितरी दाढ़ीवाला, गिरजे जाता है और मधुमक्खियां भी पालता है।" "यानी कि नेक और ज़िद्दी है?" मैंने कहा। "हां," फ़ेद्का बोला। "औरत के कहने में तो कभी आयेगा ही नहीं।" उस जगह से कि जब बूढ़े को घर में लाया गया, बड़े उत्साह के साथ काम शुरू हो गया। कलात्मक ब्योरे को शब्दों में अंकित करने का आनंद वे शायद पहली बार अनुभव कर रहे थे। इस लिहाज से स्योम्का सबसे तेज़ निकला: उसके मुंह से यथार्थपरक ब्योरे एक के बाद एक करके लगातार टपके जा रहे थे। उसे जो अकेला उलाहना दिया जा सकता था वह यह था कि ये ब्योरे सिर्फ़ वर्तमान क्षण को चित्रित करते थे और कहानी के सामान्य प्रवाह से कोई संबंध नहीं रखते थे। मैं लिखने में बार-बार पिछड़ जाता था और मुझे उनसे रुकने तथा कहे हुए को याद रखने का अनुरोध करना पड़ता था। स्योम्का जैसे कि सब कुछ साक्षात् देख रहा था और देखे हुए का वर्णन कर रहा था। इसके विपरीत, फ़ेद्का को सिर्फ़ वे ही ब्योरे दिखायी दिये, जो उसमें वह अनुभूति जगाते थे, जिसके साथ वह किसी व्यक्ति-विशेष को देखता था। मिसाल के लिए, उसे बर्फ़ दिखायी दी, जो बूढ़े के पैरों की पट्टी के भीतर भी घुस गयी थी, उसे दया का भाव दिखायी दिया, जिससे प्रेरित होकर किसान ने कहा: "हे प्रभु, यह चल कैसे सका!" (फ़ेद्का ने तो यह भी बताया कि ये शब्द कहते समय किसान का चेहरा कैसा हो गया था और कैसे उसके हाथ फैल गये थे तथा सिर इधर-उधर डोलने लगा था)। उसे बूढ़े के शरीर पर कतरनों को जोड़कर बनाया हुआ कोट और चीथड़े-चीथड़े हुई क़मीज़ दिखायी दी, जिसके नीचे से गली हुई बर्फ़ के कारण गीली, बूढ़े की दुबली-पतली देह दीख रही थी। उसने किसान की औरत की कल्पना की, जिसने बड़बड़ाते हुए और पति के कहने पर बूढ़े के छाल के जूते उतारे, और बूढ़ा दर्द के मारे कराहते हुए दांत भींचकर कह रहा था: "धीरे, अम्मा, धीरे से, यहां घाव है!" स्योम्का के

लिए ज़्यादातर ठोस बिंबों – छाल के जूते, कोट, बूढ़ा, औरत, आदि – की ज़रूरत थी, जो आपस में प्रायः असंबद्ध थे, और फ़ेद्का दया की भावना जगाने पर ज़ोर दे रहा था, जिसकी ख़ुद उसमें कोई कमी नहीं थी।

आगे भागकर वह बताने लगा कि कैसे बूढ़े को भोजन कराया जायेगा, कैसे रात को वह गिरेगा, कैसे बाद में खेत में लड़के को लिखना-पढ़ना सिखायेगा, वग़ैरह। नतीजे के तौर पर मुझे फ़ेद्का से कहना ही पड़ा कि वह जल्दबाज़ी न करे और जो कह चुका है, उसे भूले नहीं। लगा कि वह रो ही पड़ेगा; उसके काले, दुबले, नन्हे हाथ ऐंठने लगे थे; वह मुझसे नाराज़ था और लगातार पूछे जा रहा था: लिख लिया, लिख लिया? और सबसे भी उसका व्यवहार ऐसे ही उद्दंड और नाराज़गीभरा हो गया। वह अकेला ही बोलना चाहता था और बोलना भी बताने के अंदाज़ में नहीं, बल्कि वैसे, जैसे लिखते हैं, यानी अपने अनुभूति बिंबों को शब्दों द्वारा कलात्मक अभिव्यक्ति देना चाहता था। और तो और, शब्दों का क्रम-परिवर्तन भी उसे सहन न था। दया, अर्थात् प्रेम की भावना से द्रवित तथा उत्तेजित उसकी आत्मा हर बिंब को कलात्मक आवरण पहना देती थी और जो कुछ भी शाश्वत सौंदर्य तथा सामंजस्य के अनुरूप नहीं था, उसे नकार डालती थी। ज्यों ही स्योम्का एक कोने में बंधे मेमनों के बारे में ज़रूरत से ज़्यादा तफ़सीलों में जाता, फ़ेद्का नाराज़ हो उठता। मेरे, मिसाल के लिए, इस बारे में इशारा भर करने की देर थी कि किसान ने उस वक़्त क्या किया जब उसकी औरत भागकर अपने बच्चे के धर्मपिता के पास चली गयी, कि फ़ेद्का की कल्पना में तुरंत मिमियाते मेमनों, आहें भरते बूढ़े और बेहोशी में बड़बड़ाते हुए लड़के सेर्योझ्का की तसवीरें उभर आतीं। मैं किसी बनावटी और झूठे दृश्य की चर्चा करता ही था कि फ़ेद्का तुरंत गुस्से में भरकर कह देता कि नहीं, इसकी ज़रूरत नहीं है। मिसाल के लिए, जब मैंने सुझाया कि किसान की शक्ल-सूरत का वर्णन भी शामिल किया जाये, तो फ़ेद्का राज़ी नहीं हुआ, लेकिन जब इसका वर्णन करने का प्रस्ताव रखा गया कि औरत के अपने बच्चे के धर्मपिता के यहां चले जाने पर किसान की क्या प्रतिक्रिया हुई, उसके दिमाग़ में तुरंत कौंध गया कि किसान ने ऐसे सोचा होगा: "पड़ी होती तू मरहूम सावोस्का के हाथ, वह

झोंटा ही उखाड़कर रख देता!" और उसने यह हथेली पर सिर टिकाते हुए ऐसे थके-थके, शांत, जाने-पहचाने, गंभीर और इसके साथ ही भोले अंदाज़ में कहा कि सभी बच्चे हंसी से लोट-पोट हो गये। हर तरह की कला की जो खास खूबी होती है, यानी कौन चीज़ कितनी ठीक है, यह वह बहुत अच्छी तरह जानता था। उसे किसी भी लड़के द्वारा सुझाया हुआ कोई भी फ़ालतू ब्योरा बिल्कुल सहन न था। वह इतने निरंकुश ढंग से और जैसे कि उसे ऐसी निरंकुशता दिखाने का अधिकार हो, कहानी की बनावट के बारे में हुक्म दे रहा था कि जल्दी ही उसे और स्योम्का को छोड़कर और सब लड़के घर चले गये। स्योम्का इसलिए रह गया था कि वह भी उतना ही ज़िद्दी था।

हम सात बजे से ग्यारह बजे तक काम करते रहे। उन्हें न भूख लगी, न थकान, बल्कि, उल्टे, जब मैंने लिखना बंद किया, वे नाराज़ ही हो उठे और बारी-बारी से खुद लिखने लगे, पर जल्दी ही छोड़ दिया, क्योंकि काम नहीं चला। एकाएक फ़ेद्का ने मुझसे पूछा कि मेरा नाम क्या है। हम उसके मेरा नाम न जानने पर हंस पड़े। "नहीं, मैं आपका नाम तो जानता हूं," उसने कहा, "लेकिन आपके खानदान का नाम क्या है? मिसाल के लिए, हमारे यहां फ़ोकानिचेव, ज्याब्रेव, येर्मीलिन, आदि खानदान हैं।" मैंने उसे बताया। "और छापेंगे भी?" उसने पूछा। "हां।" "तो ऐसे छापना चाहिए: लेखक – मकारोव, मोरोज़ोव, तोलस्तोय।" वह देर तक उत्तेजित रहा और सो नहीं पाया। खुद मैं भी उस उत्तेजना, खुशी, भय और लगभग पश्चात्ताप का बयान नहीं कर सकता, जो मैंने उस सारी शाम के दौरान अनुभव किये थे। मैंने महसूस किया कि इस दिन से फ़ेद्का के लिए आनंद और पीड़ा की एक नयी दुनिया – कला की दुनिया – उद्घाटित हो गयी है। मुझे लगा कि मैं अनजाने ही उस चीज़ का साक्षी बना हूं, जिसे देखने का किसी को कभी अधिकार नहीं है, यानी काव्य के रहस्यमय पुष्प के प्रस्फुटन का साक्षी बना हूं। खज़ाने की खोज में लगे आदमी जैसे मैं भयभीत भी था और हर्षित भी। हर्षित इसलिए कि मैं एकाएक, बिल्कुल अप्रत्याशित रूप से वह पारस पत्थर पा गया था, जिसे दो वर्ष से खोज रहा था, यानी विचारों को अभिव्यक्ति देना सिखाने की कला। और भयभीत इसलिए कि यह कला नयी मांगें, इच्छाओं की एक ऐसी दुनिया पैदा करती थी, जो जैसा कि मुझे

आरंभ में लगा, उस वातावरण से मेल नहीं खाती थी, जिसमें विद्यार्थी रहते थे। ग़लती की कोई गुंजायश न थी। यह सांयोगिक नहीं, सचेतन रूप से किया हुआ सृजन था। मैं पाठक से उसमें जगह-जगह बिखरे पड़े वास्तविक सृजनात्मक प्रतिभा के विपुल प्रमाणों पर भी ध्यान देने का आग्रह करूंगा। उदाहरणार्थ, इसी प्रसंग को लें कि किसान की औरत गुस्से में भरकर अपने बच्चे के धर्मपिता से पति की शिकायत करती है, और इसके बावजूद यह औरत, जिससे लेखक की स्पष्टतः कोई सहानुभूति नहीं है, तब रो पड़ती है, जब धर्मपिता उसे घर की तबाही की याद दिलाता है। सिर्फ़ दिमाग़ और याददाश्त से लिखनेवाले रचनाकार के लिए औरत किसान का केवल विलोम है: पति को दुख देने की खातिर ही उसे बच्चे के धर्मपिता को बुला लेना चाहिए था; मगर फ़ेद्का की कला-अनुभूति के दायरे में औरत भी आती है और इसलिए वह भी रोती है, डरती है, दुखी होती है। वह उसकी नज़रों में दोषी नहीं है। फिर वह उपप्रसंग, जिसमें धर्मपिता छोटा ज़नाना समूरी कोट पहन लेता है। मुझे याद है कि इसने मुझे इतना चकित कर दिया था कि मैंने पूछा भी था: ज़नाना छोटा कोट ही क्यों? हममें से किसी ने भी फ़ेद्का को यह कहने को प्रेरित नहीं किया था कि धर्मपिता ने समूरी कोट पहना। उसका कहना था: "ऐसे ठीक रहेगा।" जब मैंने पूछा कि क्या कहा जा सकता है कि उसने मर्दाना कोट पहना, तो उसका जवाब था: "नहीं, ज़नाना कोट बेहतर है।" सचमुच यह एक असाधारण बात थी। तुरंत अंदाज़ नहीं हो पाता कि ज़नाना छोटा कोट ही क्यों पहना, लेकिन, दूसरी ओर, महसूस होता है कि ऐसा हुआ था और इससे भिन्न कुछ हो भी नहीं सकता था। कलात्मक उक्ति चाहे गेटे की हो या फ़ेद्का की, वह सामान्य उक्ति से इसीलिए भिन्न होती है कि वह असंख्य विचारों, कल्पनाओं और स्पष्टीकरणों को जन्म देती है। अनायास ही आप अनुभव करते हैं कि धर्मपिता एक कमज़ोर और सींकिया बदन का आदमी है और शायद वैसा ही उसे होना भी चाहिए था। स्टूल पर पड़ा और सबसे पहले हाथ में आनेवाला ज़नाना छोटा कोट इसका भी परिचय देता है कि किसानों की सरदियों की शामें कैसे बीतती हैं। कोट की बात को लेकर अनायास ही कल्पना में काफ़ी ढल चुकी शाम, ऊपरी कपड़े उतारकर ढिबरी के उजाले में बैठे हुए किसान, पानी भरने या मवे-

शियों को घास-चारा देने बाहर जाती या लौटती औरतें, यानी कि किसान जीवन की सारी बाहरी अस्त-व्यस्तता का दृश्य उभर आता है। यह जीवन ऐसा है कि जिसमें किसी की भी कोई निश्चित पोशाक नहीं है और किसी भी चीज़ की अपनी निश्चित जगह नहीं है। "छोटा ज़नाना समूरी कोट पहन लेता है" – अकेले इन शब्दों से उस सारे परिवेश को इंगित कर दिया गया है, जिसमें सारा व्यापार घट रहा है, और ये शब्द संयोगवशात् नहीं, बल्कि सोच-समझकर कहे गये हैं। मुझे यह भी अच्छी तरह याद है कि काग़ज़ मिलने पर और उसे पढ़ न पाने पर किसान ने जो शब्द कहे थे, वे फ़ेद्का की कल्पना में कैसे पैदा हुए थे। किसान ने कहा था: "अगर मेरा सेर्योझ्का पढ़ना-लिखना जानता होता, वह तुरंत लपककर मुझसे काग़ज छीन लेता और पढ़कर बता देता कि यह बूढ़ा कौन है।" कामगर आदमी का किताब से, जिसे वह अपने धूप और मेहनत से काले पड़े हाथों में पकड़े हुए है, संबंध ऐसा ही दिखता है; दादापंथी और धार्मिक रुझानोंवाला यह नेक आदमी इसी रूप में आपके समक्ष उपस्थित होता है। आप महसूस करते हैं कि लेखक को उससे गहरा लगाव हो गया है और इस कारण उसे इस हद तक जान गया है कि इसके बाद उससे कहलवा सकता है: ज़माना भी कैसा आ गया है, लोग बिला वजह जान लेने को तैयार हैं! सोने जाने का विचार मैंने सुझाया था, लेकिन बकरे के पैरों पर घाव बताने की बात फ़ेद्का को सूझी थी और इससे वह विशेषतः ख़ुश था। पीठ पर खुजली के समय किसान का सोचना और रात की ख़ामोशी का दृश्य, यह सब इतना अधिक स्वाभाविक है कि इन सब बातों में कलाकार की सचेतन शक्ति अनुभव होती है!.. मुझे यह भी याद है कि मैंने सुझाया था कि किसान सोने जाते समय अपने बेटे के भविष्य के बारे में, बेटे तथा बूढ़े के भावी संबंधों के बारे में सोचे, कल्पना करे कि बूढ़ा सेर्योझ्का को पढ़ना-लिखना सिखायेगा, वग़ैरह। फ़ेद्का ने भौंहों पर बल देते हुए कहा था: "हां, हां, ठीक है," लेकिन लगता था कि सुझाव उसे पसंद नहीं आया और दो बार वह उसे भूल भी गया। उसका संतुलन-बोध इतना प्रबल था कि वैसा मैंने अपने को ज्ञात एक भी साहित्यकार में नहीं पाया है। मेरा मतलब उस संतुलन-बोध से है, जिसे विरले कलाकार ही – और वे भी अतिशय परिश्रम तथा अध्ययन के द्वारा ही – हासिल कर पाते हैं, लेकिन जो अपनी सारी आदिम शक्ति के साथ फ़ेद्का की मासूम बाल आत्मा में विद्यमान था।

मैंने पाठ बीच में ही छोड़ दिया, क्योंकि अत्यधिक उत्तेजित था।

"क्या हो गया? आपका चेहरा ज़र्द क्यों है? तबीयत तो ठीक है न?" मेरे साथी ने मुझसे पूछा। सचमुच किसी चीज़ से इतना अधिक प्रभावित मैं जीवन में सिर्फ़ दो-तीन बार हुआ था। देर तक मैं नहीं समझ पाया कि मैं क्या अनुभव कर रहा हूं। मुझे अस्पष्ट सा लगा कि मैंने चोरों जैसे छिपकर कांच के छत्ते में मधुमक्खियों को काम करते देखा है, हालांकि यह मर्त्य आदमी की निगाहों के परे है; मुझे लगा कि मैंने एक किसान बच्चे की अकलुष, आदिम आत्मा को भ्रष्ट कर दिया है। मैंने किसी अपवित्र कार्य के लिए अपने को पछताता हुआ सा अनुभव किया। मुझे वे बच्चे याद हो आये, जिन्हें निठल्ले और भ्रष्ट बूढ़े लोग अपनी थकी और चुकी हुई कल्पना को भड़काने के वास्ते मसखरापन दिखाने और अश्लील हरक़तें करने को विवश करते हैं, लेकिन इसके साथ ही मैं उस आदमी जैसे हर्षविभोर भी था, जिसने वह चीज़ देखी है, जो उससे पहले किसी ने नहीं देखी थी।

मैं देर तक न समझ सका कि जो मैं महसूस कर रहा हूं, वह क्या है, हालांकि मुझे यह ज़रूर लग रहा था कि यह उन चीज़ों में से है, जो प्रौढ़ावस्था में आदमी का मार्गदर्शन करती हैं, उसे जीवन के नये, ऊंचे चरण में पहुंचाती हैं और पुराने को त्यागकर पूर्णतः नये को समर्पित होने को बाध्य करती हैं। दूसरे दिन मुझे विश्वास नहीं हो पाया कि कल मैं ऐसा अनुभव कर रहा था। मुझे यह बड़ा विचित्र लगा कि एक निरक्षर किसान छोकड़ा सहसा ऐसी सचेतन सृजनात्मक शक्ति का प्रदर्शन करे, जो अपने विकास की पराकाष्ठा पर गेटे की भी पहुंच के बाहर होगी। मुझे यह बड़ा विचित्र और अपमानजनक लगा कि मैं 'बचपन' का लेखक, जिसकी कला-प्रतिभा को रूसी शिक्षित जनता द्वारा काफ़ी हद तक सराहा और स्वीकार किया गया है, कला के मामले में ग्यारहवर्षीय स्योम्का और फ़ेद्का को न केवल मार्गदर्शन या सहायता नहीं दे सकता, बल्कि बड़ी मुश्किल से – और वह भी उत्तेजना के सुखद क्षणों में ही – उनके पीछे चल पा रहा हूं और अपने को उन्हें समझने लायक़ बना सका हूं। मुझे यह इतना विचित्र लगा कि कल जो हुआ था, मैं उसपर विश्वास न कर सका।

दूसरे दिन शाम को हमने कहानी को आगे लिखना जारी रखा। जब मैंने फ़ेद्का से पूछा कि क्या उसने सोच लिया है कि कहानी आगे कैसे बढ़ेगी, उसने कोई जवाब न देते हुए हाथ को यों हिलाया कि जैसे प्रश्न अनावश्यक हो, और सिर्फ़ इतना कहा: "जानता हूं, जानता हूं। लिखने का काम कौन करेगा?" हम आगे लिखने लगे, और बच्चों की ओर से वैसा ही कलात्मक सत्य का बोध, संतुलन का बोध और तन्मयता फिर देखने को मिले।

पाठ जब आधे में था, मुझे उन्हें छोड़कर चले जाना पड़ा। मेरी ग़ैरहाज़िरी में उन्होंने लिखना जारी रखा और पहले पृष्ठों जैसे ही अच्छे ढंग से, अनुभूति के साथ और ठीक-ठीक दो पृष्ठ लिख डाले। उनमें सिर्फ़ ब्योरों की थोड़ी सी कमी थी और जो ब्योरे थे भी, वे कभी-कभी बिल्कुल सही जगह पर न थे और एक-दो बार दोहराये भी गये थे। यह सब शायद इसलिए हुआ था कि लिखने की क्रियाविधि कठिनाई पैदा कर रही थी। तीसरे दिन भी यही हुआ। इन पाठों के दौरान प्रायः दूसरे बच्चे भी आ जुटते और कहानी की विषयवस्तु तथा रुझान को जानने के कारण बहुत सी बातें अपनी ओर से भी सुझाते। स्योम्का कभी हट जाता, तो कभी फिर आ जाता। अकेला फ़ेद्का ही कहानी का सूत्र शुरू से आखिर तक थामे हुए था और सभी प्रस्तावित परिवर्तन उसके द्वारा ही जांचे जाते थे। कोई संदेह न था कि यह सफलता संयोग की बात थी, कि पहले की सभी युक्तियों से ज़्यादा स्वाभाविक और प्रेरणादायी यह युक्ति शायद अचानक ही हमें मिल गयी थी। फिर भी यह सब बहुत असामान्य था और मैं आंखों देखे पर विश्वास नहीं कर पा रहा था। जैसे कि मेरे रहे-सहे संदेहों को खत्म करने के लिए किसी और विशेष घटना की आवश्यकता थी। मुझे कुछ दिन के लिए कहीं जाना था और कहानी अधूरी ही छूट गयी। पांडुलिपि – पूरी तरह भरे हुए तीन बड़े पन्ने – अध्यापक के कमरे में पड़ी रही। मैंने वह अध्यापक को दिखा दी थी। हुआ यह कि मेरे जाने से पहले, यानी जिन दिनों हम कहानी लिख रहे थे, उन दिनों ही स्कूल में एक नया विद्यार्थी आया था और उसने हमारे बच्चों को दिखा दिया था कि काग़ज़ से पटाका कैसे बनाया जाता है। नतीजा यह हुआ कि सारे स्कूल में पटाके बनाये और बजाये जाने लगे। यह मेरी ग़ैरहाज़िरी के दौरान भी जारी रहा। स्योम्का और फ़ेद्का, जो स्कूल के कोरस

के गायकों में से थे, गाने के लिए अध्यापक के कमरे में आते थे और सारी-सारी शामें और कभी-कभी तो रातें तक यहीं बिताते थे। गाने के दौरान और बीच में स्वाभाविक है कि पटाके बजते रहते और जो भी काग़ज़ हाथ लगता, पटाके में बदल जाता। एक बार अध्यापक खाना खाने गया, तो कहना भूल गया कि मेज़ पर काम के काग़ज़ पड़े हुए हैं। नतीजे के तौर पर हुआ यह कि मकारोव, मोरोज़ोव और तोलस्तोय की रचना से भी पटाके बना लिये गये। दूसरे दिन पाठ से पहले पटाकों की तड़-तड़ाक से खुद विद्यार्थी इस हद तक अघा गये कि वे उनके दुश्मन बन बैठे और सभी पटाकों को इकट्ठा करके पूरी औपचारिकता के साथ आग के समर्पण कर दिया गया। पाटकों का दौर खत्म हो गया, लेकिन उसके साथ ही हमारी पांडुलिपि भी नष्ट हो गयी। मेरे लिए जितनी गंभीर इन तीन लिखे हुए पन्नों की क्षति थी, उतनी गंभीर कभी कोई और क्षति नहीं थी। समझ में नहीं आता था कि क्या करूं। आखिरकार सब कुछ भुलाकर मैंने नयी कहानी शुरू करने की सोची, पर क्षति को भूल न सका और अनजाने ही अध्यापक को और पटाके बनानेवालों को उलाहने देने लग जाता। (इस प्रसंग में मैं इसका उल्लेख किये बिना नहीं रह सकता कि बाह्य अव्यवस्था और विद्यार्थियों की पूर्ण स्वतंत्रता की बदौलत ही, जिसका श्री मार्कोव 'रूस्की वेस्तनिक' में उपहास करते हैं, मैं पांडुलिपि से पटाके बनाये जाने और फिर उन्हें आग की भेंट किये जाने के क़िस्से की सभी तफ़सीलें बिना किसी कठिनाई, धौंस-धमकी या चालाकी के जान सका।) स्योम्का और फ़ेद्का देख रहे थे कि मैं दुखी हूं और मुझसे हमदर्दी के बावजूद शायद उसकी वजह नहीं समझ पा रहे थे। आखिरकार फ़ेद्का झिझकते-झिझकते कह ही बैठा कि वे वैसी ही कहानी फिर लिख सकते हैं। "अकेले?" मैंने कहा, "ध्यान रखना, मैं मदद नहीं करूंगा।" "मैं और स्योम्का रात को यहीं रह लेंगे," फ़ेद्का बोला। और सचमुच पाठ के बाद नौ बजे वे आये और अंदर से ताला लगाकर उन्होंने अपने को कमरे में बंद कर लिया, जिससे मुझे बड़ी खुशी हुई। कुछ देर हंसी-मज़ाक़ की आवाज़ें आने के बाद सब शांत हो गया और बारह बजे तक मैं जब-जब दरवाज़े के पास गया, मुझे भीतर से उनके आपस में धीरे-धीरे बातें करने और कलम के चलने की आवाज़ ही सुनायी दी। सिर्फ़ एक बार ही उनके बीच बहस हुई कि

पहले क्या लिखा था, और फ़ैसला करवाने वे मेरे पास आये। बारह बजे मैंने उनके कमरे का दरवाज़ा खटखटाया और भीतर दाख़िल हुआ। फ़ेद्का काली किनारीवाला नया सफ़ेद समूरी कोट ओढ़कर टांग पर टांग रखे आरामकुर्सी में बैठा हुआ था और एक हाथ की हथेली पर उसने अपना झबरैला सिर टिकाया हुआ था और दूसरे हाथ से पास ही पड़ी कैंची से खेल रहा था। उसकी बड़ी-बड़ी काली आंखों में एक अस्वाभाविक सी, मगर गंभीर और वयस्कों जैसी चमक थी और वे कहीं दूर देख रही थीं। ओंठों की मुद्रा ऐसी थी कि जैसे वे सीटी बजाने जा रहे हों, लेकिन शायद उनपर कोई शब्द रुका हुआ था, जिसे वह कल्पना में अच्छी तरह गढ़ लेने के बाद ही कहना चाहता था। स्योम्का लिखने की बड़ी मेज़ के सामने खड़ा था। उसने भेड़ की खाल का कोट पहना हुआ था, जिसके पीछे एक बड़ा सफ़ेद पैवंद लगा हुआ था (दर्ज़ी अभी हाल में गांव में आये थे), और कमरबंद खुला ही छोड़ रखा था। उसके बाल बिखरे हुए थे और वह दवात में कलम बार-बार डुबोता हुआ टेढ़ी-मेढ़ी पंक्तियों में लिख रहा था। मैंने उसका सिर हल्के से झंझोड़ दिया। उसकी असमंजस और नींद से भरी आंखें चौंककर मेरी ओर उठीं और इस समय उसका भारी चौड़ा चेहरा ऐसा हास्यजनक लग रहा था कि मैं खिल-खिलाकर हंस पड़ा, पर बच्चे नहीं हंसे। फ़ेद्का ने अपने चेहरे का भाव बदले बिना स्योम्का की आस्तीन छूकर इशारा किया कि वह लिखता रहे। फिर मेरी ओर मुड़कर कहा: "थोड़ा ठहर जा" (फ़ेद्का जब किसी काम में डूबा हुआ या उत्तेजित होता है, तो मुझे "तू" कहकर संबोधित करता है), और स्योम्का को कुछ और लिखवाया। मैंने उनसे कापी ली और कोई पांच मिनट बाद, जब वे आलमारी के पास बैठे आलू और क्वास का नाश्ता कर रहे थे, तो अपने लिए आश्चर्यजनक चांदी के चम्मचों को देखकर बच्चे अपनी गूंजती आवाज़ के साथ ठहाके लगाते हुए हंसने लग गये, हालांकि हंसने की वजह क्या थी, यह वे ख़ुद भी नहीं जानते थे। बाद में कोट उतारकर लिखने की मेज़ के नीचे सोने का इंतज़ाम करते समय भी उनकी किसानी जैसी, स्वस्थ और दिलकश हंसी रुकी नहीं। मैंने उनका लिखा हुआ पढ़ा। यह उसी का नया रूपांतर था। कुछ बातें छोड़ दी गयी थीं और कुछ नयी, कलात्मक सौंदर्ययुक्त, जोड़ दी गयी थीं। सौंदर्य, सत्य और संतुलन का वही

बोध फिर दिखायी दे रहा था। आगे चलकर पुरानी पांडुलिपि का एक पन्ना मिल गया। छपी हुई कहानी में मैंने इस पन्ने के आधार पर पुराने रूपांतर को याद करते हुए दोनों रूपांतरों को मिला दिया। यह कहानी वसंत के आरंभ में, यानी हमारा शिक्षा वर्ष ख़त्म होने से कुछ पहले लिखी गयी थी। कुछ कारणों से मैं नये प्रयोग न कर सका। कहावतों के आधार पर दो सबसे साधारण योग्यतावाले और सबसे बिगड़े हुए लड़कों द्वारा सिर्फ़ एक कहानी लिखी गयी। जो फ़ेद्का तथा स्योम्का के साथ और उनकी कहानी के साथ हुआ था, वही इन लड़कों और उनकी लिखी कहानी के साथ भी हुआ, अंतर सिर्फ़ प्रतिभा तथा लगन और मेरी ओर से मिले सहयोग की मात्रा का था।

गरमियों में हमारे यहां पढ़ाई नहीं होती। फिर भी गरमियों का कुछ हिस्सा फ़ेद्का और दूसरे बच्चे मेरे साथ बिता रहे थे। एक रोज़ जीभर नहाने और खेलने के बाद उन्हें पढ़ाई करने की इच्छा हुई। मैंने उन्हें निबंध लिखने को कहा और कुछ विषय भी बताये। मैंने उन्हें एक पैसों की चोरी का काफ़ी दिलचस्प क़िस्सा, एक हत्या का क़िस्सा, एक रस्कोल्निक को आर्थोडाक्स ईसाई धर्म का अनुयायी बनाये जाने का मजेदार क़िस्सा सुनाया, जिन्हें वे अपने शब्दों में लिख सकते थे। इसके अलावा मैंने उन्हें आत्मकथात्मक शैली में एक ऐसे लड़के की कहानी लिखने की बात भी सुझायी, जिसके ग़रीब और शराबी बाप को फ़ौज में भरती कर दिया गया था, जहां से वह एक सुधरा हुआ और अच्छा आदमी बनकर घर लौटता है। मैंने कहा: "मैं इस कहानी को ऐसे लिखता। मुझे याद है कि जब मैं छोटा था, मेरी मां थी, पिता था, कुछ और रिश्तेदार भी थे। मुझे यह भी याद है कि वे कैसे लोग थे। आगे लिखता कि कैसे पिता शराब पीता रहता था, मां हर समय रोती रहती थी और पिता उसे पीटता था; इसके बाद यह कि कैसे पिता को फ़ौजी बना दिया गया, मां कैसे ढाड़ें मार-मारकर रोयी, कैसे हमारा जीवन और भी बदतर हो गया, कैसे पिता फ़ौज से घर लौटा और मैं जैसे कि उसे पहचान नहीं पाया और वह पूछता है कि मत्र्योना – यह जैसे कि मेरी मां का नाम था – क्या राज़ी-ख़ुशी है, और कैसे बाद में सब बहुत ख़ुश हुए और आनंदपूर्वक रहने लगे।" बस शुरू में मैंने उन्हें इतना ही बताया। फ़ेद्का को यह विषय बहुत पसंद आया और कलम उठाकर वह तुरंत लिखने बैठ

18–942

गया। उसके लिखने के दौरान मैंने उसे सिर्फ़ यही सुझाया कि उसकी कहानी में एक बहन भी हो और मां की बीच में मौत हो जाने की कल्पना की गयी हो। बाक़ी सब उसने ख़ुद लिखा और पहले अध्याय के अलावा मुझे तब तक न दिखाया, जब तक कहानी ख़त्म न हो गयी। जब उसने मुझे पहला अध्याय दिखाया और मैं उसे पढ़ने लगा, तो मुझे लगा कि वह अत्यधिक उत्तेजित है और सांस रोके कभी अपने लिखे पन्ने को देख रहा है, तो कभी मेरे चेहरे को, और उसके भाव से जानना चाहता है कि मुझे लिखा हुआ पसंद आया है या नहीं। जब मैंने उसे बताया कि बहुत अच्छा लिखा है, वह सारा खिल उठा, लेकिन मुझसे कुछ कहा नहीं और ग़ुस्सा दिलाने की हद तक धीमी चाल से कापी के साथ मेज़ तक पहुंचा, उसे वहां रखा और बाहर अहाते में चला गया। अहाते में वह उस रोज़ बच्चों के साथ बहुत ही हंसी-मज़ाक़ कर रहा था और जब-जब हमारी आंखें मिलतीं, तो मैं उसे कृतज्ञता और स्नेह से परिपूर्ण दृष्टि से अपनी ओर देखते पाता। एक दिन बाद वह भूल गया कि उसने क्या लिखा था। मैंने सिर्फ़ शीर्षक सोचा, अध्यायों में बांटा और कहीं-कहीं असावधानीवश हुई ग़लतियों को सुधारा। अपने अंतिम रूप में यह कहानी पत्रिका में 'एक फ़ौजी की बीवी का जीवन' शीर्षक से छापी जा रही है।

मैं पहले अध्याय की बात नहीं करता, हालांकि उसमें भी कई अनुपम सौंदर्ययुक्त स्थल हैं और अपने पश्चात्ताप की बात स्वीकार करने पर शरमानेवाले तथा अपने बेटे की फ़िक्र करने की ग्राम समुदाय से प्रार्थना करने में ही शिष्टता समझनेवाले लापरवाह गोर्देई का अत्यंत यथार्थ और सजीव चित्रण किया गया है। इसके बावजूद यह कहानी का सबसे कमज़ोर भाग है। और इसका दोषी सिर्फ़ मैं हूं, क्योंकि इसके लिखे जाते समय मैं लेखक को बताने या सुझाने से अपने को न रोक सका था कि उसकी जगह पर किसी प्रसंग को मैं कैसे लिखता। अगर कहानी की शुरूआत में, पात्रों और घर के चित्रण में कुछ घटियापन है, तो इसका दोषी भी एकमात्र मैं हूं। मुझे विश्वास है कि अगर मैं दख़ल न देता, तो फ़ेद्का उसी चीज़ को अधिक सहज और कलात्मक ढंग से चित्रित करता और हमारे यहां यह जो फूहड़ता की हद तक पहुंच चुकी शैली प्रचलित है कि एक निश्चित तार्किक क्रम का पालन किया जाये, यानी पहले पात्रों और उनकी जीवनी का विवरण आये,

फिर स्थान और परिवेश का वर्णन हो और इसके बाद ही वास्तविक कहानी आरंभ हो, उस शैली के चक्कर में न पड़ता। आश्चर्य की बात तो यह है कि ये सभी वर्णन और चित्रण, जो कभी-कभी दसियों पन्ने घेरते हैं, पाठक को पात्रों के बारे में उस कलात्मक टिप्पणी की अपेक्षा कहीं कम जानकारी देते हैं, जो पहले ही चित्रित न कर दिये गये पात्रों के बीच शुरू हुए घटना-व्यापार के दौरान यों ही कर दी जाती है। पहले अध्याय में इस तरह की एक टिप्पणी या उक्ति है। गोर्देई जब भाग्य के सामने हथियार डालते हुए फ़ौजी बनने को तैयार हो जाता है और गांव के लोगों से उसके बेटे का ध्यान रखने की प्रार्थना करता है, उस समय उसके मुंह से निकलता है: "मैं इसी का हक़दार था।" ये शब्द पाठक को गोर्देई के बारे में उसके कपड़ों, उसकी सूरत-शक्ल, उसकी शराबख़ाने में सारा-सारा दिन बिता डालने की आदत के कई बार दोहराये गये और मेरे द्वारा थोपे गये चित्रण की तुलना में कहीं ज़्यादा बता देते हैं। ठीक ऐसा ही प्रभाव बुढ़िया के, जो हर समय बेटे को गालियां देती रहती थी, शब्द भी पैदा करते हैं, जब वह दुख में ईर्ष्यावश अपनी बहू से कहती है: "बहुत हो गया, मत्र्योना! क्या किया जाये! शायद ईश्वर को यही मंजूर था! तू अभी जवान है और तुझे तो मिलने का मौक़ा फिर भी मिल जायेगा। लेकिन मेरी कितनी उम्र हो चुकी है... हमेशा बीमार भी रहती हूं... कभी भी मर सकती हूं।"

दूसरे अध्याय में भी घटियापन और भ्रष्टता के रूप में मेरा प्रभाव थोड़ा-बहुत बना रहता है, लेकिन दृश्यों के चित्रण और लड़के की मृत्यु के चित्रण की गहन कलात्मकता सभी दोषों का निराकरण कर देती है। मैंने सुझाया था कि लड़के की टांगें दुबली-पतली हों, कि चाचा नेफ्योद द्वारा लड़के के लिए ताबूत बनाने का भावुकतापूर्ण दृश्य शामिल किया जाये। मगर पाठक के सामने स्थिति की सारी असलियत को इस सबसे भी ज़्यादा जो चीज़ उघाड़कर रखती है, वह है मां का यह संक्षिप्त सा विलाप कि "हे प्रभु, कब होगा इस बेचारे के जीवन का अंत!" उसके बाद यह रात, जिसमें बड़ा भाई मां के आंसुओं से जाग जाता है, दादी के सवाल का कि 'क्या हो गया है,' मां द्वारा साधारण से शब्दों में उत्तर दिया जाना कि "मेरा बेटा मर गया है", और फिर दादी का उठना, आग जलाना और नन्हे से शरीर को

नहलाना – यह सब फ़ेद्का का अपना है, यह सब इतना संक्षिप्त, इतना सामान्य और इतना सशक्त है कि न एक भी शब्द छोड़ा जा सकता है, न एक भी शब्द बदला जा सकता है और न एक भी शब्द उसमें जोड़ा जा सकता है। केवल पांच पंक्तियां हैं और इन पांच पक्तियों में पाठक के लिए इस दुखभरी रात का सारा चित्र और ६-७ वर्ष के लड़के की कल्पना में प्रतिबिंबित सारा चित्र पेश कर दिया गया है: "आधी रात को मां एकाएक रोने लग गयी। दादी जग गयी और पूछती है: हे प्रभु, क्या हो गया है तुझे? मां जवाब देती है: मेरा बेटा मर गया है। दादी ने आग जलायी, बच्चे को नहलाया, कमीज पहनायी, **कमरबंद बांधा** और देवमूर्तिवाले कोने में रख दिया। जब सुबह हुई..." आपको खुद लड़का दिखायी देता है, जो मां के रोने की जानी-पहचानी आवाज़ से जाग गया है, और झोंपड़ी में जो हो रहा है, उसे अंगीठी के ऊपर लेटे और अपने ओढ़ने – एक बड़े कोट – के नीचे से उनींदी, सहमी-सहमी और चमकती आंखों से देख रहा है; आपको यह तकलीफ़ों की मारी, बेहद थकी हुई फ़ौजी की बीवी दिखायी देती है, जिसने एक ही दिन पहले कहा था: "कब होगा इस बेचारे के जीवन का अंत!" और जो अब पछता रही है और इस बेचारे के अंत के ख़याल से इतनी खिन्न है कि सिर्फ़ इतना कहती है: "मेरा बेटा मर गया है," और नहीं जानती कि क्या करे और मदद के लिए बुढ़िया को बुलाती है; आपको यह जीवन के दुख-दर्द भुगतते-भुगतते थक चुकी बुढ़िया भी दिखायी देती है, जिसकी कमर झुक गयी है, बदन में सिर्फ़ हड्डियां ही शेष रह गयी हैं और जो मेहनत के आदी हाथों से धीरे-धीरे, बिना किसी जल्दबाज़ी के ज़रूरी काम करने लगती है: आग जलाती है, पानी लाती है, लड़के को नहलाती है और हर चीज अपनी जगह रख देती है – नहलाया हुआ, कमर पर बंधा हुआ लड़का देवमूर्तियों के नीचे रखा हुआ है। और आपको ये देवमूर्तियां और यह भोर तक नींद से रहित सारी रात भी दिखायी देती है; आपको लगता है कि अंगीठी के ऊपर बड़े कोट के नीचे से झांकनेवाले लड़के ने जो कुछ भुगता है, वह मानो आपने भी भुगता है, और अपनी सभी तफ़सीलों के साथ यह रात आपकी कल्पना में उभरती है और देर तक बनी रहती है।

तीसरे अध्याय में मेरा प्रभाव काफ़ी कम है। देखभाल करनेवाली

बड़ी बहन का सारा व्यक्तित्व फ़ेद्का की कल्पना है। पहले अध्याय में ही उसने केवल एक वाक्य द्वारा उसका परिवार के साथ संबंध स्पष्ट कर दिया। "वह जल्दी ही शादी करनेवाली थी और दहेज के लिए काम कर रही थी।" अकेला यह वाक्य ही लड़की की, जो परिवार के दुख-सुख में भाग न तो ले सकती है और न लेती ही है, पूरी तसवीर उपस्थित कर देता है। उसका अपना वैध स्वार्थ है, विधाता द्वारा उसके लिए तय किया हुआ उसका एकमात्र लक्ष्य है – शादी करना, अपना परिवार बनाना। हमारे लेखक बंधु, विशेषत: जो नैतिकता के अनुकरणीय उदाहरण पेश करके जनता को सीख देना चाहते हैं, उसके सिलसिले में अनिवार्यत: परिवार के दुख-सुख में उसकी सहभागिता का सवाल उठाते। वे उसे या तो उदासीनता की शर्मनाक मिसाल बनाते, या प्रेम तथा आत्मत्याग की मूर्ति, और तब कहानी में बड़ी बहन की कल्पना तो होती, पर उसके रूप में एक जीवंत पात्र न होता। जिस आदमी ने जीवन का गहरा अध्ययन किया है और उसे जानता है, सिर्फ़ वही समझ सकता था कि लड़की के लिए परिवार के दुख का सवाल, पिता के फ़ौज में ले लिये जाने का सवाल ठीक ही गौण महत्त्व रखेंगे, क्योंकि उसके लिए मुख्य अपनी शादी का सवाल है। और इसे कलाकार, भले ही वह बच्चा हो, अपनी सीधी-सादी आत्मा में ख़ूब देखता है। अगर हम उसे परदुखकातर और आत्मत्यागी लड़की चित्रित करते, तो हम उसकी कल्पना तक न कर सकते, उसे वैसे प्यार न कर पाते, जैसे अब करते हैं। मुझे अब यह भरे हुए लाल-लाल गालोंवाली लड़की बड़ी सहज और सजीव लगती है, जो अपनी कमाई के पैसों से ख़रीदी हुई जूतियां और लाल सूती कपड़े का रूमाल पहनकर शाम को सामूहिक नृत्य व गान में हिस्सा लेने भागती है और अपने परिवार से प्रेम करती है, हालांकि उस ग़रीबी और जाहिलियत को झेलने को मजबूर है, जो उसके भीतरी मिज़ाज से कतई मेल नहीं खाते। मुझे लगता है कि वह नेकदिल है, क्योंकि मां ने उसकी कभी कोई शिकायत नहीं की है और उससे कोई दुख नहीं पाया है। बल्कि इसके उल्टे मुझे लगता है कि वह अकेली ही कपड़ों-पोशाकों से संबंधित अपनी चिंताओं, गीतों की गुनगुनाहट और गरमियों में काम के दौरान अथवा सरदियों में पास-पड़ोस के या राह चलते लोगों से सुने हुए गांव-देहात के क़िस्से-कहानियों से फ़ौजी की बीवी के एकाकीपन के विषादभरे दौर में उल्लास, यौवन तथा आशा

का प्रतीक बनी हुई थी। वह ऐसे ही नहीं कहता है कि खुशी की अकेली बात यह थी कि लड़की की शादी कैसे हुई थी, और वह शादी की हंसी-खुशी का जो इतने चाव से और विस्तार से वर्णन करता है, वह भी बिला वजह नहीं है, न ही बिला वजह शादी के बाद मां के मुंह से यह कहलवाया गया है कि "अब तो हम पूरी ही तरह तबाह हो गये।" लगता है कि लड़की के पतिगृह चले जाने से वे उस थोड़े-बहुत हर्षोल्लास को भी खो बैठे हैं, जो घर में उसकी वजह से बना रहता था। शादी का यह सारा चित्रण असामान्य रूप से सुंदर है। यहां ऐसी तफ़सीलें हैं, जो सहज ही चकित कर देती हैं और यह याद करके कि यह सब एक ग्यारहवर्षीय लड़के ने लिखा है, आप अपने से पूछते हैं: क्या सचमुच यह संयोग नहीं है? इस संक्षिप्त और सशक्त चित्रण से एक ऐसे सातवर्षीय बच्चे का बिंब उभरता है, जो मेज़ से ज़्यादा ऊंचा नहीं है, मगर जिसकी आखों से बुद्धिमानी और सतर्कता टपकती है, जिसपर कोई ध्यान नहीं देता, लेकिन जो सब कुछ देखता और याद रखता है। उसे जब, उदाहरण के लिए, रोटी की इच्छा हुई, तो फ़ेद्का यह नहीं कहता कि उसने मां से रोटी मांगी, बल्कि यह कहता है कि उसने मां के **कान में कुछ कहा**। ऐसा संयोगवशात् नहीं, बल्कि इसलिए कहा गया है कि बच्चा जब इतने क़द का होता है, तो उसका मां से कैसा संबंध होता है, यह फ़ेद्का को याद है, उसे मां से दूसरों के सामने संकोचभरे और अकेले में अत्यंत आत्मीयतापूर्ण संबंध याद हैं। शादी की रस्म के दौरान वह जो और बहुत सी बातें देख सका था, उनमें से उसने ठीक उन्हें ही याद रखा और बयान किया है, जो उसकी और हममें से प्रत्येक की नज़रों में इन रस्मों के सारे स्वरूप पर प्रकाश डालती हैं। जब शादी की दावत में आये लोग "गोर्को! गोर्को!"* चिल्लाये, तो बहन ने कोंद्राश्का का सिर दोनों हथेलियों के बीच पकड़ लिया और चूमने लग गयी। बाद में दादी की मौत, मौत से पहले बेटे की याद, मां के दुख का विशेष स्वरूप, आदि आते हैं और यह सब बहुत ठोस तथा घनीभूत है और फ़ेद्का का अपना ही है।

* यानी कि दावत में पिलायी जानेवाली शराब कड़वी है, जिसे नवदंपति सबके सामने एक दूसरे को चूमकर ही मीठी बना सकते हैं। अतः लोगों के "गोर्को!" चिल्लाने पर नवदंपति का एक दूसरे को चूमना अनिवार्य होता है।

कहानी के लिए विषय बताते हुए मैंने उसे सबसे ज़्यादा पिता के लौटनेवाले प्रसंग के बारे में बताया था। मुझे यह प्रसंग अच्छा लगा था और मैंने घटिया भावुकतापूर्ण शैली में उसका वर्णन किया था, लेकिन उसे भी सबसे ज़्यादा पसंद यही प्रसंग आया, और उसने मुझसे कहा: "ज़्यादा बताने की ज़रूरत नहीं, मैं खुद सब कुछ जानता हूं।" वह लिखने लग गया और यहां से आगे सारी कहानी उसने एक ही बैठक में लिख डाली। मुझे अन्य क़द्रदानों की राय जानकर बड़ी प्रसन्नता होगी, पर मैं समझता हूं कि मुझे भी सबके सामने अपनी राय पेश करनी चाहिए। सारे रूसी साहित्य में मुझे इन पन्नों जैसा और कुछ नहीं मिला है। इस सारी मुलाक़ात में इसका एक भी संकेत नहीं है कि यह मर्मस्पर्शी था। घटनाओं को ज्यों का त्यों बयान कर दिया गया है, और घटनाओं में से भी सिर्फ़ उन्हीं को लिया गया है, जो पाठकों के लिए सभी पात्रों की स्थिति को समझने में सहायक हो सकती हैं। फ़ौजी घर लौटकर सिर्फ़ तीन ही शब्द कहता है। शुरू में वह कुछ रोबीले, कठोर स्वर में कहता है: "**नमस्ते**।" फिर जब अपनी इस ओढ़ी हुई भूमिका को भूला, तो कहता है: "**यह क्या, सिर्फ़ तुम लोग ही हो?**" और फिर अगले शब्द जैसे कि सब कुछ कह देते हैं: "**और मेरी मां कहां है?**" सभी कितने सामान्य और स्वाभाविक शब्द हैं, और किसी को भी भुलाया नहीं गया है! लड़का खुशी के मारे रो भी पड़ता है; पर वह बच्चा है और इसलिए तुरंत, इसके बावजूद कि पिता रो रहा है, उसका थैला, जेबें टटोलने लग जाता है। बहन को भी नहीं भुलाया गया है। यह लाल-लाल गालोंवाली जवान औरत शरमाते-शरमाते घर में घुसती है और कुछ भी कहे बिना बाप को चूम लेती है। फ़ौजी, जिसका खुशी के मारे सिर चकरा रहा है और जो हर सामने पड़नेवाले को, चाहे वह कोई भी हो, चूमे जा रहा है, पहचान जाता है कि जवान औरत उसकी बेटी है, और वह उसे फिर अपने पास बुलाता है और अब उसे किसी भी जवान औरत के तौर पर नहीं, बल्कि बेटी के तौर पर चूमता है – उस बेटी के कि जिसे उसने कभी बेरहमी से छोड़ दिया था।

पिता सुधर गया है। हम होते, तो इस संबंध में कितनी फ़ालतू, ऊटपटांग बातें कह डालते। मगर फ़ेद्का बस इतना बताता है कि बहन

शराब लाती है, मगर पिता पीता नहीं। आप उस औरत को देखते हैं, जो थैले में से आखिरी २३ कोपेक निकालकर, हांफते-हांफते ड्योढ़ी में आकर चुपके से जवान औरत को शराब लाने भेजती है और उसकी हथेली में तांबे के सिक्के डाल देती है। आप इस जवान औरत को देखते हैं, जो एक हाथ में कपड़ा समेटे और दूसरे हाथ में बोतल पकड़े हुए एड़ियों से ठक-ठक कर रही है तथा कुहनियां चला रही है, और फिर बोतल के साथ शराबख़ाने की ओर दौड़ पड़ती है। आप देखते हैं कि कैसे वह झेंपते हुए घर में घुसती है, बोतल को कपड़े के नीचे से निकालती है और मां आत्मसंतोष तथा उल्लास के साथ उसे मेज़ पर रखती है और यह देखकर बुरा भी मानती है तथा खुश भी होती है कि उसका पति बोतल में कोई दिलचस्पी नहीं दिखाता। यानी कि अगर वह ऐसे अवसर पर भी नहीं पीता, तो इसका मतलब है कि सचमुच सुधर गया है। आप अनुभव करते हैं कि घर के सभी लोग जैसे कि बिल्कुल दूसरे बन गये हैं। "मेरे पिता ने ईश्वर-प्रार्थना की और फिर मेज़ पर बैठ गये। मैं उनकी बग़ल में बैठा और बहन तख़्त पर। मां मेज़ के पास खड़ी थी और पिता की ओर देखते हुए बोली: 'पहले से जवान लगने लगे हो! और तो और, दाढ़ी भी नहीं है।' सभी हंस पड़े।"

जब सब चले गये, तभी असली पारिवारिक बातें शुरू हुईं। "दिन गुज़र गया। शाम हो गयी। बत्ती जलायी गयी। मेरे पिता ने किताब उठायी और पढ़ने लगे। मैं उनके पास बैठा सुन रहा था और मां ढिबरी से किताब पर उजाला किये हुई थी। पिता देर तक किताब पढ़ते रहे। बाद में सब सोने चले गये। मैं पीछेवाले तख़्त पर पिता के साथ लेटा और मां हमारे पैरों के पास। वे देर तक, लगभग आधी रात तक बातें करते रहे। बाद में उन्हें भी नींद आ गयी।"

फिर वही साधारण, ज़रा भी चकित न करनेवाली, मगर साथ ही गहरी छाप छोड़ जानेवाली तफ़सील – यह कि वे कैसे सोये: बाप बेटे के साथ लेटा, मां उनके पैरों के पास और देर तक न अघानेवाली बातें। मैं सोच सकता हूं कि कैसे बेटा खुशी से फूला न समाता हुआ पिता के सीने पर लिपटकर सोया होगा और कच्ची नींद में ये आवाज़ें सुन रहा होगा, जिनमें से एक उसने अरसे से नहीं सुनी थी। लगता है कि कहानी यहां ख़त्म हो जायेगी। पिता लौट आया है और ग़रीबी

ख़त्म हो गयी है। मगर नहीं, फ़ेद्का को इससे संतोष नहीं होता (शायद ये कल्पित लोग उसके मन में गहरे बस गये हैं) और वह उनके बदले हुए जीवन की कल्पना करता है और इसका साफ़-साफ़ अहसास देना चाहता है कि यह औरत अब मुसीबत की मारी, छोटे बच्चों के साथ अकेली रह गयी सिपाही की बीवी नहीं है, कि घर में अब एक ताक़तवर मर्द भी है, जो उसके कंधों से दुखों और कष्टों के असह्य बोझ को उतार डालेगा और आत्मविश्वास, दृढ़ता तथा उल्लास के साथ नये जीवन का प्रवर्तन करेगा। और इसके लिए वह सिर्फ़ एक और दृश्य की परिकल्पना करता है: हृष्ट-पुष्ट भूतपूर्व फ़ौजी एक भोंथरे कुल्हाड़े से लकड़ी फाड़ता है और घर के भीतर लाता है। आप पाते हैं कि सूक्ष्मदृष्टि लड़का, जो अब तक दुर्बल-शरीर मां और दादी की कराहटों का ही आदी था, आश्चर्य, आदर और गर्व से पिता की बलिष्ठ भुजाओं को, मेहनत करते पुरुष की सांस के साथ उठते-गिरते कुल्हाड़े की चोटों को और इन चोटों से टुकड़े-टुकड़े होते लकड़ी के कुंदे को देख रहा है। और इस तरह आपको भी फ़ौजी की बीवी के भावी जीवन के बारे में इत्मीनान हो जाता है।

"सुबह मां उठी और पिता को जगाते हुए बोली: गोर्देई, उठो! अंगीठी सुलगाने के लिए लकड़ी चाहिए। पिता ने उठकर जूता, टोपी पहने और पूछा: कुल्हाड़ा है? मां ने जवाब दिया: है तो एक भोंथरा, बिल्कुल बेकार। मेरे पिता ने उसे दोनों हाथों से मज़बूती से उठाया, लकड़ी के कुंदे के पास आया, उसे खड़ा किया और पूरी ताक़त से उसपर कुल्हाड़े से चोट की। कुंदा दो टुकड़े हो गया और फिर और भी छोटे-छोटे टुकड़े करके पिता उसको घर के भीतर ले आया। मां घर को गरमाने लगी और थोड़ी ही देर में बाहर खूब उजाला हो गया।"

पर कलाकार के लिए यह भी कम है। वह आपको उनके जीवन का दूसरा पहलू, उनके खुशीभरे पारिवारिक जीवन की काव्यमयता भी दिखाना चाहता है और इसके लिए वह निम्न दृश्य की कल्पना करता है:

"बाद में पिता मेज़ के पास आकर बैठ गये, मुझे अपनी बग़ल में बिठाया और ज़ोर से कहा: लाओ, फ़ेद्का की अम्मा, हमें खाना दो! हम खाना चाहते हैं!"

हम खाना चाहते हैं और बग़ल में बिठाया – इन शब्दों से कितना प्यार और प्यार का सुखद गर्व झलकता है! शायद इस सारी बढ़िया कहानी में इस अंतिम दृश्य से अधिक मोहक और आत्मीयतापूर्ण और कुछ नहीं है।

लेकिन इस सबसे हम कहना क्या चाहते हैं? शैक्षिक दृष्टि से यह एक लड़के द्वारा, चाहे वह कितना भी असाधारण क्यों न हो, लिखी हुई कहानी क्या महत्त्व रख सकती है? हमें कहा जायेगा: "आपने शायद अध्यापक होने की वजह से अनजाने ही इन सभी कहानियों के लिखे जाने में मदद दी है, और जो आपका है और जो मौलिक है, उनकी सीमा को पहचानना अत्यंत कठिन है।" हमें कहा जायेगा: "मान लिया कि कहानी अच्छी है, लेकिन यह तो साहित्य की एक ही विधा है।" हमें कहा जायेगा: "फ़ेद्का, आदि जिन लड़कों की रचनाएं आपने छापी हैं, वे तो सुखद अपवाद हैं।" हमें कहा जायेगा: "आप खुद लेखक हैं और आपने न जानते हुए ही विद्यार्थियों की ऐसे तरीक़ों से मदद की है, जिन्हें आम तौर पर अन्य अध्यापक – ग़ैर लेखक – इस्तेमाल नहीं करते हैं।" हमें कहा जायेगा: "इस सबके आधार पर किसी नियम या सिद्धांत का निरूपण नहीं किया जा सकता। ज़्यादा से ज़्यादा यह एक दिलचस्प परिघटना ही है।"

मैं अपने निष्कर्षों को यों पेश करने की कोशिश करूंगा कि उनसे इन संभावित आपत्तियों का उत्तर मिल जाये।

सत्य, सौंदर्य और नेकी जैसी भावनाएं इसपर निर्भर नहीं होतीं कि मानव कितना विकास कर चुका है। सत्य, सौंदर्य और नेकी ऐसी संकल्पनाएं हैं, जो सत्य, सौंदर्य और नेकी के अर्थ में संबंधों के सामंजस्य को ही व्यक्त करती हैं। झूठ सत्य के अर्थ में संबंधों का असामंजस्य ही है, क्योंकि निरपेक्ष सत्य नाम की कोई चीज़ नहीं होती। मैं जब यह कहता हूं कि उंगलियों के छूने से मेज़ें घूमती हैं, तो मैं झूठ नहीं बोल रहा होता हूं, बेशक अगर मुझे अपने कहे हुए में विश्वास है, हालांकि यह सत्य नहीं है; लेकिन तब मैं झूठ बोल रहा होता हूं, जब मैं कहता हूं कि मेरे पास पैसे नहीं हैं, हालांकि मेरी अपनी ही धारणाओं के अनुसार मेरे पास पैसे हैं। नाक चाहे कितनी भी बड़ी क्यों न हो, वह भद्दी नहीं होगी, लेकिन अगर चेहरा छोटा है, तो थोड़ी सी बड़ी नाक भी भद्दी कही जायेगी। कुरूपता मात्र सौंदर्य के संबंध में असामंजस्य

है। आप अपना भोजन किसी ग़रीब को दे देते हैं या ख़ुद खा लेते हैं, इसमें अपने आपमें कोई बुराई नहीं है, किंतु जब मां भूख से मर रही हो, तो यह भोजन किसी और को दे देना या ख़ुद खा लेना नेकी के अर्थ में संबंधों में असामंजस्य है। बच्चे का पालन करते हुए, उसे शिक्षित बनाते हुए या किसी अन्य प्रकार से उसपर प्रभाव डालते हुए हमारा अचेतन रूप से एक लक्ष्य होना चाहिए, और ऐसा लक्ष्य होता भी है: सत्य, सौंदर्य और नेकी के अर्थ में अधिकतम सामंजस्य की स्थिति प्राप्त करना। यदि समय न गुज़रता, यदि बच्चे के जीवन के अनेकानेक पहलू न होते, हम मज़े से यह सामंजस्य स्थापित कर सकते थे: जहां कमी पाते, वहां जोड़ सकते थे और जहां आधिक्य पाते, वहां घटा सकते थे। किंतु बच्चे के जीवन का, अस्तित्व का हर पहलू विकास करता जाता है, दूसरे पहलुओं से आगे निकलने की कोशिश करता है और अधिकांशतः हम इन पहलुओं के आगे बढ़ते जाने को ही लक्ष्य मान बैठते हैं और विकास के सामंजस्य में नहीं, अपितु सिर्फ़ विकास में ही मदद करते हैं। सभी शिक्षाशास्त्रीय सिद्धांतों की आधारभूत त्रुटि यही है। हम अपना आदर्श आगे देखते हैं, जबकि वह हमारे पीछे होता है। मनुष्य का आवश्यक विकास न सिर्फ़ सामंजस्य के उस आदर्श की प्राप्ति का साधन नहीं है, जो हमारे भीतर विद्यमान है, बल्कि सामंजस्य के सर्वोच्च आदर्श की प्राप्ति के मार्ग में स्रष्टा द्वारा खड़ी की गयी बाधा है। आगे बढ़ते जाने के इस अटल नियम में ही भलाई और बुराई के ज्ञान रूपी वृक्ष के उस फल का सार निहित है, जिसे हमारे पुरखे आदम ने चखा था। जब स्वस्थ बच्चा पैदा होता है, तो वह सत्य, सौंदर्य और नेकी के संबंध में पूर्ण सामंजस्य की उन मांगों को हर प्रकार से पूरा करता है, जो हम अपने में लिये होते हैं; वह प्राणहीन वस्तुओं, वनस्पतियों, पशुओं, यानी प्रकृति के निकट होता है, जो हमारा निरंतर उस सत्य, सौंदर्य और नेकी से साक्षात्कार करवाती रहती है, जिन्हें हम खोजते हैं और चाहते हैं। सभी युगों में और सभी जातियों में शिशु को कलुषहीनता, पापहीनता, भलाई, सत्य और सौंदर्य का प्रतिरूप समझा जाता है। मनुष्य जब जन्म लेता है, तो वह अपने में पूर्ण होता है – यह रूसो की एक महान उक्ति है, और यह उक्ति पत्थर की भांति दृढ़ तथा सत्य है।

मनुष्य जब जन्मता है, तो वह सामंजस्य, सत्य, सौंदर्य और

नेकी का प्रतिरूप होता है। किंतु फिर ज्यों-ज्यों समय गुज़रता जाता है, उन संबंधों का अंतराल, संख्या तथा काल बढ़ते जाते हैं, जो उसके जन्म के समय पूर्ण सामंजस्य की स्थिति में थे, और हर नया क़दम, हर नया क्षण इस सामंजस्य के भंग होने का ख़तरा पैदा करते हैं, जो लगातार बढ़ता ही जाता है। नतीजे के तौर पर विनष्ट सामंजस्य की पुनर्स्थापना की आशा भी समाप्त होती जाती है।

शिक्षक लोग अधिकांशतः इस तथ्य को अनदेखा कर डालते हैं कि बाल्यावस्था सामंजस्य का प्रतिमान है। वे बच्चे के विकास को ही, जो स्वतंत्र रूप से तथा अपने अटल नियमों के अनुसार होता रहता है, लक्ष्य मान बैठते हैं। विकास को ग़लती से लक्ष्य इस कारण माना जाता है कि शिक्षकों के साथ भी वही बात होती है, जो ख़राब मूर्तिकारों के साथ हुआ करती है।

इसके बजाय कि जहां-तहां होनेवाले असंतुलित विकास को रोकने अथवा सामान्य विकास को रोकने की कोशिश की जाये, इसके बजाय कि ग़लती के सुधरने के लिए उस ख़राब मूर्तिकार की भांति नये संयोग पर भरोसा किया जाये, जो अनावश्यक को हटाने के बजाय अधिकाधिक चिपकाता जाता है, शिक्षकों की जैसे कि यही कोशिश होती है कि कहीं विकास की प्रक्रिया रुक न जाये, और अगर सामंजस्य के बारे में सोचा भी जाता है, तो हमारे लिए अज्ञात भावी प्रतिमान को ध्यान में रखकर और वर्तमान अथवा विगत के प्रतिमान की उपेक्षा करके उसे प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाता है। बच्चे का विकास कितना भी असंतुलित क्यों न हुआ हो, उसमें आरंभिक सामंजस्य के अवशेष हमेशा बने रहते हैं। कम करते हुए भी, या विकास में योग न देते हुए भी चाहे थोड़ा ही संतुलन और सामंजस्य स्थापित होने की आशा की जा सकती है।

मगर हमें अपने ऊपर इतना ज़्यादा विश्वास है, वयस्क की पूर्णता के मिथ्या आदर्श में हमारी ऐसी अंध आस्था है, अपने निकट के असंतुलनों के प्रति हम इतने असहनशील हैं तथा उन्हें सुधारने की अपनी क्षमता में इतना दृढ़ यक़ीन रखते हैं और बच्चे के आदिम सौंदर्य को समझने तथा सराहने में इतने कम समर्थ हैं कि अपनी आंखों के सामने पड़नेवाले असंतुलनों को अतिरंजित रूप में देखने, उनपर लीपापोती करने, उन्हें सुधारने और बच्चे को शिक्षा देने लग जाते

हैं। कभी एक पहलू को दूसरे पहलू के बराबर बनाना होता है, तो कभी दूसरे पहलू को पहले पहलू के बराबर करना होता है। बच्चे का और-और आगे विकास किया जाता है और ज्यों-ज्यों वह पहले के और नष्ट किये हुए प्रतिरूप से दूर हटता जाता है, त्यों-त्यों वयस्क मनुष्य की पूर्णता के कल्पित आदर्श की प्राप्ति असंभवतर बनती जाती है। **हमारा आदर्श पीछे है, न कि आगे।** ज़बर्दस्ती शिक्षा लोगों को बिगाड़ती है। बच्चा जितना ही बिगड़ा हुआ होगा, उसे ज़बर्दस्ती शिक्षा उतनी ही कम और स्वतंत्रता उतनी ही ज़्यादा दी जानी चाहिए।

बच्चे को सिखाना इस मामूली सी वजह से असंभव और व्यर्थ है कि मेरी अपेक्षा, हर वयस्क आदमी की अपेक्षा बच्चा सामंजस्य, सत्य, सौंदर्य और नेकी के उस आदर्श के अधिक निकट होता है, जिस तक मैं उसे पहुंचाना चाहता हूं, हालांकि यह मेरी अहंमन्यता ही है। इस आदर्श की चेतना मेरी अपेक्षा उसमें कहीं अधिक प्रबल है। उसे मुझसे केवल सामग्री ही चाहिए, ताकि लयात्मक ढंग से और सर्वांगीणतः परिपूर्ण हो सके। ज्यों ही मैंने उसे पूर्ण स्वतंत्रता दी और सिखाना बंद किया, उसने अच्छी काव्यात्मक रचना लिख डाली। इसलिए मेरा दृढ़ विश्वास है कि हमें बच्चों को, विशेषतः किसान बच्चों को लिखना, काव्यात्मक ढंग से लिखना, सिखाने की आवश्यकता नहीं है। अधिक से अधिक हम जो उन्हें सिखा सकते हैं, वह यह है कि वे लेखनकर्म कैसे शुरू करें।

इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए मैंने जो किया है, अगर उसे गुर कहा जा सकता है, तो ये गुर निम्न थे :

१. अधिक से अधिक और बहुत ही तरह-तरह के विषय सुझाना। वे ख़ास तौर से बच्चों के लिए ही सोचे हुए न हों, बल्कि बहुत गंभीर क़िस्म के और ख़ुद अध्यापक की भी रुचि के हों।

२. बच्चों को बच्चों की ही लिखी हुई रचनाएं पढ़ने को देना और ऐसी रचनाओं को ही उनके सामने आदर्श के तौर पर पेश करना, क्योंकि बच्चों की रचनाएं हमेशा वयस्कों की रचनाओं की अपेक्षा अधिक न्यायपरक, लालित्यपूर्ण और नीतिपूर्ण होती हैं।

३. (यह बहुत महत्त्वपूर्ण है।) बच्चों की रचनाओं की जांच के समय कभी भी कापियों के साफ़-सुथरेपन, लिखावट, वर्तनी, वाक्यों की रचना और तर्क के बारे में टिप्पणी न करना।

४. चूंकि लेखन में कठिनाई रचना के आकार या अंतर्वस्तु की नहीं, बल्कि कलात्मकता की होती है, तो विषयों की क्रमिकता आकार, अंतर्वस्तु या भाषा पर नहीं, बल्कि लेखन के तंत्र पर निर्भर होनी चाहिए। यह तंत्र, पहले, मस्तिष्क में उठनेवाले बहुत सारे विचारों तथा बिंबों में से किसी एक को चुनने; दूसरे, उसके लिए शब्दों का चयन करके समुचित अभिव्यक्ति प्रदान करने; तीसरे, उसे याद कर लेने तथा उसके लिए स्थान ढूंढने; चौथे, लिखे हुए को याद रखकर उसकी पुनरावृत्ति न होने देने, कुछ भी न छोड़ने तथा पूर्ववर्ती एवं परवर्ती के बीच संबंध बनाये रखने, और, पांचवें, सोचना तथा लिखना, दोनों काम साथ-साथ करने, एक को दूसरे में बाधा न डालने देने पर आधारित होता है। इस उद्देश्य से मैंने यह किया: इनमें से कुछ कामों का ज़िम्मा आरंभ में मैंने अपने ऊपर लिया और फिर शनैः शनैः ही उन्हें स्वयं विद्यार्थियों से करवाने लगा। आरंभ में विचारों और बिंबों में से उपयुक्त विचारों और बिंबों को चुनने, उन्हें याद करने तथा उनके लिए जगह बताने, और लिखे हुए की पुनरावृत्ति न होने देने का काम और काग़ज़ पर उतारने का काम मैं करता था और विद्यार्थियों से विचारों तथा बिंबों की अभिव्यक्ति के लिए उपयुक्त शब्द सुझाने का काम ही करवाता था। बाद में मैं उन्हें विचारों तथा बिंबों को ख़ुद ही चुनने का काम भी सौंपने लगा। इसके बाद अन्य काम भी वे ही करने लगे। आख़िर में, जब 'एक फ़ौजी की बीवी का जीवन' लिखा गया, तो लेखन की सारी प्रक्रिया आद्योपांत उनके द्वारा ही संपन्न की गयी।

१३. अध्यापक के लिए सामान्य टिप्पणियां

(१८७२)

विद्यार्थी सीखने-पढ़ने में अच्छा हो, इसके लिए आवश्यक है कि वह स्वेच्छा से सीखे-पढ़े, और स्वेच्छा से सीखने-पढ़ने के लिए आवश्यक है कि:

१) उसे जो सिखाया जा रहा है, वह उसके लिए बोधगम्य तथा रोचक हो और

२) उसकी आत्मिक शक्तियां उपयुक्ततम अवस्था में हों।

विद्यार्थी को जो सिखाया-पढ़ाया जा रहा है, वह उसके लिए बोधगम्य और रोचक हो, इसके लिए दो चरमों से बचें: एक, उसे वह न बतायें, जिसे वह जान या समझ नहीं सकता, और, दो, उसे वह न बतायें, जिसे वह अध्यापक जैसे ही और कभी-कभी तो उससे बेहतर भी जानता है। जिसे विद्यार्थी नहीं समझ सकता, उसकी चर्चा न करने के लिए हर तरह की परिभाषाओं, वर्गीकरणों और सामान्य नियमों से बचें। सभी पाठ्यपुस्तकें सूत्रों, परिभाषाओं, कोटियों और नियमों से भरी होती हैं, जबकि विद्यार्थी को ये ही नहीं बताये जाने चाहिए।

व्याकरणिक और वाक्यविन्यासात्मक परिभाषाओं, शब्दों के भेदों तथा रूपों की कोटियों और सामान्य नियमों से दूर रहें। विद्यार्थी को शब्दों के रूपों का नाम लिये बिना उन्हें बदलने और जो मुख्य बात है, ज़्यादा पढ़ने तथा पढ़े हुए को समझने और अपने दिमाग़ से ज़्यादा लिखने को बाध्य करें। उसे सही करें, तो इस आधार पर नहीं कि उसने जो लिखा है, वह नियम, परिभाषा या वर्गीकरण के

लेव तोलस्तोय अपने परिवार के सदस्यों के साथ

विरुद्ध है, बल्कि इस आधार पर कि वह अस्पष्ट है, अच्छा नहीं लगता है या समझ में नहीं आता है।

प्राकृतिक विज्ञानों में वर्गीकरण, अवयवियों के विकास विषयक अनुमानों और उनकी संरचना की व्याख्याओं से बचें। इसके बदले विद्यार्थी को विभिन्न जीवों तथा वनस्पतियों के जीवन के बारे में अधिक से अधिक विस्तृत जानकारियां दें।

इतिहास और भूगोल में देशों तथा घटनाओं के सामान्य सिंहावलोकनों तथा विभाजनों से बचें। विद्यार्थी के लिए ऐतिहासिक और भौगोलिक सिंहावलोकन तब तक रुचिकर नहीं हो सकते, जब तक कि उसका क्षितिज के पार किसी चीज़ का अस्तित्व होने में अभी ठीक से विश्वास नहीं है और राज्य, सत्ता, युद्ध तथा क़ानून के बारे में, जो इतिहास का विषय हैं, वह अभी कुछ नहीं जानता है। वह भूगोल और इतिहास में यक़ीन करे, इसके लिए उसे भौगोलिक और ऐतिहासिक अनुभव प्रदान कीजिये। उसे उन देशों के बारे में जितना भी विस्तार से हो सके, बतायें, जिन्हें आप जानते हैं। ऐसा ही उन ऐतिहासिक घटनाओं के संबंध में भी करें, जो आपको भली भांति मालूम है।

खगोलविज्ञान में विद्यार्थी को सौरमंडल के बारे में और पृथ्वी के अपनी धुरी पर घूमने तथा सूर्य के गिर्द चक्कर लगाने के बारे में में बताने से बचें (हालांकि अध्यापक इसे बहुत पसंद करते हैं)। नभोमंडल, सूर्य, चंद्रमा और ग्रहों की दृश्य गति, सूर्य तथा चंद्र ग्रहणों और पृथ्वी पर विभिन्न बिंदुओं से किन्हीं परिघटनाओं के अवलोकन के बारे में कुछ न जाननेवाले विद्यार्थी के लिए यह बताना कि पृथ्वी घूमती और चक्कर लगाती है, प्रश्न का स्पष्टीकरण और व्याख्या नहीं, बल्कि बिला वजह सिद्ध की जानेवाली निरर्थक बात है। जो विद्यार्थी मानता है कि पृथ्वी पानी में मछलियों पर टिकी हुई है, उसका सोच उस विद्यार्थी की अपेक्षा कहीं अधिक स्वस्थ है, जो मानता तो है कि पृथ्वी घूमती है, लेकिन इसे समझ और समझा नहीं सकता।

विद्यार्थी को आकाश की दृश्य परिघटनाओं के बारे में, यात्राओं के बारे में ज़्यादा से ज़्यादा बतायें और ऐसी ही बातें समझायें, जिन्हें वह दृश्य परिघटनाओं के आधार पर ख़ुद परख सकता है।

अंकगणित में हिसाब को सरल बनानेवाले सूत्र और आम नियम बताने से बचें। सामान्य नियम बताये जाने से जो हानि होती है, वह सबसे ज़्यादा गणित के मामले में ही दिखायी देती है।

आप विद्यार्थी को कोई क्रिया करने का जितना ही छोटा रास्ता सुझायेंगे, विद्यार्थी उस क्रिया को उतना ही कम समझ और जान पायेगा।

सबसे छोटी अवकलन पद्धति दशमलव पद्धति है, और वही सबसे कठिन भी है। जोड़ करने का सबसे छोटा तरीक़ा छोटी कोटियों से आरंभ करना और हासिल पाये हुए एक अंक को अगली कोटि में शामिल करना है। मगर यही सबसे अस्पष्ट तरीक़ा भी है। विद्यार्थी को घटाने के सवालों में हर शून्य को नौ के बराबर मानना सिखाने या वज्रगुणन के ज़रिये एक हर में समानीत करना सिखाने से ज़्यादा आसान कुछ नहीं है, लेकिन विद्यार्थी इन नियमों को सीखकर भी देर तक नहीं समझ पायेगा कि ऐसा क्यों किया जाता है।

सभी अंकगणितीय सूत्रों और नियमों से बचें और बच्चों से ज़्यादा क्रियाएं करवायें। जब उन्हें सही करें, तो इसलिए नहीं कि सवाल

19-942

नियम के अनुसार नहीं किया गया है, बल्कि इसलिए कि किये गये में कोई तुक या तर्क नहीं है।

विद्यार्थियों को विज्ञान के ऐसे असाधारण परिणाम (स्कूलों के लिए लिखी गयी विदेशी पुस्तकों में उनपर बहुत ही ज़ोर दिया हुआ होता है) बताने से बचें, जैसे पृथ्वी अथवा सूर्य का भार कितना है, सूर्य किन पिंडों से बना है, कैसे वृक्ष अथवा मनुष्य कोशिकाओं से बने हुए हैं, लोगों ने कैसी-कैसी अजीबो-ग़रीब मशीनें ईजाद की हैं, वग़ैरह। बात यही नहीं है कि अध्यापक विद्यार्थी को ऐसे तथ्य बताकर उसके मन में यह बात बिठाता है कि विज्ञान बहुत सारे रहस्यों पर से परदा हटा सकता है, जिसके बारे में बुद्धिमान विद्यार्थी बहुत जल्दी ही जान जाता है कि यह सच नहीं है, बात यह भी है कि नग्न तथ्य या परिणाम विद्यार्थी पर हानिकारक प्रभाव डालते हैं और उसे शब्द में अंध आस्था रखना सिखा देते हैं।

समझ में न आनेवाले, संकल्पना से मेल न खानेवाले अथवा दो अर्थोंवाले रूसी शब्दों का और ख़ास तौर से विदेशी शब्दों का प्रयोग न करें। उनकी जगह पर ऐसे शब्द इस्तेमाल करने की कोशिश करें, जो चाहे सटीक न हों और लंबे भी हों, पर विद्यार्थी के मस्तिष्क में आवश्यक संकल्पनाएं अवश्य जगाते हों।

विद्यार्थी को ज़्यादा से ज़्यादा जानकारी दें और ज्ञान-विज्ञान की सभी शाखाओं के बारे में ज़्यादा से ज़्यादा प्रेक्षण करने को प्रोत्साहित करें। पर इसके साथ ही उसे सामान्य निष्कर्षों, परिभाषाओं, सूत्रों, कोटियों, पारिभाषिक शब्दावली, आदि की कम से कम याद दिलायें।

इनकी याद सिर्फ़ तभी दिलायें, जब विद्यार्थी को इतनी जानकारी हो जाये कि वह ख़ुद सामान्य निष्कर्षों की सत्यता की जांच कर सके, और जब सामान्य निष्कर्ष उसके लिए कठिनाई नहीं, बल्कि आसानी पैदा करते हैं।

विद्यार्थी के लिए पाठ अरुचिकर तथा अनाकर्षक होने का दूसरा कारण यह है कि अध्यापक उस चीज़ को भी देर तक और पेचीदे ढंग से समझाता है, जिसे विद्यार्थी बहुत पहले ही समझ चुका है।

इस तरह से समझाया जाना आम बात है, ख़ास तौर से जब अध्यापक विद्यार्थी को बताने लगता है कि मेज़ क्या है, या घोड़ा किस जानवर को कहते हैं, या किताब और हाथ के बीच क्या अंतर

है या एक कलम के साथ एक और कलम रख देने पर कुल कितनी कलमें हो जायेंगी।

आम तौर पर विद्यार्थी को वही बताइये, जो वह नहीं जानता और जो अगर आप भी नहीं जानते होते, तो बड़े चाव से जानना चाहते।

प्रायः ऐसा होता है कि इन सभी नियमों का पालन करने पर भी विद्यार्थी समझ नहीं पाता। इसके दो कारण होते हैं। या तो जिस वस्तु के बारे में आप बता रहे हैं, विद्यार्थी उसके बारे में पहले ही सोच चुका है और अपने ढंग से उसकी अपने लिए व्याख्या कर चुका है। अगर ऐसी बात है, तो विद्यार्थी को अपना मत समझाने के लिए प्रेरित करें। अगर वह ठीक नहीं है, तो उसका खंडन करें, और अगर सही है, तो उसे बतायें कि आप और वह उस वस्तु को एक ही जैसे देखते हैं, मगर अलग-अलग पहलुओं से।

या फिर विद्यार्थी इसलिए नहीं समझता है कि इसके लिए अभी वक़्त नहीं आया है। यह बात अंकगणित में विशेषतः दिखायी देती है। जिसके बारे में आप घंटों से व्यर्थ मगज़पच्ची कर रहे थे, वह कुछ समय बाद सहसा एक ही मिनट में स्पष्ट, बोधगम्य हो जाती है। इसलिए जल्दबाज़ी कभी न करें।

विद्यार्थी की आत्मिक शक्तियां उपयुक्ततम अवस्था में हों, इसके लिए आवश्यक है कि:

१) विद्यार्थी जहां पढ़ रहा है, वहां उसके लिए नये, अनजान विषय और लोग न हों;

२) वह अध्यापक या साथियों से शरमाये नहीं;

३) (यह बहुत महत्त्वपूर्ण है) उसे डर न हो कि ठीक से न सीखने के लिए, यानी समझ न पाने के लिए उसे सज़ा मिलेगी। मनुष्य का दिमाग़ तभी कार्य करता है, जब उसपर कोई बाहरी दबाव नहीं होता।

४) दिमाग़ थके नहीं। इसका पता लगा पाना कठिन है कि कितनी उम्र में कितने घंटे या मिनट पढ़ाई के बाद विद्यार्थी का दिमाग़ थक जाता है, लेकिन अध्यापक अगर ध्यान से देखे, तो उसे थकावट के कुछ अचूक लक्षण दिखायी दे सकते हैं। ज्यों ही विद्यार्थी का दिमाग़ थका लगे, उससे शारीरिक हरकतें करवाइये। विद्यार्थी के थके होने

पर भी उसे रोके रखने की ग़लती करने के बजाय उसके थके न होने पर भी उसे छोड़ देने की ग़लती करना कहीं बेहतर है। बच्चे में ज़िद्द की भावना इसी कारण पैदा होती है ; और

५) पाठ और विद्यार्थी की क्षमता के बीच संतुलन हो, यानी पाठ न बहुत ज़्यादा आसान हो, न बहुत ज़्यादा कठिन।

अगर पाठ बहुत अधिक कठिन होगा, तो विद्यार्थी बताये हुए काम को कर पाने की आशा खो बैठेगा, कोई प्रयत्न नहीं करेगा और दूसरी ओर ध्यान बंटा लेगा। अगर पाठ बहुत अधिक आसान होगा, तो उस हालत में भी यही चीज़ होगी।

प्रयत्न किया जाना चाहिए कि विद्यार्थी का सारा ध्यान दिये हुए पाठ पर केंद्रित रह सके। इसके लिए विद्यार्थी को ऐसा काम दें कि हर पाठ उसे पढ़ाई में आगे की ओर बढ़ाया हुआ क़दम जैसा लगे।

अध्यापक के लिए सिखाना जितना आसान होता है, विद्यार्थियों के लिए सीखना उतना ही कठिन होगा। यही बात विपरीत क्रम में भी देखी जाती है। जितना ज़्यादा अध्यापक स्वाध्याय करेगा, हर पाठ की तैयारी पर वक़्त लगायेगा और विद्यार्थियों की क्षमता का ध्यान रखेगा, जितना ही ज़्यादा वह विद्यार्थी के विचारों का ध्यान रखेगा, और जितना ही ज़्यादा सवाल-जवाब किये जायेंगे, उतना ही ज़्यादा विद्यार्थी के लिए सीखना आसान होगा।

विद्यार्थी को जितना ज़्यादा अपने भरोसे, अध्यापक के ध्यान की अपेक्षा न करनेवाले कामों के लिए, नक़ल करने, इमला देने, बिना समझे ज़ोर-ज़ोर से पढ़ने और कविताएं याद करने के लिए छोड़ा जायेगा, उतनी ही ज़्यादा उसे कठिनाई होगी।

लेकिन अगर अध्यापक अपने काम में सारी ताक़त लगायेगा, तो वह बहुत सारे विद्यार्थियों के साथ ही नहीं, एक विद्यार्थी के साथ भी लगातार महसूस करेगा कि जो किया जाना चाहिए, उसे वह क़तई नहीं कर रहा है।

अपने से इस स्थायी असंतोष के बावजूद लाभ पहुंचाने की चेतना होने के लिए एक गुण का होना आवश्यक है। यह गुण ज्ञान की कमी को सहज ही पूरा करके अध्यापकीय कौशल में भी और तैयारी में भी वृद्धि कर देता है।

अगर अध्यापक ने तीन घंटे के पाठ के दौरान एक बार भी ऊब

महसूस नहीं की है, तो उसमें यह गुण है।

यह गुण प्रेम है। अगर अध्यापक अपने काम से प्रेम करता है, तो वह अच्छा अध्यापक होगा। अगर उसे पिता या माता की तरह सिर्फ़ विद्यार्थी से ही प्रेम है, वह उसी अध्यापक से बेहतर अध्यापक होगा, जिसने सभी किताबें तो पढ़ी हैं, पर जो न अपने काम को और न विद्यार्थियों को ही प्यार करता है।

अगर अध्यापक को काम से भी और विद्यार्थियों से भी प्रेम है, तो वह आदर्श अध्यापक होगा।

१४. सार्वजनिक शिक्षा के बारे में
(१८७४)

मान्य महोदय इयोसिफ़ निकोलायेविच *,

आपकी इच्छा की पूर्ति करते हुए मैं यहां उसे, या लगभग उसे लिखित रूप में पेश करने का प्रयत्न कर रहा हूं, जो मैंने समिति के गत अधिवेशन में कहा था...

यह बताने के लिए कि मेरे मत में किसी भी शैक्षणिक कार्यकलाप के सच्चे आधार क्या हैं, मुझे अपने को दोहराना होगा, यानी १५ साल पहले मैंने अपने द्वारा प्रकाशित शिक्षाशास्त्रीय पत्रिका 'यास्नाया पोल्याना' में जो कहा था, उसकी पुनरावृत्ति करनी होगी। यह पुनरावृत्ति नये स्कूलों के अध्यापकों के लिए अरुचिकर न होगी, क्योंकि मैंने तब जो लिखा था, वह ऐसी बात नहीं कि उसे भुला दिया गया है, बल्कि उस पर शिक्षाशास्त्रियों, अध्यापकों ने कभी कोई ध्यान ही नहीं दिया था। इसलिए मैं आज भी ऐसा सोचता हूं कि जो मैंने तब कहा था, सिर्फ़ वही एक सिद्धांत के नाते शिक्षाशास्त्र को दृढ़ आधार पर खड़ा कर सकता है। १५ साल पहले जब मैंने बिना किन्हीं पूर्वस्वीकृत सिद्धांतों तथा धारणाओं के और केवल सीधे तथा प्रत्यक्ष तौर पर मदद करने की इच्छा से सार्वजनिक शिक्षा का कार्य हाथ में लिया था, तो अपने स्कूल में अध्यापक होने की वजह से तुरंत मेरा दो सवालों से सामना हुआ था: १) **क्या सिखाया जाना चाहिए?** २) **कैसे सिखाया जाना चाहिए?**

आज की तरह तब भी इन सवालों के उत्तर में बहुत ही भिन्न-भिन्न बातें कही जाती थीं।

---

* इयोसिफ़ निकोलायेविच शतीलोव मास्को की साक्षरता समिति के अध्यक्ष थे।

मैं जानता हूं कि अपने संकीर्ण सिद्धांत के घेरे में बंद कुछ शिक्षाशास्त्रियों को लगता है कि उजाला वही है, जो खिड़की से आता है और इस बारे में मतभेद कोई हो ही नहीं सकता।

मगर जो ऐसा सोचते हैं, उनसे मैं इस बात पर ध्यान देने का आग्रह करता हूं कि उन्हें वैसा सिर्फ़ लगता है, ठीक वैसे ही कि जैसे यह उन्हें भी लगता है, जो उनके विरोधी खेमों में हैं। अतः शिक्षा में रुचि रखनेवाले सभी लोगों के बीच पहले जैसे आज भी बहुत अधिक मतभेद विद्यमान हैं। **क्या सिखाया जाना चाहिए?** – इसके जवाब में जहां आज की भांति कुछ लोग कहते थे कि प्रारंभिक स्कूल की सबसे बड़ी उपयोगिता अक्षरज्ञान करवाने के अलावा प्राकृतिक विषयों का ज्ञान देने में है, वहां आज की ही भांति दूसरे लोग यह कहते थे कि इस संबकी कोई आवश्यकता नहीं है और यह हानिकारक तक है। आज की ही भांति कुछ लोग इतिहास और भूगोल की पढ़ाई पर ज़ोर देते थे और दूसरे उनकी आवश्यकता से इंकार करते थे, कुछ स्लाव भाषा तथा व्याकरण और ईश्वरीय क़ानून का सुझाव देते थे, तो दूसरे इन्हें व्यर्थ समझकर विकास को ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बताते थे। **कैसे सिखाया जाये?** – इस सवाल पर तो और भी ज्यादा मतभेद थे और आज भी हैं। पढ़ना-लिखना और अंकगणित सिखाने के बहुत ही परस्परविरोधी तरीक़े सुझाये जाते थे और आज भी सुझाये जा रहे हैं।

मैं जब एक दूर-दराज़ के देहाती स्कूल में अध्यापक बना, तो मैंने महसूस किया कि एक ऐसा मापदंड होना ज़रूरी है, जिसके अनुसार **क्या और कैसे सिखाने** का सवाल तय किया जाता है। भजन रटाये जायें या अवयवियों का वर्गीकरण सिखाया जाये? स्वनिक विधि पर आधारित, जर्मन से अनूदित ककहरे से पढ़ाया जाये या प्रार्थना-पुस्तक से? मुझमें जो थोड़ी-बहुत अध्यापकीय योग्यता है और शिक्षा के काम से मुझे जो गहरा और उत्कट लगाव है, उनसे मुझे इन सवालों के हल में मदद मिली। उन ४० नन्हे किसानों के अति निकट, प्रत्यक्ष संपर्क में आकर, जिनसे मेरा स्कूल बना था (मैं उन्हें नन्हे किसान इसलिए कह रहा हूं कि मैंने उनमें भी वैसी ही सूझबूझ, व्यावहारिक जीवन का अपरिमित ज्ञान, हास्यप्रेम, सरलहृदयता और दिखावे से नफ़रत पाये, जो रूसी किसान की चारित्रिक विशेषता हैं), और

उनमें अपने लिए ज़रूरी ज्ञान हासिल करने की क्षमता तथा उत्साह देखकर में तुरंत समझ गया कि शिक्षण का पुराना गिरजे का तरीक़ा किसी काम का नहीं रह गया है। दूसरे जो तरीक़े सुझाये जा रहे थे, मैं उन्हें आज़माने लगा। लेकिन चूंकि सिखाने-पढ़ाने में बाध्यकरण मेरे विश्वास तथा मेरे स्वभाव के विपरीत है, तो मैंने किसी भी प्रकार की ज़ोर-ज़बर्दस्ती नहीं की। ज्यों ही मैं देखता था कि कोई चीज़ अनिच्छा से सीखी या ग्रहण की जा रही है, मैं ज़बर्दस्ती करने के बजाय कोई दूसरा तरीक़ा खोजने लग जाता। इन सब प्रयोगों से मैं और जो अध्यापक मेरे साथ यास्नाया पोल्याना के स्कूल में या अन्य स्कूलों में मेरे जैसे स्वतंत्रता के उसूल पर चलते हुए पढ़ाते थे, वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि शिक्षाशास्त्र के जगत में स्कूलों के लिए जो लिखा जा रहा है, वह लगभग सारा ही यथार्थ से कोई मेल नहीं खाता है, और प्रस्तावित विधियों में से बहुत सारी विधियां, जैसे, उदाहरण के लिए, दृश्य शिक्षा, प्राकृतिक विज्ञान, स्वनिक विधियां, आदि, विद्यार्थियों में जुगुप्सा और हंसी ही पैदा करती हैं। हम वह अंतर्वस्तु और वे तरीक़े खोजने लगे, जिन्हें विद्यार्थी सहज ही अंगीकार कर लेते हैं, और इस तरह जो मेरी पढ़ाने की विधि है, उसपर पहुंचे। मगर यह विधि अन्य सभी विधियों के साथ-साथ प्रचलित थी और यह सवाल कि यह विधि औरों से किस मानी में श्रेष्ठ थी, अनिर्णित ही रह गया। नतीजे के तौर पर मेरे लिए यह सवाल और भी अधिक महत्त्वपूर्ण बन गया कि क्या और कैसे सिखाया जाना चाहिए, इसकी कसौटी क्या है। इस सवाल को हल करके ही मैं आश्वस्त हो सकता था कि जो और जैसे मैं सिखा रहा था, वह न हानिकारक था और न अनुपयोगी ही। तब की भांति आज भी यह सवाल मेरे लिए सारे शिक्षाशास्त्र का बुनियादी सवाल है और इसके लिए ही मैं 'यास्नाया पोल्याना' पत्रिका निकालने लगा। कुछ लेखों में (मुझे इन लेखों के उद्धरण सुनकर बड़ी खुशी हुई, क्योंकि मेरे विचार आज भी वही हैं) मैंने इस प्रश्न के महत्त्व को पूरी तरह से उजागर करने और जहां तक मुझसे हो सका, उसका समाधान सुझाने का प्रयास किया था। उस समय शिक्षाशास्त्रीय साहित्य में मेरे विचारों से न सिर्फ़ कोई सहानुभूति नहीं दिखायी गयी और यहां तक कि उनका विरोध भी नहीं किया गया, बल्कि मैंने जो सवाल उठाया था, उसकी पूर्ण उपेक्षा ही की गयी।

बेशक, कुछ मामूली बातों को लेकर विरोध हुआ, पर स्वयं सवाल में संभवतः किसी की रुचि नहीं थी। तब मेरी उम्र कम थी, और यह उदासीनता मुझे सालती थी। मैं नहीं जानता था कि अपने इस सवाल से कि आप कैसे जानते हैं कि क्या और कैसे सिखाना चाहिए – मैंने अपनी स्थिति उस आदमी जैसी बना ली थी, जो मानो जनता से और ज्यादा टैक्स वसूल करने के सवाल पर विचार के लिए बुलायी गयी तुर्क पाशाओं की सभा में कह रहा हो: "महाशयो, किससे कितना टैक्स लेना है, यह जानने के लिए हमें पहले तय करना होगा कि टैक्स वसूलने के हमारे अधिकार का आधार क्या है?" शायद सभी पाशा टैक्स-वसूली संबंधी उपायों पर अपनी बहस जारी रखते हुए इस अप्रासंगिक सवाल का जवाब सिर्फ़ चुप्पी से देते। मगर सवाल को टाला नहीं जा सकता। १५ साल पहले उस पर ध्यान नहीं दिया गया और हर मत के शिक्षाशास्त्री दृढ़तापूर्वक मानते हुए कि अन्य सभी झूठे हैं और केवल वे खुद ही सच्चे हैं, इतमीनान से अपने नियम नियत करते रहे, हालांकि उनकी प्रस्थापनाएं बहुत ही संदिग्ध क़िस्म के दर्शन पर आधारित थीं।

प्रसंगतः अगर हम इकतरफ़ा सिद्धांतों को एकदम त्याग दें, तो यह सवाल इतना कठिन नहीं है। "शिक्षाशास्त्र की एकमात्र कसौटी स्वतंत्रता और एकमात्र विधि अनुभव है।" मैंने १५ साल बाद भी अपने दृष्टिकोण में रंचमात्र परिवर्तन नहीं किया है, मगर सामान्यतः शिक्षा और विशेषतः आरंभिक स्कूल में सार्वजनिक शिक्षा के संदर्भ में इन शब्दों से मेरा क्या आशय है, इसे अधिकतम स्पष्टता के साथ बता देना मैं आवश्यक समझता हूं। १०० वर्ष पहले यूरोप में भी और हमारे यहां भी यह सवाल नहीं उठ सकता था कि क्या और कैसे सिखाया जाना चाहिए। शिक्षा धर्म से अभिन्न रूप से जुड़ी हुई थी। पढ़ना सीखने का अर्थ केवल धर्मग्रंथ पढ़ना सीखना था। मगर ज्यों ही धर्म क्या-क्या और कैसे सीखने की कसौटी नहीं रह गया और स्कूल धर्म से स्वतंत्र बन गया, त्यों ही इस सवाल को उठ जाना चाहिए था। मगर वह इसलिए नहीं उठा कि स्कूल धर्म पर निर्भरता से एकाएक नहीं, बल्कि बहुत धीरे-धीरे करके मुक्ति पा रहा था। आज सभी मानते हैं – और मैं समझता हूं कि बिल्कुल ठीक ही मानते हैं – कि धर्म न तो शिक्षा की अंतर्वस्तु बन सकता है और न विधि संबंधी निर्देश

ही, और यह कि शिक्षा का आधार दूसरी ही अपेक्षाएं हैं। ये अपेक्षाएं क्या हैं और उनका आधार क्या है? इन आधारों के बारे में कोई विवाद न हो, इसके लिए आवश्यक है कि या तो वे दार्शनिक दृष्टि से प्रमाणित किये हुए हों, या कम से कम सभी शिक्षित लोग उनके बारे में एकमत हों। मगर क्या ऐसा है? यह मानी-जानी बात है कि जिन आधारों पर इसका निर्धारण किया जा सकता है कि क्या सिखाया जाना चाहिए, वे दार्शनिक तौर पर अभी तक नहीं पाये गये हैं। इसलिए भी कि यह कोई अमूर्त काम नहीं, बल्कि जीवन की अनगिनत परिस्थितियों पर निर्भर एक व्यावहारिक काम है। इस काम से सरोकार रखनेवाले लोगों की सामान्य सहमति में, जिस सहमति को हम व्यावहारिक आधार या सबकी सामान्य बुद्धि की अभिव्यक्ति मान सकते थे, उसमें इन आधारों को खोज पाना तो और भी कम संभव है। सार्वजनिक शिक्षा के क्षेत्र में ही नहीं, उच्च शिक्षा के क्षेत्र में भी हम, उदाहरण के लिए, कलासिकीवाद और यथार्थवाद के प्रश्न पर शिक्षा जगत के सर्वोत्तम प्रतिनिधियों के बीच पूर्ण मतभेद पाते हैं। मगर आधारों के अभाव के बावजूद हम देखते हैं कि शिक्षा अपनी राह चली जा रही है और अधिकांशतः एक ही सिद्धांत से निदेशित हो रही है। यह सिद्धांत है स्वतंत्रता। क्लासिकीय और यथार्थ विज्ञानों की शिक्षा देनेवाले स्कूल साथ-साथ विद्यमान हैं और उनमें से प्रत्येक अपने को वास्तविक स्कूल मानता है, हालांकि अपेक्षाओं को पूरा दोनों ही करते हैं, क्योंकि मां-बाप अपने बच्चों को दोनों ही तरह के स्कूलों में भेजते हैं।

क्या सिखाया जाना चाहिए, इस प्रश्न को किसी भी पहलू से क्यों न देखें, सार्वजनिक स्कूल में इसे निर्धारित करने का अधिकार जनता को, यानी स्वयं विद्यार्थियों को अथवा उनके मां-बाप को है, और इसलिए इस सवाल का जवाब हम जनता से ही पा सकते हैं कि सार्वजनिक स्कूल में क्या सिखाया जाना चाहिए। मगर हो सकता है कि हम कहें कि हम अत्यंत शिक्षित लोगों को गंवार जनता की मांगों के आगे नहीं झुकना चाहिए, कि यह हमारा काम है कि जनता को बतायें कि उसे किस चीज की इच्छा करनी चाहिए। बहुत लोग इस ढंग से सोचते हैं, मगर इस संबंध में मैं एक ही बात पूछूंगा: आपने यह या वह क्यों चुना, इसका दृढ़, अकाट्य आधार बताइये; मुझे

ऐसा समाज दिखाइये, जिसमें शिक्षा के बारे में सुशिक्षित लोगों के बीच दो सर्वथा विपरीत मत न हों और जहां यह बात लगातार न कही जाती हो कि शिक्षा अगर पोप-पादरियों के नियंत्रण में है, तो जनता को एक तरह से शिक्षित किया जाता है, और अगर प्रगतिवादियों के नियंत्रण में है, तो जनता को भिन्न ढंग से शिक्षा दी जाती है। मुझे ऐसा समाज दिखाइये, जिसमें कि ऐसा न हो, और मैं आप से सहमत हो जाऊंगा। जब तक यह नहीं किया जाता, तब तक विद्यार्थियों की स्वतंत्रता के अलावा और कोई कसौटी नहीं है, और इसके अलावा, चूंकि चर्चा सार्वजनिक स्कूल की चल रही है, तो यहां विद्यार्थियों के स्थान पर उनके मां-बाप आ जाते हैं, यानी जनता की मांगें आ जाती हैं। ये मांगें न केवल निश्चित हैं, बिल्कुल स्पष्ट है और सारे रूस में एक जैसी हैं, वे इतनी तर्कसंगत और इतनी व्यापक भी हैं कि उनमें उन सभी लोगों की सभी विभिन्न मांगें भी शामिल हो जाती हैं, जो इस बारे में बहस कर रहे हैं कि जनता को क्या सिखाया जाना चाहिए। ये मांगें निम्न हैं: रूसी और स्लाव भाषा का ज्ञान और गणित का ज्ञान। जनता हर कहीं समान, निर्विवाद और निरपवाद रूप से अपने लिए शिक्षा का यही कार्यक्रम निर्धारित करती है और हमेशा तथा हर कहीं उसे पर्याप्त मानती है। जहां तक प्राकृतिक विज्ञानों, भूगोल तथा इतिहास (बाइबिलीय इतिहास को छोड़कर) का संबंध है, जहां तक दृश्य शिक्षा का संबंध है, तो जनता हर कहीं और हमेशा उन्हें व्यर्थ समझती है। कार्यक्रम अपने बारे में पूर्ण मतैक्य और अपनी पूर्ण सुस्पष्टता के कारण नहीं, बल्कि, जैसा मैं सोचता हूं, अपनी व्यापक अपेक्षाओं और सही दृष्टिकोण के कारण भी विलक्षण है। जनता ज्ञान के दो ही क्षेत्र मानती है, जो सबसे सुनिश्चित हैं और दृष्टिकोणों में अंतरों से किसी प्रकार प्रभावित नहीं होते। ये हैं भाषा और गणित। शेष सभी को वह व्यर्थ समझती है। मैं समझता हूं कि जनता बिल्कुल सही है। पहले तो इसलिए कि भाषा और गणित में अधकचरेपन और झूठ के लिए कोई स्थान नहीं है, जिन्हें जनता सहन नहीं कर सकती। दूसरे, इसलिए कि उनका क्षेत्र बहुत व्यापक है। रूसी और स्लाव भाषा और गणित, यानी एक मृत भाषा के साथ-साथ अपनी जीवित भाषा का ज्ञान, उनके व्याकरण तथा साहित्य का ज्ञान और सारे गणित के आधार अंकगणित का ज्ञान

एक ऐसी चीज़ है कि जो खेदवश शिक्षित वर्ग के बहुत ही कम लोगों में मिल पाती है। तीसरे, जनता इसलिए सही है कि अपने इस कार्यक्रम के अनुसार वह प्राथमिक स्कूल में केवल वह चीज़ सीखेगी, जो उसके लिए ज्ञान के सभी आगे के मार्ग प्रशस्त करेगी, क्योंकि हर कोई जानता है कि दो भाषाओं तथा उनके रूपों का विशद ज्ञान और इसके साथ अंकगणित का ज्ञान अन्य सभी प्रकार के ज्ञानों का स्वयं अर्जन सर्वथा संभव बना देते हैं। जनता जैसे कि भांप जाती है कि उसे तरह-तरह के ज्ञानों की जो बेमेल खिचड़ी पेश की जा रही है, वह उसके साथ चालाकी है, और इसलिए वह इस झूठी चीज़ को ठुकराते हुए कहती है: "मुझे सिर्फ़ गिरजे में इस्तेमाल होनेवाली भाषा तथा अपनी भाषा और हिसाब के नियम ही जानने की ज़रूरत है। इनके अलावा मुझे और जो जानना होगा, उन्हें मैं ख़ुद ही जान लूंगी।" इस तरह यदि मान लिया जाये कि क्या सिखाया जाये, इसकी कसौटी स्वतंत्रता है, तो जब तक जनता ख़ुद ही कोई नयी मांग नहीं करती, तब तक के लिए सार्वजनिक स्कूलों का कार्यक्रम स्पष्ट और सुनिश्चित है: स्लाव तथा रूसी भाषा और अंकगणित – इनका अधिक से अधिक ज्ञान, और इसके अलावा **अन्य कुछ** नहीं। यही सार्वजनिक स्कूल के कार्यक्रम की सीमाओं की परिभाषा है, हालांकि इसके साथ ही ऐसा क़तई नहीं कहा जा सकता कि इन तीनों विषयों को समान रूप से पढ़ाये जाने की मांग की गयी थी। बेशक, ऐसे कार्यक्रम में उचित तो यही होता कि तीनों विषयों में एक सी प्रवीणता पायी जाती, मगर यह नहीं कहा जा सकता कि एक विषय को दूसरे विषय की अपेक्षा प्रमुखता दिया जाना हानिकारक होगा। लक्ष्य केवल यही रहता है कि कार्यक्रम की सीमाओं से बाहर न निकला जाये। संभव है कि मां-बाप की मांग के अनुसार और ख़ास तौर से अध्यापक के ज्ञान के स्तर के अनुसार कोई एक विषय प्रमुखता पा जाये, जैसे गिरजे द्वारा संचालित स्कूल में स्लाव भाषा, उयेज्द स्तरीय विद्यालय में रूसी भाषा या अंकगणित, मगर इन तीनों ही मामलों में जनता की अपेक्षाएं तुष्ट हो जायेंगी और शिक्षण अपनी बुनियादी कसौटी को छोड़ेगा नहीं।

प्रश्न का दूसरा पहलू है – कैसे सिखायें, यानी कैसे मालूम किया जाये कि कौन सी विधि सर्वोत्तम है। इसका भी आज तक कोई उत्तर नहीं मिल पाया है।

जिस प्रकार प्रश्न के पहले पहलू – क्या सिखायें? – के संबंध में यह धारणा परस्परविरोधी स्कूलों को जन्म देती है कि कार्यक्रम विचारों, तर्कों के आधार पर बनाया जा सकता है, उसी प्रकार प्रश्न के दूसरे पहलू – कैसे सिखायें? – के संबंध में भी हम वैसी ही स्थिति पाते हैं। पढ़ना-लिखना सीखने की सबसे पहली सीढ़ी को ही लें। अपनी विधि को सर्वोत्तम माननेवाला अध्यापक इस सर्वोत्तमता को सबसे पहले इससे प्रमाणित करने की कोशिश करता है कि वह दूसरों के मुक़ाबले अधिक जल्दी सिखाता है। आज जब सैकड़ों विधियां हैं, तो ठीक-ठीक जानना चाहिए कि चुनाव में किससे निदेशित हुआ जाये। इस बात को न तो सिद्धांत, न तर्क और न शिक्षण के परिणाम ही, कुछ भी पूरी तरह नहीं दिखा सकते हैं।

शिक्षा और शिक्षण को सामान्यत: अमूर्त रूप में लिया जाता है, यानी इस प्रश्न पर ग़ौर किया जाता है कि किसी निश्चित वस्तु पर (चाहे यह एक बच्चा हो या बहुत सारे बच्चे) सबसे श्रेष्ठ और सबसे सरल तरीक़े से शिक्षण का कोई निश्चित प्रभाव कैसे डाला जाये। लेकिन यह विचार सरासर ग़लत है। हर प्रकार की शिक्षा और शिक्षण ऐसे दो व्यक्तियों अथवा दो व्यक्ति-समष्टियों का एक निश्चित परस्पर संबंध है, जिनका उद्देश्य शिक्षा अथवा शिक्षण है। यह परिभाषा, जो अन्य परिभाषाओं की अपेक्षा अधिक व्यापक है, सार्वजनिक शिक्षा पर विशेषत: लागू होती है, जिसमें प्रश्न विशाल संख्या में लोगों को शिक्षा देने का होता है, या जिसमें हम किसी आदर्श शिक्षा की बात भी नहीं कर सकते। वैसे भी सार्वजनिक शिक्षा के सिलसिले में सवाल को यों नहीं पेश किया जाना चाहिए कि सर्वोत्तम शिक्षा कैसे दी जाये। यह तो वैसी ही बात होगी, जैसे आहार के सिलसिले में यह पूछना कि सबसे अधिक पोषणदायी और अच्छी रोटी कैसे पकायी जाये। सवाल यों पेश किया जाना चाहिए: सीखने के इच्छुक और सिखाने के इच्छुक दत्त लोगों के बीच सर्वोत्तम संबंध कैसे बनाया जाये? या किसी ख़ास तरह के आटे से अच्छी से अच्छी रोटी कैसे बनायी जाये? अत: यह सवाल कि कैसे सिखायें और सर्वोत्तम विधि कौन सी है, वास्तव में इसका सवाल है कि विद्यार्थियों और अध्यापकों के बीच कैसा संबंध सबसे अच्छा होगा।

शायद कोई भी आपत्ति नहीं करेगा कि अध्यापक और विद्यार्थियों

के बीच सबसे अच्छा संबंध सहजता का संबंध है ; कि सहज संबंध का विलोम बाध्यतामूलक संबंध है। अगर बात ऐसी है, तो संबंधों का ज़्यादा या कम सहज स्वरूप और इसलिए पढ़ाई का कम या ज़्यादा बाध्यतामूलक स्वरूप सभी विधियों का मापदंड बन जाते हैं। बच्चे जितने कम बाध्य होकर पढ़ेंगे, विधि उतनी ही अच्छी होगी, और इसी प्रकार पढ़ाई में बाध्यता का तत्व जितना ज़्यादा होगा, विधि उतनी ही ख़राब होगी। मुझे बड़ी ख़ुशी है कि मुझे इस स्वतःस्पष्ट बात को सिद्ध नहीं करना पड़ता है। सभी सहमत हैं कि जैसे स्वास्थ्य के लिए ऐसे कोई भी पथ्य, औषधियां और व्यायाम उपयोगी नहीं हो सकते हैं, जो वितृष्णा या पीड़ा पैदा करते हैं, वैसे ही शिक्षा के कार्य में बच्चों को कोई भी ऐसी चीज़ रटने के लिए विवश करने से कोई मदद नहीं मिल सकती, जो उन्हें उबाऊ तथा अप्रिय लगती है, और यदि बच्चों को विवश किये बिना काम नहीं चल सकता, तो यह सिर्फ़ इसी का सबूत है कि विधि दोषपूर्ण है। जिसने भी बच्चों को सिखाया-पढ़ाया है, उसने शायद ग़ौर किया होगा कि अध्यापक का पढ़ाये जानेवाले विषय का ज्ञान और इस विषय से लगाव जितना कम होगा, उसे कठोरता और बाध्यकरण उतने ही ज़रूरी प्रतीत होंगे ; इसके विपरीत अध्यापक विषय को जितनी ही अच्छी तरह जानता और उससे लगाव रखता होगा, उसके अध्यापन में उतनी ही सहजता और उन्मुक्तता पायी जायेगी। मेरे विरोधी स्कूल के सभी अध्यापक मानते हैं कि सफल शिक्षण के लिए बाध्य किये जाने की नहीं, बल्कि रुचि जगाये जाने की आवश्यकता है। मगर उनमें और मुझमें अंतर सिर्फ़ यह है कि पढ़ाई बच्चे के लिए रुचिकर होनी चाहिए – इस प्रस्थापना को वे इसका खंडन करनेवाली **विकास** संबंधी प्रस्थापनाओं के सामने भुला देते हैं और विकास में दृढ़ विश्वास होने के कारण वे उसके लिए विवश करने लगते हैं। इसके विपरीत मैं विद्यार्थी में रुचि जगाने, पढ़ाई को अधिकतम हल्का बनाने और इसलिए सहजता तथा प्राकृतिकता को अच्छे या बुरे शिक्षण का बुनियादी तथा एकमात्र मापदंड मानता हूं।

अगर हम शिक्षा के इतिहास पर ध्यान से नज़र डालें, तो पायेंगे कि उस क्षेत्र में सारी प्रगति अध्यापक और विद्यार्थी के संबंध अधिकाधिक सहज बनने पर, पढ़ाई में बाध्यता के तत्त्व के कम होने पर और उसे

बोझ न समझे जाने पर ही निर्भर रही है।

मेरे विचारों पर आपत्ति करते हुए मुझसे पहले भी कहा गया है और अब भी कहा जायेगा : स्कूल में किस सीमा तक स्वतंत्रता दी जानी चाहिए, यह कैसे मालूम किया जाये ? मैं इसका यह उत्तर दूंगा कि इस स्वतंत्रता की सीमा अध्यापक द्वारा, उसके ज्ञान द्वारा, स्कूल का निदेशन करने की उसकी योग्यता द्वारा ख़ुद बख़ुद निर्धारित कर दी जाती है कि यह स्वतंत्रता ऊपर से नहीं लादी जा सकती, कि इस स्वतंत्रता की मात्रा अध्यापक के कम या अधिक ज्ञान तथा प्रतिभा का परिणाम ही होती है। यह स्वतंत्रता नियम नहीं है, मगर वह स्कूलों की आपस में तुलना के लिए, स्कूली शिक्षा की नयी विधियों की तुलना के लिए मापदंड का काम करती है। जिस स्कूल में बाध्यकरण कम है, वह उस स्कूल से बेहतर है, जिसमें बाध्यकरण ज़्यादा है। जिस विधि को स्कूल में लागू किये जाने पर अनुशासन को और कड़ा नहीं बनाना पड़ता, वह विधि अच्छी है ; जो अधिक कड़ाई की मांग करती है, वह शायद बुरी है। उदाहरण के लिए, मेरे स्कूलों जैसे किसी कम या ज़्यादा उन्मुक्त स्कूल को ले लीजिये और उसमें मेज़ अथवा छत के बारे में बातें शुरू करने या चौकोर टुकड़ों से कुछ बनाने की कोशिश करके देखें। आप पायेंगे कि स्कूल में ऐसा हंगामा मच गया है कि कड़ाई बरते बिना व्यवस्था क़ायम ही नहीं की जा सकती। लेकिन अगर आप उन्हें कोई मनोरंजक कहानी सुनायेंगे, या सवाल देंगे, या एक से श्यामपट्ट पर लिखवायेंगे तथा दूसरों से उसकी ग़लतियां ठीक करने को कहेंगे, तो पायेंगे कि सभी व्यस्त हैं, शरारत कोई नहीं कर रहा है, कड़ाई बरतने की कोई ज़रूरत नहीं है, और बेझिझक कहा जा सकता है कि विधि अच्छी है।

अपने शिक्षाशास्त्रीय लेखों में मैंने इसका सैद्धांतिक विवेचन किया है कि क्यों स्वयं विद्यार्थियों द्वारा यह तय किया जाना ही वास्तविक शिक्षण का आधार हो सकता है कि क्या और कैसे सीखना है। व्यवहार में मैंने पहले काफ़ी बड़े पैमाने पर और फिर काफ़ी सीमित पैमाने पर अपने स्कूलों में इन नियमों को लागू करके देखा और पाया कि अध्यापकों तथा विद्यार्थियों के लिए भी और नयी शिक्षणविधियों के विकास के लिए भी इसके सदा अच्छे परिणाम निकले हैं। मैं यह बात डंके की चोट पर कह रहा हूं, क्योंकि सैकड़ों लोग यास्नाया पोल्याना स्कूल में आकर

खुद भी यह देख चुके हैं।

विद्यार्थियों के प्रति ऐसे रवैये का परिणाम अध्यापकों के लिए यह रहा कि उनकी दृष्टि में अब वह विधि सर्वोत्तम नहीं रह गयी, जिसे वे पहले से जानते थे, बल्कि अब वे दूसरी विधियां मालूम करने, दूसरे अध्यापकों के निकट संपर्क में आकर उनकी विधियों की जानकारी पाने का प्रयत्न करने, नयी विधियां आज़माने और, जो सबसे मुख्य बात है, खुद भी निरतर सीखते रहने लगे। अध्यापक ने ऐसा सोचना बंद कर दिया कि विद्यार्थियों की असफलता का कारण उनका आलसी, शरारती, कूड़मग़ज़, बहरा या साफ़-साफ़ बोल पाने में असमर्थ होना है। वह अब भली भांति जान गया कि विद्यार्थियों की असफलता का दोषी वह स्वयं है, और इसलिए विद्यार्थी अथवा विद्यार्थियों की हर कमी को दूर करने के लिए वह समुचित उपाय ढूंढने लगा। विद्यार्थियों के लिए परिणाम यह निकला कि वे स्वेच्छा से पढ़ने लगे, सरदियों में शाम की कक्षाओं से भागना बंद कर दिया और कक्षा में अपने को बिल्कुल स्वतंत्र अनुभव करने लगे, जो मेरे विश्वास और अनुभव के अनुसार पढ़ाई के सुचारु ढंग से चलने की मुख्य शर्त है। अध्यापकों और विद्यार्थियों के बीच हमेशा घनिष्ठ, सहज संबंध रहने लगे। ज्ञात है कि ऐसे संबंध होने पर ही अध्यापक अपने विद्यार्थियों को भली भांति जान सकता है...

शिक्षण की विधियों के लिए परिणाम यह रहा कि किसी भी विधि को स्वीकार या अस्वीकार इस आधार पर नहीं किया जाता था कि वह पसंद आयी है अथवा नहीं आयी है, बल्कि इस आधार पर किया गया कि विद्यार्थी विवशतापूर्वक उसके अभ्यस्त बनते हैं या स्वेच्छा से। खुद मेरे द्वारा और सभी (बीस से अधिक) अध्यापकों द्वारा मेरी विधि के उपयोग के सदा अच्छे परिणाम निकले हैं। साथ ही चूंकि भाषा और गणित जैसे विषयों के अध्यापन के लिए अच्छी जानकारी दरकार है, इसलिए हर अध्यापक विद्यार्थियों को आगे बढ़ाते हुए खुद भी सीखने की आवश्यकता अनुभव करता है, जो मेरे सभी अध्यापकों के साथ हुआ है।

इसके अलावा चूंकि हमारी विधियां हमेशा के लिए नियत और अपरिवर्तनीय नहीं हैं, बल्कि उन्हें अधिकाधिक सरल तथा सहज बनाने की कोशिश चलती रहती है, अध्यापक अपने अध्यापन के बारे में

विद्यार्थियों के रवैये से मिलनेवाले संकेतों के अनुसार उनमें सुधार, परिवर्तन करता रहता है...

शिक्षा के बारे में अपने लगभग सभी विचार लोगों के सामने रखने का यह अवसर पाकर मुझे विशेषतः इसलिए खुशी है कि मेरे काम-धंधे मुझे इस एक सबसे बेकार मन-बहलाव पर, यानी बहस-मुबाहिसे पर वक़्त गंवाने की इजाज़त नहीं देते हैं।

अगर मेरी बातें किसी को अब भी क़ायल नहीं कर पायी हैं, तो इसका मतलब है कि मैं वह चीज़ नहीं कह सका हूं, जो कहना चाहता था, और आगे बहस में उलझने का मेरा कोई इरादा नहीं है। मैं जानता हूं कि इससे ज़्यादा बहरा कोई नहीं होता, सिवाय उसके, जो सुनना नहीं चाहता। मैं जानता हूं कि मालिकों के साथ क्या होता है। नयी, महंगी अनाज मांड़ने की मशीन ख़रीदकर लगायी जाती है और चालू की जाती है। पर कितनी भी कोशिश करो, वह ठीक से काम नहीं करती और अनाज भूसे में चला जाता है। नुक़सान होता है। ऐसे में समझदारी का काम यह होगा कि मशीन को परे फेंककर किसी और ढंग से मांड़ा जाये। पर मशीन पर पैसे जो ख़र्च किये गये हैं और उसे चालू जो किया गया है! इसलिए मालिक कहता है: "इसे ही मांड़ने दो।" ऐसा ही इस प्रसंग में भी होता है। मैं जानता हूं कि दृश्य शिक्षा, चौकोर टुकड़े, अंकगणित के बजाय बटन और ज़रूरत के ४०० सस्ते सार्वजनिक स्कूलों के बजाय २० महंगे स्कूल अभी लंबे समय तक फूलेंगे-फलेंगे। मगर मैं यह भी पक्के तौर पर जानता हूं कि रूसी जनता की सहजबुद्धि उसे अपने ऊपर थोपी गयी यह झूठी और कृत्रिम शिक्षण प्रणाली स्वीकार नहीं करने देगी।

मुख्य अभिरुचिशील पक्ष भी और निर्णायक भी जनता है, और वह हमारी इस न्यूनाधिक बुद्धिविलास भरी बहस पर कोई कान नहीं दे रही है कि उसके लिए शिक्षा के आत्मिक व्यंजन किस भांति तैयार करना ज़्यादा अच्छा होगा। उसे इस सबसे कोई सरोकार नहीं है, क्योंकि वह भली भांति जानती है कि अपने बौद्धिक विकास के महान कार्य में उससे कोई ग़लत क़दम नहीं उठेगा और न वह कोई ऐसी चीज़ ही स्वीकार करेगी, जो ठीक नहीं है।

१५. रोमां रोलां के नाम पत्र से

(अक्तूबर, १८८७)

... आप पूछते हैं कि मैं हस्त श्रम को वास्तविक सुख की एक अनिवार्य शर्त क्यों मानता हूं ...

मैंने हस्त श्रम को कभी भी बुनियादी सिद्धांत के तौर पर नहीं, बल्कि नैतिक सिद्धांतों के सबसे सामान्य तथा सहज इस्तेमाल के तौर पर देखा है, यानी ऐसा इस्तेमाल कि जो हर ईमानदार आदमी को सबसे पहले दिखायी देता है।

हमारे भ्रष्ट समाज में (सभ्य कहे जानेवाले समाज में) हस्त श्रम की बात सबसे पहले सिर्फ़ इसीलिए करनी पड़ती है कि हस्त श्रम से छुटकारा पाने की आकांक्षा, बदले में कुछ भी दिये बिना ग़रीब वर्गों, जाहिलों और कंगालों की मेहनत से फ़ायदा उठाने की आकांक्षा आज तक हमारे समाज की मुख्य कमी रही है।

हमारे वर्ग के उन लोगों की, जो ईसाइयत के सिद्धांतों, दर्शन और मानवीयता के सिद्धांतों में आस्था रखते हैं, ईमानदारी का पहला सबूत यह होना चाहिए कि वे जहां तक हो सके, इस अन्याय को ख़त्म करने की कोशिश करें।

इस उद्देश्य को पाने का सबसे सरल और सदा उपलभ्य साधन हस्त श्रम है, जो अपनी सेवा अपने आप करने से शुरू होता है।

नैतिकता का सबसे साधारण और संक्षिप्त नियम यह है कि दूसरों से अपने लिए कम से कम और अपने से दूसरों के लिए अधिक से अधिक काम करवाया जाये। दूसरों से यथासंभव कम अपेक्षा करनी चाहिए और दूसरों को यथासंभव अधिक देना चाहिए।

जीवन को सार्थकता और फलस्वरूप संपन्नता प्रदान करनेवाला यह नियम साथ ही सभी कठिनाइयों को हल कर देता है। इसके अलावा वह उस शंका का भी समाधान करता है, जो आपके मन में उठी है। यह नियम बताता है कि बौद्धिक कार्य, विज्ञान और काल का क्या स्थान होना चाहिए। इस नियम का पालन करते हुए मैं सिर्फ़ तभी अपने को सुखी और संतुष्ट अनुभव करता हूं, जब मुझे इसमें तनिक भी संदेह नहीं होता कि मेरा कार्य औरों के लिए हितकर है। जहां तक उनकी तुष्टि का संबंध है, जिनके लिए मैं कार्य कर रहा हूं, तो वह तुष्टि मेरे लिए अतिरिक्त सुख का स्रोत बनती है, जिसकी कि मैंने आशा नहीं की थी और जो मेरे कार्यों के चयन को प्रभावित नहीं कर सकती।

मेरा यह दृढ़ विश्वास कि मैं जो कर रहा हूं, वह निरर्थक और हानिकारक नहीं है, बल्कि उससे दूसरों का भला ही होता है, मेरा यह दृढ़ विश्वास ही मेरे सुख की मुख्य शर्त है। और यही बात नैतिक तथा ईमानदार आदमी को न चाहते हुए भी वैज्ञानिक तथा कलापरक कार्य की तुलना में हस्त श्रम को प्राथमिकता देने को विवश करती है।

मेरी लेखकीय रचनाओं के इस्तेमाल के वास्ते छपाईकर्मियों के श्रम की आवश्यकता होती है; अपनी सिंफ़नियों की प्रस्तुति के लिए मुझे साज़िंदों पर निर्भर होना पड़ता है; प्रयोग करने के लिए मुझे उन लोगों के श्रम की आवश्यकता होती है, जो हमारी प्रयोगशालाओं के लिए यंत्र और उपकरण बनाते हैं; मैं जो चित्र बनाता हूं, उनके लिए मुझे ऐसे लोगों की ज़रूरत पड़ती है, जो रंग और कैनवस तैयार करते हैं। दूसरी ओर, जो काम मैं करता हूं, वे लोगों के लिए उपयोगी भी हो सकते हैं और (जैसा कि अधिकांश मामलों में होता भी है) बिल्कुल अनुपयोगी तथा यहां तक कि हानिकारक भी हो सकते हैं। मैं ऐसे काम कैसे कर सकता हूं, जिनकी उपयोगिता में काफ़ी संदेह है और जिनके लिए मुझे औरों से भी काम करवाना ज़रूरी है, जबकि मेरे सामने, मेरे गिर्द अनगिनत ऐसी चीज़ें हैं, जो सब निस्संदेह दूसरों के लिए उपयोगी हैं और जिन्हें बनाने या करने के लिए मुझे किसी की ज़रूरत नहीं है, जैसे, उदाहरण के लिए, थके हुए आदमी का बोझा उठा देना, किसी बीमार किसान का खेत जोत देना, घायल आदमी की मरहम-पट्टी कर देना, वग़ैरह। अपने चारों ओर के इन हज़ारों कामों की बात अगर जाने भी दें, जिन्हें करने के लिए किसी बाहरी मदद की ज़रूरत नहीं होती,

पर जो उन्हें तुरंत संतोष पहुंचाते हैं, जिनके लिए आप उन्हें कर रहे हैं, तो भी उनके अलावा दूसरे असंख्य काम हैं, जैसे पेड़ लगाना, बछड़े की देखभाल करना, कूआं साफ़ करना, आदि। ये सब काम बिला शक उपयोगी हैं, और किसी भी ईमानदार आदमी के लिए ठीक न होगा कि वह उन्हें न करके कोई और ऐसे काम करे, जिनके लिए दूसरों के श्रम की ज़रूरत होती है और इसके साथ ही जिनकी उपयोगिता संदिग्ध है।

अध्यापक का काम एक उदात्त और आभिजात्यपूर्ण काम है। मगर अध्यापक वह नहीं है, जिसने अध्यापक की शिक्षा पायी है, बल्कि वह है, जो अपने अंतर्मन से विश्वास करता है कि वह अध्यापक है, उसे अध्यापक ही होना चाहिए और इसके अलावा वह और कुछ नहीं हो सकता।

ऐसा विश्वास विरले ही देखने में आता है और आदमी अपने काम के लिए जो बलि देता है, उससे ही उसे सिद्ध किया जा सकता है।

हस्त श्रम सभी का कर्तव्य है और उसी में सबका सुख है। बुद्धि और कल्पना से संबंधित कार्यकलाप एक अत्यंत विशिष्ट कार्यकलाप है और वह उन लोगों के लिए ही कर्तव्य और सुख का स्रोत होता है, जिनकी वह अंदरूनी मांग है।

अंदरूनी मांग को केवल तभी पहचाना और सिद्ध किया जा सकता है, जब वैज्ञानिक या कलाकार अपने को उसे पूर्णतः समर्पित करने के लिए अपने चैन तथा खुशहाली की बलि देता है। जो मनुष्य अपने हाथ की मेहनत से जीवन-निर्वाह करने के अपने कर्त्तव्य के पालन में कोताही नहीं करता और इसके अलावा अपने विश्राम तथा नींद से कुछ समय छीनकर उसे बुद्धि तथा कल्पना के क्षेत्र में सृजन पर लगाता है, वह इससे अपनी अंदरूनी मांग का सबूत ही पेश करता है और अपने क्षेत्र में लोगों की आवश्यकता की चीज़ का सृजन करेगा। इसके विपरीत, जो मनुष्य सामान्य नैतिक कर्तव्य से मुंह मोड़ता है और विज्ञान तथा कला के प्रति विशेष रुझान के बहाने मुफ़्तख़ोरी करना चाहता है, वह सिर्फ़ झूठे विज्ञान और झूठी कला का ही सृजन करेगा।

सच्चे विज्ञान और सच्ची कला के फल त्याग के फल होते हैं, न कि किन्हीं भौतिक श्रेष्ठताओं के फल।

मगर तब विज्ञान और कला का क्या होगा?

यह सवाल मैं ऐसे लोगों से न जाने कितनी बार सुन चुका हूं, जिनकी न तो विज्ञान और कला में कोई रुचि है और जो न जानते ही हैं कि विज्ञान और कला क्या चीज़ हैं। देखने में इन लोगों को सबसे अधिक चिंता मानवजाति के कल्याण की है, और वह, उनके मत में, सिर्फ़ उसका विकास करके ही हासिल किया जा सकता है, जिसे वे विज्ञान तथा कला कहते हैं।

पर उपयोगी की उपयोगिता की हिमायत करना क्या अजीब धंधा नहीं है?

क्या कोई इतना भी पागल हो सकता है कि उपयोगी की उपयोगिता से इंकार करे? क्या कोई इससे भी ज़्यादा हास्यजनक हो सकता है कि उपयोगी की उपयोगिता की हिमायत को अपना कर्त्तव्य समझे?

उद्योग-धंधों में काम करनेवालों, खेती के क्षेत्र में काम करनेवालों की उपयोगिता से इंकार करने की हिम्मत कभी किसी ने नहीं की है। और कामगर आदमी भी कभी अपने श्रम की उपयोगिता सिद्ध नहीं करने लगेगा। वह उत्पादन करता है, उसकी पैदा की हुई वस्तु की आवश्यकता है और उससे दूसरों का भला होता है। वह इस्तेमाल की जाती है और कोई उसकी उपयोगिता में संदेह नहीं करता। और कोई उसे सिद्ध भी नहीं करता। कला और विज्ञान के कामगर भी इसी स्थिति में होते हैं।

तो कुछ लोग उनकी उपयोगिता सिद्ध करने पर नाहक ही क्यों एड़ी-चोटी का ज़ोर लगाते हैं?

बात यह है कि विज्ञान और कला के क्षेत्र में वस्तुतः काम करनेवाले अपने लिए किन्हीं अधिकारों की मांग नहीं करते। वे अपनी रचनाएं, अपनी मेहनत के फल देते हैं, ये रचनाएं उपयोगी होती हैं, और इसलिए उन्हें किन्हीं अधिकारों की, उनकी मान्यता की आवश्यकता नहीं होती।

मगर अपने को वैज्ञानिक, कलाकार कहनेवालों की विशाल बहुसंख्या भली भांति जानती है कि वह जो पैदा करती है, उसका उसके सामने कोई मूल्य नहीं है, जिसका वह उपभोग करती है। और इस कारण वह यह सिद्ध करने पर एड़ी-चोटी का ज़ोर लगाती है कि उसका कार्यकलाप मानवजाति की भलाई के लिए आवश्यक है।

मनुष्य के कार्यकलाप के अन्य क्षेत्रों की भांति सच्चे विज्ञान तथा

कला का भी अस्तित्व सदा रहा है और रहेगा, और इसलिए उनकी उपयोगिता से इंकार करना या उनकी हिमायत करना असंभव और निरर्थक है।

१६. एक अज्ञात महिला के नाम पत्र

(४ अक्तूबर, १८६६)

पालन उनके दिल पर छाप डालने का दूसरा नाम है, जिनका हम पालन कर रहे हैं। दिल पर छाप सिर्फ़ सम्मोहन के ज़रिये ही डाली जा सकती है, और बच्चे सम्मोहन के, मिसाल की छूत के शिकार आसानी से बन जाते हैं। बच्चा देखता है कि मैं उत्तेजित हूं, दूसरों का अपमान करता हूं और उन्हें वह काम करने को मजबूर करता हूं, जिसे मैं खुद भी कर सकता था। बच्चा देखता है कि मैं अपने लालच और लिप्साओं के बारे में चुप्पी लगा जाता हूं, कि मैं औरों के लिए काम करने से कतराता हूं तथा अपना ही संतोष ढूंढता हूं, कि मैं अपनी स्थिति पर घमंड – मिथ्या घमंड – करता हूं, कि मैं दूसरों की बुराई करता हूं, कि मैं पीठ पीछे वह नहीं कहता, जो मुंह सामने कहता हूं, कि मैं वह मानने का दिखावा करता हूं, जिसे वास्तव में नहीं मानता। बच्चा मेरी इस तरह की हज़ारों हरकतें देखता है, या इसके विपरीत मेरा दब्बूपन, विनम्रता, मेहनतपसंदी, आत्मत्याग, संयम, सत्यपरकता, आदि देखता है, और उनसे जितना प्रभावित होता है, ऊंची-ऊंची और तर्कों से भरपूर नसीहतों से उसके सौवें हिस्से जितना भी प्रभावित नहीं होता है। इसलिए सारा, या ०.६६६ प्रतिशत पालन मिसाल पर, अपने जीवन की कमियों को दूर करने पर निर्भर है।

इस तरह आपने आदर्श, यानी भलाई के बारे में, जिसकी केवल अपने भीतर प्राप्ति में कोई संदेह नहीं हो सकता, सोचते हुए अपने भीतर जिस चीज़ से शुरू किया था, उसी चीज़ पर अब आप बच्चों का पालन किये जाने से, बाहर से पहुंचे हैं। कारण भली भांति न

जानते हुए भी जो चीज़ आप अपने लिए चाहते थे, वही चीज़ अब आपके लिए इसलिए आवश्यक बन गयी है कि बच्चे भ्रष्ट न हों जायें।

पालन से सामान्यतः या तो बहुत अधिक या फिर बहुत कम अपेक्षा की जाती है। यह अपेक्षा करना असंभव है कि जिनका हम पालन कर रहे हैं, वे अमुक-अमुक चीज़ सीख लेंगे, अमुक-अमुक शिक्षा (जिस अर्थ में हम शिक्षा शब्द को समझते हैं) पा लेंगे। इसी तरह यह भी असंभव है कि वे नैतिक बन जायेंगे, जिस अर्थ में कि हम इस शब्द को समझते हैं। पर यह सर्वथा संभव है कि हम स्वयं बच्चों के बिगड़ने में भागीदार न बनें (इसमें न पत्नी पति को रोक सकती है और न पति पत्नी को रोक सकता है), बल्कि जीवनभर भलाई की मिसालें पेश करते हुए यथाशक्ति उन्हें प्रभावित करते रहें।

मैं समझता हूं कि अगर हम खुद अच्छे नहीं हैं, तो बच्चों को अच्छा पालन, अच्छी शिक्षा देना कठिन ही नहीं, असंभव भी है। बच्चों का पालन मात्र आत्मपरिष्करण है और इसमें सबसे अधिक मददगार बच्चे ही होते हैं। जिस तरह तंबाकू पीनेवालों, शराबियों, पेटुओं, निठल्लों और रात-रात भर जागनेवालों की डाक्टर से यह मांग हास्यजनक लगती है कि वह उनके ऊट-पटांग रहन-सहन के बावजूद उन्हें स्वस्थ बना दे, उसी तरह लोगों की यह मांग भी हास्यजनक है कि उन्हें अपना अनैतिक जीवन छोड़ने को भी विवश न किया जाये और साथ ही बच्चों का नैतिक पालन करने का ढंग भी सिखाया जाये। पालन का सारा भेद अपनी ग़लतियों को ज़्यादा से ज़्यादा समझने और उनसे छुटकारा पाने में है। और यह हर कोई तथा हर प्रकार की जीवनीय परिस्थितियों में कर सकता है। यही वह सबसे शक्तिशाली औज़ार भी है, जो मनुष्य को अन्य लोगों पर प्रभाव डालने के लिए मिला हुआ है। अन्य लोगों में अपने बच्चे भी आ जाते हैं, जो हमेशा अनजाने ही हमारे सबसे निकट होते हैं। Fais ce que dois, advienne que pourra [परिणाम की चिंता किये बिना अपना कर्तव्य करते जाओ] – यह उक्ति सबसे अधिक पालन पर ही लागू होती है।

१७. प० इ० बिर्युकोव के नाम पत्र से
(१६०१)

...बच्चे हमेशा उस अवस्था में होते हैं, जिसे चिकित्सक लोग सम्मोहन की पहली कोटि कहते हैं। वे जितने छोटे होंगे, उतने ही अधिक वे इस अवस्था में होंगे। अपनी इस अवस्था की बदौलत ही वे सीख-पढ़ पाते हैं। (उनकी यह सम्मोहनीयता उन्हें पूरी तरह बड़ों के वश में कर देती है, और इसलिए इस बात की उपेक्षा करना असंभव है कि हम क्या और कैसे उनके मन में बिठा रहे हैं।) अतः लोग हमेशा सम्मोहन के ज़रिये ही सीखते हैं, जिसकी प्रक्रिया दो प्रकार से संपन्न होती है: सचेतन और अचेतन रूप से। हम बच्चों को प्रार्थनाओं और नीति कथाओं से लेकर नाच-गाने तक जो कुछ भी सिखाते हैं, वह सचेतन सम्मोहन है, और जिसकी बच्चे हमारी इच्छा से स्वतंत्र रूप से हमारे जीवन के रंग-ढंग, हमारे व्यवहार से नक़ल करते हैं, वह सब अचेतन सम्मोहन है। सचेतन सम्मोहन शिक्षण या शिक्षा है, जबकि अचेतन सम्मोहन मिसाल है, संकीर्ण अर्थ में पालन है, या जैसा कि मैं उसे नाम दूंगा, प्रबोधन है। हमारे समाज में सारा ध्यान पहले पर केंद्रित रहता है, जबकि दूसरे को उपेक्षित छोड़ दिया जाता है, क्योंकि हमारा जीवन भ्रष्ट है। जो पालन करनेवाले हैं, वे या तो – और ज़्यादातर ऐसा ही होता है – बच्चों से जीवन को, वयस्कों के जीवन को छिपाते हैं और उन्हें विशिष्ट परिस्थितियों (अफ़सर कोरों, विशिष्ट कालेजों, आवासीय स्कूलों, आदि) में रखते हैं, या फिर उस चीज़ को चेतना के क्षेत्र में ऊपर से आरोपित करते हैं, जो अचेतन रूप से होना चाहिए था, यानी जीवन

लेव तोलस्तोय नयी शती के आरंभ-काल में

के नैतिक नियमों की नसीहत देते हैं, जिसपर यह अवश्य जोड़ा जाता है: Fais ce que je dis, mais ne fais pas ce que je fais [करो वह, जो मैं कहता हूं, न कि वह, जो मैं करता हूं – कैथोलिक पुरोहितों की उक्ति])। इस का नतीजा यह हुआ कि हमारे समाज में शिक्षा बेहद आगे निकल गयी है और सच्चा पालन या प्रबोधन न सिर्फ़ पिछड़ गया है, बल्कि कहें तो उसका अभाव ही है। अगर कहीं यह सच्चा पालन है, तो केवल ग़रीब कामगरों के परिवारों में ही। दूसरी ओर, बच्चों पर प्रभाव के अचेतन और सचेतन, इन दो पहलुओं में से अलग-अलग व्यक्तियों के लिए भी और लोगों के समाज के लिए भी अतुलनीय रूप से महत्वपूर्ण पहला, यानी अचेतन नैतिक पालन है।

कल्पना करें कि किसी rentier [सूदख़ोर], ज़मींदार, सरकारी अधिकारी या यहां तक कि किसी कलाकार या साहित्यकार का परिवार बुर्जुआ जीवन व्यतीत करता है, जिसमें न शराबख़ोरी की जाती है, न ऐयाशी की जाती है, न झगड़ा होता है और न किसी का अपमान किया जाता है। यह परिवार अपने बच्चों को नैतिक शिक्षा देना चाहता है। मगर यह वैसे ही असंभव है, जैसे किसी भाषा में बोले बिना और उसमें लिखी किताबें दिखाये बिना बच्चों को वह भाषा सिखाना। बच्चे नैतिकता की, लोगों का आदर करने की नसीहतें सुनते रहेंगे, पर अचेतन रूप से यही नक़ल करेंगे और सीखेंगे कि कुछ लोगों का काम जूते, कपड़े साफ़ करना, पानी और गंदगी ढोना तथा खाना पकाना है, और कुछ लोगों का काम कपड़ों, घर, आदि को गंदा करना, अच्छे-अच्छे व्यंजन खाना, आदि है। अगर हम जीवन के धार्मिक आधार – लोगों के बीच बंधुत्व को गहराई में समझें, तो पायेंगे कि जो लोग दूसरों से छीने हुए पैसों के भरोसे रहते हैं और इन्हीं पैसों से लोगों से अपनी चाकरी करवाते हैं, उनका जीवन अनैतिक है, और किसी भी तरह के उपदेश उनके बच्चों को उस अचेतन अनैतिक सम्मोहन से नहीं बचा पायेंगे, जिसका असर या तो उनपर जीवनभर बना रहेगा तथा जीवन की परिघटनाओं के बारे में उनके सभी विचारों को विकृत बनाता रहेगा, या बड़ी कोशिशों तथा कठिनाई से तथा बहुत ग़लतियों तथा तकलीफ़ों के बाद ही उनके द्वारा ख़त्म किया जा सकेगा। मैं यह आपके वास्ते नहीं कह रहा हूं, क्योंकि जहां तक मैं जानता हूं, आप इस बुराई से मुक्त हैं और इस लिहाज़ से आपका जीवन बच्चों पर

नैतिक प्रभाव ही छोड़ सकता है। जहां तक इसका सवाल है कि आप सभी काम खुद नहीं करते और पैसे देकर दूसरों से सेवा करवाते हैं, तो यह बात भी बच्चों पर बुरा प्रभाव नहीं डाल सकती, बशर्ते वे देखते हैं कि आपके जीवन के लिए जो श्रम आवश्यक है, उसे आप दूसरे लोगों के कंधों पर लादने की कोशिश नहीं करते हैं।

इस तरह सबसे महत्त्वपूर्ण पालन अचेतन सम्मोहन है। वह अच्छा और नैतिकतापूर्ण हो, इसके लिए आवश्यक है – बेशक इस बात पर जोर देना अजीब लगता है – कि पालन करनेवाले, सीख देनेवाले का सारा जीवन अच्छा हो। आप पूछेंगे कि अच्छे जीवन से मेरा तात्पर्य क्या है। अच्छेपन की सीमा कोई नहीं है, किंतु अच्छे जीवन का एक सामान्य और मुख्य लक्षण है। वह है प्रेम में निरंतर सुधरते जाने की आकांक्षा। अगर पालन करनेवालों में यह है और इससे बच्चे प्रभावित होते हैं, तो पालन बुरा नहीं होगा।

सफल पालन के लिए आवश्यक है कि पालन करनेवाले लोग निरंतर आत्मसुधार करते रहें और जिस चीज़ के लिए प्रयत्नरत हैं, उसे साकार बनाने में एक दूसरे की अधिकाधिक मदद करें। इसके लिए मुख्य आंतरिक साधन के अतिरिक्त – यह अपने आत्मिक उत्थान के लिए प्रयत्न करना है (मेरे निजी मामले में एकांतवास और प्रार्थना की मदद से) – बहुत से अन्य साधन हो सकते हैं। उन्हें तलाशने, खोजने, प्रयोग करने और जांचने की ज़रूरत है। मैं समझता हूं कि पूर्णतावादियों द्वारा इस्तेमाल किया जानेवाला आलोचनात्मक रवैया अच्छा साधन है। मैं सोचता हूं कि अमुक-अमुक दिन सब एकत्र हों, एक दूसरे को अपनी कमज़ोरियों से लड़ने के साधनों से, आत्मसुधार के अपने या किताबों से सीखे हुए नुसख़ों से अवगत करायें। अच्छा हो कि सबसे अभागे लोगों को खोजा जाये और उनकी सेवा की जाये। अच्छा हो कि शत्रुओं से मेल बढ़ाने की कोशिश की जाये। यह मैं यों ही au courant de la plume [सरसरी तौर पर] लिख रहा हूं, लेकिन सोचता हूं कि यह बच्चों पर प्रभाव डालने के लिए अपने को तैयार करने के विज्ञान का एक पूरा और अत्यंत महत्त्वपूर्ण क्षेत्र है। अगर हम पालन के इस पहलू के महत्त्व को समझ लेंगे, तो उसके तरीक़े ढूंढने में देर न लगेगी।

यह प्रश्न के एक पक्ष – पालन – की बात हुई। अब शिक्षा के बारे में। उसके बारे में मैं यह सोचता हूं : सबसे बुद्धिमान लोगों ने जो सोचा

था, वह दूसरों को बताने का विज्ञान ही शिक्षण है। बुद्धिमान लोगों ने सदा तीन विभिन्न दिशाओं में, तीन विभिन्न ढंगों से सोचा है : १) दार्शनिक ढंग से, अपने जीवन के अर्थ के बारे में धार्मिक ढंग से – धर्म और दर्शन; २) प्रायोगिक ढंग से, एक निश्चित ढंग से व्यवस्थित किये गये प्रेक्षणों से निष्कर्ष निकालते हुए – प्राकृतिक विज्ञान, जैसे यांत्रिकी, भौतिकी, रसायनशास्त्र और शरीरक्रिया-विज्ञान; और ३) गणितीय ढंग से, अपने चिंतन की प्रस्थापनाओं से निष्कर्ष निकालते हुए – गणित और गणितीय विज्ञान।

ये तीनों प्रकार के विज्ञान वास्तविक विज्ञान हैं। उनके मामले में जालसाज़ी नहीं की जा सकती और उनके संबंध में अर्ध ज्ञान भी नहीं हो सकता – उन्हें तुम या तो जानते हो या नहीं जानते हो। ये तीनों प्रकार के विज्ञान सार्वभौमिक हैं – वे लोगों को बांटते नहीं, अपितु जोड़ते हैं। उन्हें सब लोग सीख सकते हैं और वे मानव बंधुत्व की कसौटी के अनुरूप हैं।

जहां तक धर्मशास्त्रीय, विधिशास्त्रीय, विशेष ऐतिहासिक, रूसी या फ़्रांसीसी विज्ञानों का सवाल है, तो वे अव्वल तो विज्ञान नहीं हैं, और अगर हैं, तो हानिकारक हैं, और इसलिए उन्हें वर्जित ठहरा दिया जाना चाहिए। मगर इसके अलावा कि विज्ञान की तीन शाखाएं हैं, ज्ञान के संप्रेषण के तीन तरीक़े भी हैं (कृपया यह न सोचें कि मैं तीन की संख्या के पीछे पागल हूं। मैं तो चाहता था कि चार या दस होते, पर तीन-तीन ही निकले)।

संप्रेषण का पहला और सबसे सामान्य तरीक़ा शब्द है। पर शब्द विभिन्न भाषाओं में होते हैं, और इसलिए एक और विज्ञान प्रकट होता है – भाषा। यह भी लोगों के बंधुत्व के अनुरूप है (हो सकता है कि ऐस्परांतो पढ़ायी जानी चाहिए, बशर्ते उसके लिए विद्यार्थी हों और समय भी हो)। दूसरा तरीक़ा रूपांकन कलाएं, चित्रकारी तथा मूर्तिशिल्प हैं, या इसका विज्ञान है कि जो तुम जानते हो, उसका दूसरे के देखने के लिए संप्रेषण कैसे किया जाये। तीसरा तरीक़ा संगीत, गायन है, जो अपनी अनुभूतियों, भावनाओं को संप्रेषित करने का विज्ञान है।

अध्यापन के इन छह क्षेत्रों के अलावा एक और क्षेत्र, सातवां क्षेत्र भी निर्धारित किया जाना चाहिए। यह है कौशल का शिक्षण,

जो फिर बंधुत्व की कोटि में आ सकता है। उसकी सबको आवश्यकता है। हमारा आशय फ़िटर, बढ़ई, रंगसाज़, दर्जी, आदि के शिल्पों से है।

इस तरह अध्यापन सात विषयों में बांटा जाता है।

अपने निमित्त अनिवार्य श्रम के अलावा इनमें से प्रत्येक पर कितना समय व्यय किया जाये, यह हर विद्यार्थी के व्यक्तिगत झुकाव से तय होगा।

पूर्ण स्वतंत्रता होने पर ही सर्वोत्तम विद्यार्थियों को उन सीमाओं तक पहुंचाया जा सकता है, जहां तक वे जा सकते हैं। उन्हें कमज़ोर विद्यार्थियों की ख़ातिर रोके नहीं रखा जा सकता है, क्योंकि सबसे अधिक ज़रूरत इन सबसे अच्छे विद्यार्थियों की ही होती है। एक समय प्रिय विषय होने के बावजूद कुछ विषय आगे चलकर जो उबाऊ बन जाते हैं, उनसे भी तभी बचा जा सकता है, जब स्वतंत्रता हो। स्वतंत्रता होने पर ही जाना जा सकता है कि किस विद्यार्थी का झुकाव किस विषय की ओर है। केवल स्वतंत्रता से ही पूर्ण शैक्षिक प्रभाव प्राप्त किया जाता है। अन्यथा मैं विद्यार्थी से कहूंगा तो यह कि जीवन में बलप्रयोग के लिए कोई स्थान नहीं होना चाहिए, लेकिन स्वयं उसके ऊपर सबसे भयंकर बौद्धिक बलप्रयोग कर रहा होऊंगा। मैं जानता हूं कि यह कठिन है, लेकिन किया क्या जाये, जब मालूम हो गया है कि स्वतंत्रता के सिद्धांत से हर तरह का विचलन शिक्षा के ध्येय के लिए घातक है। वैसे अगर बेवकूफ़ी न करने का दृढ़ संकल्प कर लिया गया है, तो यह कोई इतना कठिन है भी नहीं... आप कहेंगे: और सबसे छोटे? सबसे छोटे अगर ज़्यादा नटखट नहीं हैं, तो वे हमेशा खुद ही तैयार रहते हैं, हर काम ठीक-ठीक किया जाना पसंद करते हैं, यानी अनुकरण के सम्मोहन के सामने झुक जाते हैं: कल दिन के भोजन के बाद पाठ हुआ था, और आज भी वह दिन के भोजन के बाद पाठ चाहता है...

वैसे कहूं, तो मोटे तौर पर समय और विषयों का विभाजन इस तरह होना चाहिए: आदमी कुल १६ घंटे जगा होता है। इनमें से ८ घंटे मैं सोचता हूं कि बीच-बीच में आराम के साथ (आयु जितनी कम होगी, इनमें ज़्यादा समय गुज़रेगा) पालन पर, संकीर्ण अर्थ में – प्रबोधन पर, यानी अपने लिए, परिवार के लिए, दूसरों के लिए काम – सफ़ाई करना, पानी लाना, खाना पकाना, लकड़ी फाड़ना, आदि – पर ख़र्च हो जाते हैं।

बाक़ी ८ घंटे मैं शिक्षण को देता हूं। इन घंटों में विद्यार्थी ७ विषयों में से कोई भी विषय चुन सकता है, जो उसे विशेष पसंद है।

... चित्रकारी और संगीत को भी जोड़ दूं... पियानो सिखाना इसका एक स्पष्ट लक्षण है कि पालन की प्रचलित धारणा कितनी भ्रामक है। चित्रकारी की भांति संगीत में भी बच्चों को शिक्षा उनके लिए सबसे सुगम साधनों से दी जानी चाहिए (चित्रकारी में – खड़िया, कोयला, पेंसिल से; संगीत में – अपने स्वर से वह सब कुछ संप्रेषित करना, जो बच्चे देखते या सुनते हैं)। यह शुरूआत है। अगर बाद में किसी में विशेष प्रतिभा दिखायी देती है, तो उसे तब तैलरंगों से चित्र बनाना या महंगे वाद्ययंत्रों को बजाना सिखाया जा सकता है।

चित्रकारी और संगीत की बुनियादी शिक्षा देने के लिए मैं जानता हूं कि अच्छी नयी पुस्तकें उपलब्ध हैं।

विदेशी भाषाएं भी पढ़ायी जानी चाहिए। पढ़ने को कोई ऐसी पुस्तक दी जानी चाहिए, जो उन्होंने रूसी में भी पढ़ी हो, साथ-साथ ज़रूरी शब्दों, शब्द-मूलों, व्याकरणिक रूपों, आदि पर ध्यान दिलाया जाना चाहिए...

आशा है कि मेरे इस पत्र में व्यक्त विचारों को कड़ाई से आंकने के बजाय उन्हें आप शिक्षा और पालन के कार्यक्रम की एक स्थूल रूपरेखा पेश करने के प्रयास के रूप में देखेंगे।

१८. पालन के बारे में
(व० फ़० बुल्गाकोव के पत्र का उत्तर)

जैसा कि आपने चाहा है, आपकी शंकाओं का समाधान करने का प्रयत्न करूंगा।

बहुत संभव है कि पालन और शिक्षा के बारे में मेरे पुराने और नये लेखों में कई परस्परविरोधी बातें और अस्पष्टताएं हों।

मैंने उन्हें एक बार फिर देखा है और इस निष्कर्ष पर पहुंचा हूं कि मेरे लिए – और मैं समझता हूं कि आपके लिए भी – आसान होगा कि मैं अपने पहले के विचारों की हिमायत करने के बजाय सीधे-सीधे कहूं कि इन प्रश्नों के बारे में मैं अब क्या सोचता हूं।

यह मेरे लिए इसलिए भी आसान होगा कि पिछले समय में मैं इन्हीं प्रश्नों के बारे में सोचता रहा हूं।

पहली बात जो मैं कहूंगा वह यह है कि अपने पहले के शिक्षाशास्त्रीय लेखों में मैंने पालन और शिक्षा के बीच जो भेद किया था, वह कृत्रिम था। पालन और शिक्षा को एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। ज्ञान का संप्रेषण किये बिना पालन संभव नहीं है, और हर तरह का ज्ञान पालन का काम करता है। इसलिए इस भाग की चर्चा न करके मैं केवल शिक्षा के बारे में, या उसके बारे में कहूंगा, जो शिक्षा की हमारी मौजूदा विधियों की ख़ामियां हैं। मैं इसके बारे में कहूंगा कि मेरे मत में शिक्षा को कैसी होना चाहिए, और वैसी ही क्यों होना चाहिए, किसी और तरह की क्यों नहीं।

पहले की भांति मैं आज भी मानता हूं कि विद्यार्थी के लिए भी और अध्यापक के लिए भी स्वतंत्रता वास्तविक शिक्षा की आवश्यक पूर्वापेक्षा है। दंड का भय और पुरस्कार (अधिकार, आदि) का वायदा सच्ची शिक्षा में न सिर्फ़ सहायक नहीं होते, बल्कि उसमें सबसे बड़ी रुकावट भी बनते हैं।

मैं सोचता हूं कि ऐसी पूर्ण स्वतंत्रता, यानी शिक्षा पानेवालों के लिए भी और शिक्षा देनेवालों के लिए भी बाध्यता और लाभ का अभाव लोगों को उन बुराइयों के ज्यादातर हिस्से से मुक्ति दिला देगा, जो आज हर कहीं लागू बाध्यतामूलक और स्वार्थमूलक शिक्षा द्वारा पैदा की जा रही हैं...

१६. पालन के बारे में स्फुट विचार

(१८८७-१८६५ के पत्रों और डायरियों से)

पालन के बारे में मैं बहुत सोचता हूं। कुछ प्रश्न होते हैं, जिनमें संदिग्ध निष्कर्षों पर पहुंचा जाता है। पर कुछ प्रश्न ऐसे भी होते हैं, जिनमें जिन निष्कर्षों पर पहुंचा जाता है, वे अंतिम निष्कर्ष होते हैं और लगता है कि हम उन्हें न बदल सकते हैं, न उनमें कुछ जोड़ ही सकते हैं। पालन के बारे में मैं ऐसे ही निष्कर्षों पर पहुंचा हूं। वे निष्कर्ष ये हैं।

पालन तभी तक एक पेचीदा और कठिन कार्य है, जब तक हम स्वयं कुछ सीखे बिना अपने बच्चों को या किसी और को सिखाना चाहते हैं। अगर हम जान जायेंगे कि दूसरों को हम केवल अपने जरिये ही सिखा सकते हैं, तो पालन का प्रश्न खत्म हो जायेगा और केवल जीवन का यह प्रश्न रह जायेगा: स्वयं कैसे रहें? मैं बच्चों के पालन तथा शिक्षा से संबंधित ऐसा एक भी कार्य नहीं जानता, जो अपने को सिखाने से न जुड़ा हुआ हो। बच्चों को कैसे पहनायें, कैसे खिलायें, कैसे सुलायें, कैसे सिखायें? ठीक वैसे, जैसे कि अपने आपको। अगर माता-पिता संयत ढंग से पहनते, खाते तथा सोते हैं, काम करते तथा सीखते हैं, तो बच्चे भी ठीक वैसा ही करेंगे।

मैं समझता हूं कि पालन के दो नियम हैं: अपने आप न सिर्फ़ ठीक ढंग से रहें, बल्कि निरंतर आत्मसुधार भी करते जायें, और बच्चों से अपने जीवन की कोई बात न छिपायें। इसके बजाय कि बच्चे महसूस करें कि उनके मां-बाप के जीवन का एक भाग ऐसा है, जो उनसे छिपा हुआ है, और एक भाग ऐसा है, जो दिखाने के

लिए है, बेहतर यह होगा कि बच्चे अपने मां-बाप के कमज़ोर पहलुओं को जानें। पालन में सभी कठिनाइयां इसलिए पैदा होती हैं कि मां-बाप एक ओर तो अपनी कमियों को न सिर्फ़ सुधारते नहीं, बल्कि उन्हें कमियां न मानते हुए अपने में उन्हें उचित ठहराते हैं, और, दूसरी ओर, उन्हीं कमियों को अपने बच्चों में नहीं देखना चाहते। सारी कठिनाई और बच्चों से सारा झगड़ा यही है। बच्चे प्रकृति से बड़ों की अपेक्षा अधिक सूक्ष्मदर्शी होते हैं और प्रायः इसे प्रकट किये बिना या यहां तक कि सचेत हुए बिना भी मां-बाप की न सिर्फ़ कमियों को, बल्कि सबसे घृणित कमी – पाखंड – को भी देख लेते हैं। नतीजे के तौर पर वे मां-बाप को आदर की दृष्टि से देखना, उनकी नसीहतों पर ध्यान देना बंद कर देते हैं।

बच्चों के पालन में मां-बाप का पाखंड एक सबसे आम बात है। बच्चे संवेदनशील होते हैं तथा उसे तुरंत भांप जाते हैं। पहले वे उससे नफ़रत दिखाते हैं, फिर ख़ुद भी वैसे ही बन जाते हैं। सत्य आत्मिक प्रभाव की कारगरता की पहली, मुख्य शर्त है, और इसलिए वह पालन की भी पहली शर्त है। बच्चे हमारे जीवन के सारे सत्य से भयभीत न हों, इसके लिए आवश्यक है कि हम अपने जीवन को अच्छा – या यथासंभव कम बुरा – बनायें। इसलिए दूसरों के पालन में अपना पालन, अपनी शिक्षा शामिल रहते हैं। इसके अलावा और कुछ नहीं चाहिए।

* * *

पालन का प्रश्न और लोगों के बारे में रवैये का प्रश्न अंततः एक ही प्रश्न बनकर रह जाते हैं: लोगों से कथनी में ही नहीं, करनी में भी कैसा व्यवहार हो? यदि इसका समाधान पा लिया गया है, और पिता का जीवन उसका अनुसरण करता है, तो पिता के इस जीवन में ही बच्चों का सारा पालन निहित होगा। यदि समाधान सही है, पिता बच्चों को जीवन में प्रलोभित नहीं करेगा, और अगर सही नहीं है, तो इसका उल्टा होगा। जहां तक ज्ञान का संबंध है, जिसे बच्चे अर्जित करेंगे या नहीं करेंगे, तो वह गौण है, जो किसी भी सूरत में कोई महत्त्व नहीं रखता। बच्चे में जिस चीज़ के लिए रुझान होगा, उसे वह सीख ही लेगा, चाहे वह दूर-दराज़ के इलाक़े में ही क्यों न रहा हो।

* * *

मां-बाप स्वयं अपने जीवन में भ्रष्ट, संयमहीन, अकर्मण्य, लोगों के प्रति उपेक्षाभाव से परिपूर्ण होने के बावजूद हमेशा बच्चों से संयम, सक्रियता और लोगों के प्रति आदर दिखाये जाने की मांग करते हैं। मगर जीवन की भाषा, मिसाल की भाषा दूर तक सुनायी देती है और बड़े-छोटे, अपने-पराये, सबको दिखायी देती है तथा सबको स्पष्ट है।

बात यह है कि बाहरी सफलता के लिए विद्यार्थियों से प्यार से पेश आना (ज़ोर-ज़बर्दस्ती न करना) चाहे फ़ायदेमंद हो या न हो, आप और किसी तरह से पेश आ नहीं सकते। एक बात जो शायद पक्के तौर पर कही जा सकती है, वह यह है कि भलाई लोगों के दिल में भलाई जगाती है और भला प्रभाव पैदा करती है, हालांकि वह शायद दिखायी न दे।

आपका विद्यार्थियों को छोड़कर जाना और रो पड़ना (अगर इस बारे में विद्यार्थियों को मालूम हो जाये) ऐसी एक ही घटना विद्यार्थियों के मन पर सैकड़ों पाठों से भी अधिक प्रभावी छाप डाल सकती है।

* * *

पैसेवाले लोग अपने बच्चों के साथ जो करते हैं, उसे देखकर रोंगटे खड़े हो जाते हैं।

जब वह नौजवान, नासमझ और भावुक होता है, उसे ऐसे जीवन की ओर खींचा जाता है तथा उसका आदी बनाया जाता है, जिसका सारा बोझ दूसरे लोग उठाते हैं। बाद में जब प्रलोभन उसे पूरी तरह फांस लेते हैं और वह और किसी तरह से रह नहीं सकता तथा चाहता है कि दूसरे उसके लिए कमर तोड़ें, तब उसकी आंखें खोली जाती हैं (या अपने आप खुल जाती हैं), और आगे क्या करना है – जिसका वह आदी बन चुका है और जिसके बिना वह रह नहीं सकता है, उस सबको त्यागकर बलिदानी बनना है या झूठा, पाखंडी बनना है, इसका निर्णय ख़ुद उसपर छोड़ दिया जाता है।

पालन जीवन का परिणाम होता है। आम तौर पर माना जाता है कि अमुक पीढ़ी के लोग जानते हैं कि लोगों को सामान्यतः कैसा होना चाहिए, और इसलिए उन्हें वैसी अवस्था के लिए
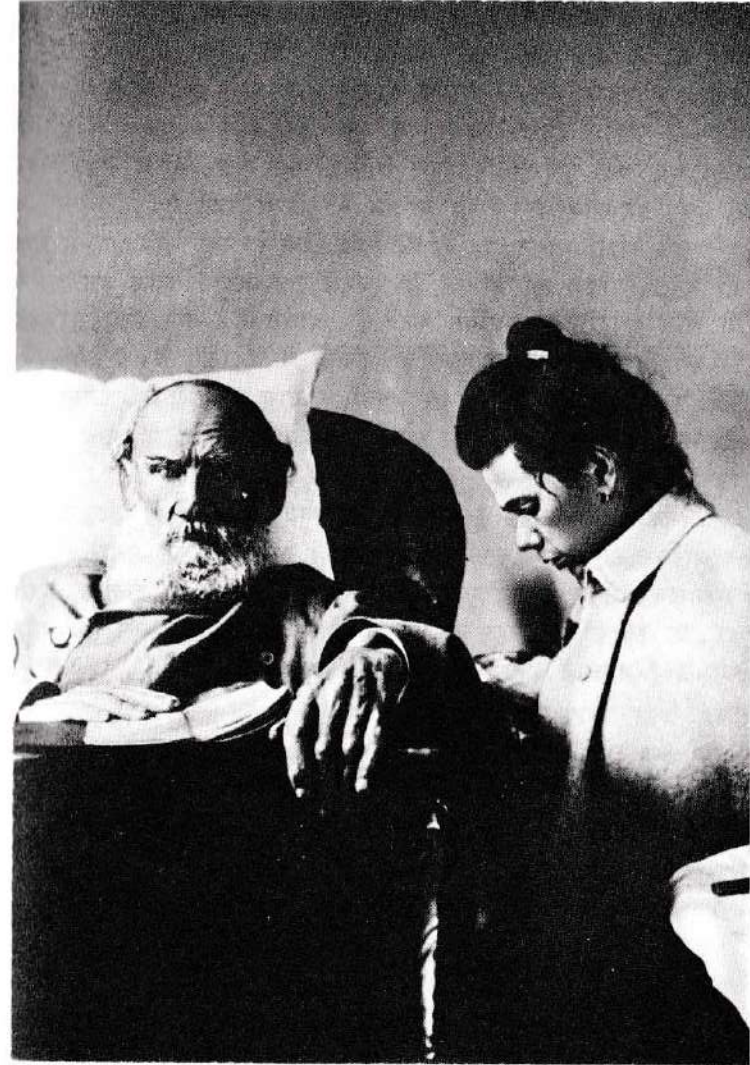
लेव तोलस्तोय जीवन के अंतिम दिनों में

तैयार कर सकते हैं। पर यह बिल्कुल ग़लत है। पहली बात तो यह है कि लोग नहीं जानते कि उन्हें कैसा होना चाहिए – ज़्यादा से ज़्यादा वे उस आदर्श को ही जान सकते हैं, जिसे पाने की कोशिश करना उनका स्वभावगत गुण है। दूसरे, पालन करनेवाले लोग खुद कभी पूर्ण तैयार, पूर्ण शिक्षित नहीं होते, बल्कि अगर मुर्दा न हुए, तो स्वयं पालन की प्रक्रिया से गुज़रते रहते हैं।

अतः सारा पालन यह है कि स्वयं ठीक से रहा जाये, यानी खुद भी बढ़ते, पालन की प्रक्रिया से गुज़रते रहा जाये। केवल इस भांति ही लोग दूसरों को प्रभावित करते हैं, पालते हैं, और इन दूसरों में निश्चय ही बच्चे भी आ जाते हैं, जिनसे वे जुड़े हुए हैं।

एकमात्र पालन यह है कि बच्चों के साथ सच्चाई से, ईमानदारी से पेश आया जाये, आपकी आत्मा में जो घट रहा है, उसे उनसे छिपाया न जाये।

शिक्षाशास्त्र इसका विज्ञान है कि स्वयं भ्रष्ट जीवन बिताते हुए बच्चों पर अच्छा प्रभाव कैसे डाला जाये। यह बहुत कुछ हमारे चिकित्साशास्त्र जैसे है, जो बताता है कि प्रकृति के नियमों का उल्लंघन करते हुए भी स्वस्थ कैसे रहा जा सकता है। दोनों ही ऐसे कपटपूर्ण और खोखले विज्ञान हैं, जो अपना उद्देश्य कभी नहीं पाते।

बच्चों के लिए कहानियां *

फ़िलिपोक

एक लड़का था। उसका नाम था फ़िलिपोक। एक बार सब बच्चे स्कूल जा रहे थे। फ़िलिपोक भी टोपी उठाकर उनके पीछे जाने लगा। तभी मां ने कहा, "तू कहां जा रहा है, फ़िलिपोक?" "स्कूल।" "पर तू तो अभी छोटा है।" और मां ने उसे घर पर ही रोक लिया। दूसरे सब बच्चे स्कूल चले गये। पिता सुबह-सबेरे ही जंगल में चला गया था। अब कुछ समय बाद मां भी दिहाड़ी पर काम करने चली गयी। घर में फ़िलिपोक और बूढ़ी दादी ही रह गये। फ़िलिपोक अकेले में ऊबने लगा, क्योंकि दादी फिर सो गयी थी। उसने अपनी टोपी ढूंढनी चाही। अपनी तो नहीं मिली, पर पिता की पुरानी टोपी ज़रूर मिल गयी। फ़िलिपोक उसे ही पहनकर स्कूल की ओर चल पड़ा।

स्कूल गांव के बाहर गिरजाघर के पास था। जब फ़िलिपोक अपने मुहल्ले से गुज़र रहा था, तो कुत्तों ने उसे नहीं छुआ, क्योंकि वे उसे जानते थे। पर जैसे ही वह पराये मुहल्ले में पहुंचा, छोटा सा जूच्का उछलकर भौंकने लग गया और उसके पीछे-पीछे बड़ा कुत्ता वोल्चोक भी ज़ोर-ज़ोर से भौंकने लग गया। फ़िलिपोक भागा। कुत्ते भी उसके पीछे-पीछे। फ़िलिपोक चिल्लाने लगा और ठोकर खाकर गिर पड़ा।

---

* इस पुस्तक में ये कहानियां बच्चों को समझायी जानेवाली जीवन की परिघटनाओं का अध्यापकों और मां-बापों द्वारा कलात्मक ढंग से वर्णन किये जाने की मिसाल के तौर पर छापी जा रही हैं। प्राथमिक शिक्षा के लिए तैयार की गयी पुस्तकों – 'काउंट लेव तोलस्तोय का ककहरा', 'नया ककहरा' – में ऐसी कहानियों को काफ़ी स्थान दिया गया था।

एक किसान ने आकर कुत्तों को खदेड़ा और फ़िलिपोक से पूछा, "तू कहां अकेले भाग रहा है?" फ़िलिपोक ने कोई जवाब नहीं दिया और कोट के पल्लू समेटकर सिर पर पैर रखकर भागा। वह स्कूल के पास पहुंच गया। बरामदे में कोई नहीं था और भीतर से बच्चों की आवाज़ें सुनायी दे रही थीं। एकाएक फ़िलिपोक को डर लगने लगा: अगर मास्टरजी ने मुझे भगा दिया तो? वह सोचने लगा कि क्या करे। वापस लौटता है, तो कुत्ते फिर काटने को दौड़ेंगे, और स्कूल में जाता है, तो मास्टरजी से डर लगता है। तभी वहां से बाल्टी लिये हुए एक औरत गुज़री और कहने लगी, "सब पढ़ रहे हैं। तू क्यों यहां अकेला खड़ा है?" फ़िलिपोक स्कूल में चला ही गया। ड्योढ़ी पर उसने टोपी उतारी और दरवाज़ा खोला। सारा स्कूल बच्चों से भरा हुआ था। सभी शोर मचा रहे थे और लाल मफ़लर पहने हुए मास्टरजी बीच में चल रहे थे।

"क्या बात है?" फ़िलिपोक को देखकर मास्टरजी ने पूछा। फ़िलिपोक ने टोपी कसकर पकड़ ली और कुछ जवाब नहीं दिया। "तुम कौन हो?" फ़िलिपोक फिर कुछ नहीं बोला। "क्या गूंगे हो?" फ़िलिपोक इतना डर गया था कि उसके मुंह से आवाज़ भी न निकल सकी। "ठीक है, बोलना नहीं चाहते, तो घर जाओ।" फ़िलिपोक को बोलकर खुशी ही होती, पर डर के मारे आवाज़ ही अटक गयी थी। उसने मास्टरजी की ओर देखा और रो पड़ा। मास्टरजी को उसपर दया आ गयी। उन्होंने उसका सिर सहलाया और दूसरे बच्चों से पूछा कि यह लड़का कौन है।

"यह कोस्त्या का भाई फ़िलिपोक है। बहुत समय से स्कूल आना चाहता था, पर मां आने ही नहीं देती। आज चुपके से भाग आया है।"

"ठीक है, जाओ, अपने भाई के पास बैठ जाओ। मैं आज तुम्हारी मां से बात करूंगा कि तुम्हें भी स्कूल आने दिया करे।"

और मास्टरजी फ़िलिपोक को अक्षर दिखाने लगे। पर फ़िलिपोक उन्हें पहले से ही जानता था और थोड़ा बहुत पढ़ भी लेता था।

"बताओ, तुम्हारा नाम कैसे लिखा जाता है?"

"फ़ु-इ फ़ि, ल-इ लि, प-ओ पो और क, फ़िलिपोक," फ़िलिपोक बोला। सब हंस पड़े।

"शाबाश," मास्टरजी ने कहा। "किसने सिखाया है तुम्हें?"

फ़िलिपोक अब डर नहीं रहा था और बोला, "कोस्त्या ने। मैं तेज हूं और सब तुरंत समझ जाता हूं। आपने देखा नहीं कि मैं कितना चतुर हूं!"

मास्टरजी हंस पड़े और बोले,

"प्रार्थना जानते हो?"

फ़िलिपोक ने बताया कि जानता है, और सुनाने भी लगा। पर हर शब्द को वह ग़लत ढंग से बोल रहा था। मास्टरजी ने उसे रोक दिया और कहा, "तुम अभी से शेखी नहीं बघारो। अभी तुम्हें बहुत सीखना है।"

तब से दूसरे बच्चों के साथ फ़िलिपोक भी स्कूल जाने लगा।

समुद्र से पानी कहां जाता है?

सोतों, तालाबों और दलदलों से पानी बहकर नालों में पहुंचता है, नालों से छोटी नदियों में, छोटी नदियों से बड़ी नदियों और वहां से समुद्र में। सभी ओर से नदियां आकर समुद्र में मिलती हैं और ऐसा तब से होता आया है, जब से यह दुनिया बनी है। पर समुद्र से पानी कहां जाता है? वह किनारों से छलकता क्यों नहीं है?

समुद्र से पानी भाप बनता है, भाप ऊपर उठती है और फिर उससे बादल बनते हैं। हवा बादलों को उड़ाती है और दूर-दूर फैला देती है। बादलों से पानी ज़मीन पर गिरता है। ज़मीन से बहकर दलदलों और नालों में पहुंच जाता है। नालों से नदियों में पहुंचता है और नदियों से समुद्र में। समुद्र से पानी फिर भाप बनकर ऊपर उठता है और बादल बन जाता है। हवा बादलों को उड़ाकर दूर-दूर फैला देती है...

जंगल में बारिश

मैं जब छोटा था, एक बार मां ने कुकुरमुत्ते बटोरने के वास्ते मुझे जंगल में भेजा। मैंने जंगल में खूब सारे कुकुरमुत्ते बटोरे और घर लौटने को हुआ। एकाएक अंधेरा छा गया, बादल गरजने लगे और वर्षा होने लगी। मैं डर गया और एक बड़े से बलूत के पेड़ के

नीचे बैठ गया। तभी इतने ज़ोर से बिजली चमकी कि आंखें दुखने लगीं और मैंने उन्हें मींच लिया। मेरे सिर के ऊपर कुछ तड़कने और कड़कने की आवाज हुई और फिर कोई चीज़ आकर ज़ोर से मेरे सिर से टकरायी। मैं ज़मीन पर गिर पड़ा और तब तक वहां पड़ा रहा, जब तक वर्षा बंद न हो गयी। जब मुझे होश आया, सारे जंगल में पेड़ों से पानी टपक रहा था, चिड़ियां गा रही थीं और धूप निकल आयी थी। बड़ा बलूत टूट गया था और उसके ठूंठ से धूआं उठ रहा था। मेरे चारों ओर बलूत की खपच्चियां बिखरी पड़ी थीं। मेरी सारी कमीज गीली हो गयी थी और शरीर से चिपकी हुई थी। सिर पर गुमटा निकल आया था और थोड़ा सा दर्द हो रहा था। मैंने अपनी टोपी और कुकुरमुत्तों की टोकरी उठायी और भागा-भागा घर पहुंचा। घर में कोई नहीं था। मैंने मेज़ से रोटी का टुकड़ा उठाकर खाया और अंगीठी के ऊपर जाकर सो गया। जब जागा, तो देखा कि मेरे लाये हुए कुकुरमुत्ते पका लिये गये हैं, मेज़ पर रखे हुए हैं और सब खाने बैठ गये हैं। मैं चिल्लाया, "मेरे बिना क्यों खा रहे हो?" उन्होंने जवाब दिया, "तो सो क्यों रहे हो, आओ, तुम भी खाओ।"

पढ़ा-लिखा बेटा

बेटा शहर से गांव पिता के पास आया। पिता ने कहा, "आज घास-कटाई है। पांचा उठाओ और मेरे साथ चलो। मेरी मदद करोगे।" पर बेटा काम नहीं करना चाहता था, इसलिए बोला, "मैंने ज्ञान-विज्ञान सीखे हैं और किसानों की भाषा भूल गया हूं। मुझे नहीं मालूम कि पांचा क्या होता है।" कुछ समय बाद जब वह अहाते में टहल रहा था, उसका पैर पांचे पर पड़ा, जो सीधा उसके माथे से जा टकराया। तब उसे याद आ गया कि पांचा क्या होता है। माथा पकड़ते हुए वह बोला, "किस बेवकूफ़ ने पांचा यहां फेंका है!"

हाथी

एक हिंदुस्तानी के पास एक हाथी था। वह उसे भरपेट खाना नहीं देता था, पर काम बहुत करवाता था। एक बार हाथी को गुस्सा

आ गया और उसने अपने मालिक को पैर के नीचे कुचल डाला। हिंदुस्तानी मर गया। तब उसकी पत्नी रोने लगी और अपने बच्चों को लाकर हाथी के पैरों के नीचे पटकते हुए बोली, "हाथी, तूने इनके पिता की जान ली है। अब इनकी भी जान ले ले।" हाथी ने बच्चों को देखा, सूंड से बड़े बेटे को पकड़ा और धीरे से उठाकर अपनी गरदन पर बिठा दिया। अब से वह इस लड़के का कहना मानने और उसके लिए काम करने लगा।

टिप्पणियां *

१. सार्वजनिक शिक्षा समाज की योजना
१२ मार्च, १८६०
ये० प० कोवालेव्स्की के नाम पत्र

यह पत्र सबसे पहले प० इ० बिर्युकोव ने 'लेव निकोलायेविच तोलस्तोय की जीवनी' के प्रथम खंड में १९०६ में छापा था। लेखक और यात्री ये० प० कोवालेव्स्की सार्वजनिक शिक्षा मंत्री के भाई थे और शिक्षा संबंधी मामलों में गहरी रुचि रखते थे।

जिस दौर में यह पत्र लिखा गया था, वह रूस में अर्थव्यवस्था और संस्कृति के सभी क्षेत्रों में व्यापक सक्रियता तथा उत्थान का दौर था। लेव तोलस्तोय ने देश में एक ऐसी सार्वजनिक शिक्षा प्रणाली की स्थापना का सवाल उठाया, जो रूसी जनता के जीवन की ऐतिहासिक विशेषताओं को ध्यान में रखती, न कि पश्चिमी यूरोपीय प्रणालियों की अंधानुकृति होती, जिनका विकास भिन्न आर्थिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों में हुआ था।

जनता की ज़रूरतों पर आधारित शिक्षा ही रूस की प्रगति में सहायक हो सकती है – तोलस्तोय का कहना था और उन्होंने अफ़सोस प्रकट किया कि इसी तरह की शिक्षा का घोर अभाव है। सरकारी सार्वजनिक शिक्षा प्रणाली की आलोचना करते हुए तोलस्तोय ने बार-

* इस संकलन की सभी रचनाओं को टिप्पणियों के इस्तेमाल में सुविधा के उद्देश्य से संख्यांकित किया गया है। हर रचना की क्रमसंख्या टिप्पणी की क्रमसंख्या से मिलती है।

बार ज़ोर दिया कि सरकारी स्कूलों की पढ़ाई और उनके काम करने के तरीक़े बच्चों के बौद्धिक और नैतिक, दोनों तरह के विकास के लिए हानिकारक हैं।

ये० प० कोवालेव्स्की ने इस पत्र का क्या उत्तर दिया, यह मालूम नहीं है।

२. सार्वजनिक शिक्षा के महत्व के बारे में
(१८६२)

(प्रूदों से बातचीत विषयक लेख का अंश)

'सार्वजनिक शिक्षा के महत्व के बारे में' शीर्षक से युक्त पांडुलिपि का टेक्स्ट पहली बार १९३६ में संपूर्ण तोलस्तोय रचनावली में छपा था। पांडुलिपि अपूर्ण है।

तोलस्तोय प्रूदों से १८६१ के वसंत में इंगलैंड से लौटते हुए ब्रसेल्ज़ में मिले थे। तोलस्तोय के पास अलेक्सांद्र हर्ज़ेन का दिया हुआ सिफ़ारिशी पत्र था। प्रूदों के हर्ज़ेन को भेजे गये उस पत्र की प्रतिलिपि उपलब्ध है, जिसमें उन्होंने हर्ज़ेन से दो पत्रों (२४ दिसंबर, १८६० और १९ जनवरी, १८६१ के पत्रों) के मिलने और रूसी साहित्यकारों से मुलाक़ातों का ज़िक्र किया था। मिलनेवाले रूसी साहित्यकारों में तोलस्ताय का भी उल्लेख था।

पियेर जोसेफ़ प्रूदों (१८०९-१८६५) फ़्रांसीसी निम्न बुर्जुआ समाजवादी और अराजकतावाद के सिद्धांतकार थे। वह सुधारों के ज़रिये समाज के शांतिपूर्ण कायापलट के समर्थक तथा प्रचारक थे। उन्होंने 'संपत्ति क्या है?', 'आर्थिक विरोधों की प्रणाली', आदि रचनाएं लिखीं। लेव तोलस्तोय की २५ मई, १८५७ की डायरी में हम यह पढ़ते हैं: "तार्किक भौतिकवादी प्रूदों को पढ़ते हुए मुझे उनकी ग़लतियां वैसे ही दिखायी दीं, जैसे उन्हें प्रत्ययवादियों की ग़लतियां दिखायी दी थीं। आदमी की बुद्धि की असमर्थता को हम कितनी बार देख चुके हैं, जो हमेशा अतीत के विचारकों और नेताओं की एकांगिता में प्रकट होती है, विशेषतः जब वे एक दूसरे के पूरक बनते हैं। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि इन सब विचारों को एक सूत्र में पिरोनेवाला प्रेम ही मानवजाति का एकमात्र और अटल, अचूक नियम है।"

३. 'यास्नाया पोल्याना' के प्रकाशन की घोषणा
(जुलाई, १८६१)

जुलाई, १८६१ के अंत में लिखे गये इस लेख में पहले बताया गया था कि पत्रिका १ अक्तूबर, १८६१ से निकलने लगेगी, और तब यह लेख मासिक 'रूस्की वेस्तनिक' में छपा था। मगर बाद में पता चला कि पत्रिका का समारंभ घोषित तिथि पर नहीं किया जा सकता, और लेव तोलस्तोय ने एक नयी घोषणा द्वारा सूचित किया कि प्रकाशन १ जनवरी, १८६२ से आरंभ होगा।

रूस में सार्वजनिक शिक्षा की समस्याओं को प्रगति पर निर्भर समझते हुए तोलस्तोय ने शिक्षाशास्त्र के विकास का सवाल उठाया। उन्होंने बताया कि कौन से कारक शिक्षाशास्त्र के आगे बढ़ने में सहायक हो सकते हैं। यास्नाया पोल्याना स्कूल और उसकी पत्रिका को अध्यापन की नयी विधियां विकसित करनी थीं।

तोलस्तोय ने सार्वजनिक शिक्षा के बारे में पुराने शिक्षाशास्त्र पर आधारित रवैये को त्यागने और नया रवैया अपनाने की आवश्यकता पर बल दिया। उन्होंने शिक्षाशास्त्र के लिए अनुभव के अध्ययन के महत्व का सवाल उठाया। यास्नाया पोल्याना स्कूल में अध्यापन का अपना खुद का अनुभव उनके लिए सैद्धांतिक अवबोधन का साधन बना।

'यास्नाया पोल्याना' मासिक पत्रिका थी और एक वर्ष तक ही निकल सकी। उसके अंतिम अंक (दिसंबर, १८६२) के प्रकाशन की अनुमति सेंसर ने २२ मार्च, १८६३ को दी। इस अंक के बाद पत्रिका बंद हो गयी। इसकी सूचना लेव तोलस्तोय ने पाठकों को एक पृथक घोषणा के ज़रिये दी, जो रूस के एक सबसे पुराने पत्र 'मोस्कोव्स्कीये वेदोमोस्ती' में १७ जनवरी, १८६३ को छपी।

४. अ० अ० तोलस्ताया के नाम पत्र से
(अगस्त, १८६१ का आरंभ)

काउंटेस अलेक्सांद्रा अंद्रेयेव्ना तोलस्ताया (१८१७-१९०३) लेव निकोलायेविच की रिश्ते में चाची लगती थीं और १८४६ से १८७४ तक रूस के ज़ार के बच्चों की शिक्षिका थीं। इसके बाद वह मृत्यु-

पर्यंत शीत प्रासाद में "कामेरफ़्राइलिन" के तौर पर रहीं।

अलेक्सांद्रा अंद्रेयेव्ना और लेव निकोलायेविच के बीच घनिष्ठ मित्रता थी। लेव निकोलायेविय के अ० अ० तोलस्ताया के नाम ११९ पत्र और अ० अ० तोलस्ताया के लेव निकोलायेविच के नाम ६६ पत्र आज भी उपलब्ध हैं।

यहां प्रकाशित पत्र लेव निकोलायेविच ने अपनी दूसरी विदेश यात्रा से लौटने पर लिखा था, जब उन्होंने यास्नाया पोल्याना स्कूल में पढ़ाना फिर से शुरू किया था। उनकी डायरियों से पता चलता है कि १० मई को उन्होंने स्कूल में भौतिकी, ११ मई को इतिहास और १३ मई को भाषा का पाठ पढ़ाया। जब स्कूल की इमारत में मरम्मत चल रही थी, पढ़ाई बाहर खुले में सेब के बाग़ में होती थी। लेव निकोलायेविच किसानों के बच्चों की पढ़ाई में दिलचस्पी और ज्ञानपिपासा से इतने प्रभावित हुए थे कि पत्र में उन्होंने लिखा, "हमारी श्रेणी (अभिजात श्रेणी – न० क०) के बच्चों में मुझे इससे मिलता-जुलता कुछ भी नहीं दिखायी दिया है।"

प्रमुख विशेषाधिकारप्राप्त श्रेणी के रूप में अभिजात वर्ग का उदय रूस में १२-१३वीं सदियों में हुआ था और १७वीं सदी में अधिकांश सामंत इसी श्रेणी से आते थे, जिनके हित में भूदास प्रथा को क़ानूनी बनाया गया था। येकातेरीना द्वितीय के शासनकाल में १७८५ में अभिजातों के विशेषाधिकारों को संहिताबद्ध किया गया। १९१७ में महान अक्तूबर समाजवादी क्रांति ने अभिजात वर्ग का ख़ात्मा कर दिया।

लेव तोलस्तोय एक पुराने अभिजात ख़ानदान में पैदा हुए थे।

५. सार्वजनिक शिक्षा के बारे में
(जनवरी, १८६२)

यह लेख लेव तोलस्तोय ने 'यास्नाया पोल्याना' के पहले अंक में प्रकाशित किया था। इसमें उन्होंने सार्वजनिक शिक्षा के क्षेत्र में बुनियादी परिवर्तनों की आवश्यकता का प्रश्न उठाया। व्ला० इ० लेनिन के अनुसार, तोलस्तोय को इसका श्रेय है कि उन्होंने "...अत्यंत सशक्त ढंग से, दृढ़ विश्वास के साथ और ईमानदारी से ऐसे बहुत सारे सवाल उठाये, जो समकालीन राजनीतिक और सामाजिक व्यवस्था

की बुनियादी बातों से संबंध रखते थे।"*

इस लेख में तोलस्तोय जैसे कि अपने शिक्षाशास्त्रीय विचारों के समर्थन में नये तर्क देते हैं और १६वीं सदी के सातवें दशक के पश्चिमी यूरोप तथा रूस की पारंपरिक शिक्षा प्रणाली के संगठन, अंतर्वस्तु तथा विधियों में निहित बाध्यता के सिद्धांत के विरोध में स्वतंत्रता का सिद्धांत रखते हैं, जो शिक्षा तथा पालन विषयक उनके विचारों का मुख्य अवलंब है।

अपने शिक्षाशास्त्रीय विचारों की प्रणाली को सूत्रबद्ध करते हुए तोलस्तोय को आशा थी कि उनके समकालीन उन्हें समझ सकेंगे। उन्होंने 'यास्नाया पोल्याना' का पहला अंक समीक्षार्थ 'सोव्रेमेन्निक' पत्रिका के संपादक, क्रांतिकारी जनवादियों के नेता न० ग० चेर्निशेव्स्की को भेजा। चेर्निशेव्स्की ने 'सोव्रेमेन्निक' के मार्च, १८६२ के अंक में समीक्षा प्रकाशित की, जिसका काफ़ी बड़ा भाग 'सार्वजनिक शिक्षा के बारे में' लेख के आलोचनात्मक विश्लेषण से संबंध रखता था। चेर्निशेव्स्की की यह समीक्षा दिखाती है कि तोलस्तोय की कई सैद्धांतिक प्रस्थापनाएं उनके सबसे प्रगतिशील समकालीनों को भी स्वीकार्य नहीं थीं।

लेव तोलस्तोय ने जब यह लेख लिखा था, उस समय उनके विदेश यात्रा के अनुभव ताज़ा थे। इस यात्रा के दौरान उन्होंने अपना काफ़ी समय पश्चिमी यूरोपीय देशों में सार्वजनिक शिक्षा के सैद्धांतिक और व्यावहारिक पक्ष के अध्ययन पर व्यतीत किया था। उन्होंने जर्मनी में स्कूली शिक्षा की अवस्था पर विशेष ध्यान दिया, क्योंकि वह सोचते थे कि यूरोपीय शिक्षा प्रणाली के विकास में जर्मन शिक्षाशास्त्र ने प्रमुख भूमिका निभायी है।

यूरोप में तोलस्तोय प्रगतिशील जर्मन शिक्षाशास्त्री ए० डीस्टरवेग से भी मिले थे। उनकी डायरी की १० अप्रैल, १८६१ की प्रविष्टि में हम पढ़ते हैं: "डीस्टरवेग बुद्धिमान, मगर ठंडे हैं। वह विश्वास नहीं करना चाहते और उन्हें अफ़सोस है कि ज़्यादा उदारवादी बनकर उनसे आगे निकला जा सकता है।"

'सार्वजनिक शिक्षा के बारे में' शीर्षक लेख में तोलस्तोय पारंपरिक

---

* व्ला० इ० लेनिन, संपूर्ण ग्रंथावली, खंड २०, पृ० ३८ (रूसी में)।

शिक्षा प्रणाली और बुर्जुआ शिक्षाशास्त्र की कटु आलोचना करते हैं। वह संतुलित यथार्थवादी तथा स्वतंत्रचेता व्यक्ति थे और उन्होंने स्पष्ट तथा विश्वासोत्पादक ढंग से दिखाया कि बुर्जुआ दार्शनिक पद्धतियां ही रूस में स्वयं जीवन से पेश की गयी शैक्षिक समस्याओं के हल का एकमात्र आधार नहीं हो सकती हैं। अनेक अकाट्य मिसालें देकर उन्होंने प्रमाणित किया कि भ्रामक दार्शनिक, नैतिक तथा मनोवैज्ञानिक मान्यताओं पर आधारित शिक्षा और पालन बच्चों के मानसिक विकास की नियम-संगतियों को ध्यान में नहीं रखते। इसलिए पश्चिमी यूरोप और रूस में सार्वजनिक स्कूलों के विद्यार्थियों में "कल्पना, सृजन तथा सोच जैसी सभी उच्च योग्यताओं का स्थान कोई और, अर्ध-पाशविक योग्यताएं ले लेती हैं", जिसके फलस्वरूप बच्चे में "भय, स्मृति का अतिशय तनाव तथा उनके साथ जो दिखावा, निरुद्देश्य झूठ, आदि पाये जाते हैं," वे प्रकट हो जाते हैं।

विद्यमान शिक्षण व्यवस्था को वैज्ञानिक दृष्टि से खोखला सिद्ध करते हुए तोलस्तोय ने कहा कि शैक्षणिक कार्यकलाप का आधार ज्ञान के मामले में समान बनने की आवश्यकता और शिक्षा के आगे बढ़ने का अटल नियम ही हो सकते हैं। शिक्षाविज्ञान का उद्देश्य शिक्षा पानेवाले और शिक्षा देनेवाले के कार्यों के सामंजस्य में सहायक परिस्थितियों का अध्ययन होना चाहिए।

६. स्कूलों और जनोपयोगी पुस्तकों के विवरण के महत्व के बारे में

(जनवरी, १८६२)

'यास्नाया पोल्याना' के पहले अंक में प्रकाशित इस लेख की मुख्य प्रस्थापना यह है कि सार्वजनिक शिक्षा प्रणाली के संगठन का आधार जनता की आवश्यकताओं और स्वतंत्र रूप से पैदा होनेवाले सार्वजनिक स्कूलों के अनुभव का अध्ययन होना चाहिए।

इस काल में लेव तोलस्तोय किसानों से अपने बच्चों को लिखना-पढ़ना सिखाने के लिए स्कूल खोलने के वास्ते प्रबल आग्रह कर रहे थे। इन स्कूलों का सारा व्यय स्वयं बच्चों के मां-बाप द्वारा वहन किया जाना था और उनमें अध्यापन का ज़िम्मा उठाने के लिए तोलस्तोय ने मुख्यतः विश्वविद्यालयों के विद्यार्थियों से अपील की थी।

७. लिखना-पढ़ना सिखाने की विधियों के बारे में (फ़रवरी, १८६२)

पहली बार फ़रवरी, १८६२ में 'यास्नाया पोल्याना' में प्रकाशित इस लेख की विषयवस्तु उसके शीर्षक से कहीं अधिक व्यापक है। लेव तोलस्तोय ने इसमें पढ़ना-लिखना सिखाने की विधियों का सवाल उठाया है और सार्वजनिक स्कूल के उद्देश्यों की ओर ध्यान आकृष्ट किया है।

वह कहते हैं कि प्राथमिक शिक्षा साक्षरता से कहीं अधिक गहन हो सकती है, क्योंकि पढ़-लिख पाना शिक्षा की विधियों का एक उपकरण मात्र है।

उल्लेखनीय है कि तोलस्तोय ने यह लेख न० ग० चेर्निशेव्स्की को भी दिखाया था और अंतोक्त ने पढ़ना-लिखना सिखाने की विधियों से संबंधित उनके कतिपय कथनों की चर्चा करते हुए ज़ोर दिया था कि पढ़ना-लिखना सिखाने की विभिन्न विधियों के तुलनात्मक मूल्य के सवाल को अधिक स्पष्टता के साथ उठाया जाना चाहिए।

८. यास्नाया पोल्याना स्कूल की नवंबर और दिसंबर महीनों की रिपोर्ट (१८६२)

यास्नाया पोल्याना स्कूल के कार्य के बारे में तीन लेख 'यास्नाया पोल्याना' पत्रिका के क्रमशः जनवरी, मार्च और अप्रैल, १८६२ के अंकों में छपे थे। इनमें लेव तोलस्तोय ने अपने को शिक्षाशास्त्रीय प्रश्नों के सैद्धांतिक विवेचन तक ही सीमित नहीं रखा। वह अधिकतर समय देहात में किसानों के बीच रहते थे और उनके उत्थान के लिए काम करते थे। ६० के दशक में उन्होंने एक स्कूल की स्थापना की, जिसके काम के बारे में इन लेखों में बताया गया है।

यास्नाया पोल्याना स्कूल उस समय के लिए एक तरह की अध्यापकों तथा विद्यार्थियों के सृजनात्मक काम की प्रयोगशाला था। इस स्कूल के काम के अनुभव ने शिक्षाशास्त्र के क्षेत्र में नयी राहें दिखायीं और शिक्षाशास्त्रीय चिंतन को तोलस्तोय द्वारा निर्भीकतापूर्वक उठाये गये सैद्धांतिक प्रश्नों के समाधान ढूंढने को बाध्य किया। तोलस्तोय के मत में स्कूल का सबसे मुख्य उद्देश्य बच्चे के

सृजनात्मक व्यक्तित्व का विकास करना है। उन्होंने लिखा, "अगर विद्यार्थी स्कूल में खुद कुछ रचना नहीं सीखेगा, तो जिंदगी में वह सिर्फ़ नक़ल ही करता रहेगा, क्योंकि ऐसे बहुत कम लोग हैं कि जो नक़ल करना सीखकर इस ज्ञान का कोई स्वतंत्र उपयोग कर सकते हैं।"

यास्नाया पोल्याना का शैक्षणिक कार्य और शिक्षेतर कार्य कोई जड़ प्रणाली नहीं थे। लेव तोलस्तोय के निदेशन में अपने अस्तित्व के तीन वर्षों (१८५६-१८६२) में यह प्रणाली निरंतर बदलती और परिष्कृत बनती रही। तोलस्तोय के अनुसार उनका मुख्य उद्देश्य स्कूल में अध्यापकों और विद्यार्थियों के बीच अत्यंत सद्भावनापूर्ण संबंध स्थापित करना था। स्कूल में सभी प्रश्नों के समाधान के संबंध में सृजनात्मकता का वातावरण छाया रहता था।

यास्नाया पोल्याना स्कूल के एक विद्यार्थी व० स० मोरोज़ोव ने आगे चलकर इस वातावरण के बारे में यह कहा: "स्कूल में उल्लास व्याप्त रहता था, हम सब बड़ी खुशी से पढ़ते थे, मगर लेव निकोलायेविच हमें हमसे भी ज़्यादा खुशी से पढ़ाते थे। वह इतना मन लगाकर पढ़ाते थे कि बहुत बार तो नाश्ता किये बग़ैर रह जाते थे। स्कूल में वह सदा गंभीर शक्ल बनाये रहते थे और हमसे सफ़ाई, पढ़ाई की वस्तुओं को संभालकर रखने और सच्चाई का तक़ाज़ा करते थे। उन्हें विद्यार्थियों का बेवकूफ़ीभरी शरारतें करना पसंद न था, उन्हें दूसरों की हंसी उड़ानेवाले चंचल लड़के पसंद न थे, उन्हें पसंद था कि उनके सवालों का सीधा, सच्चा जवाब दिया जाये।"*

पीटर्सबर्ग साक्षरता समिति के अध्यक्ष ने यास्नाया पोल्याना स्कूल को देखने के बाद कहा था कि वह अन्य स्कूलों के लिए आदर्श का काम कर सकता है, क्योंकि उसमें वही पढ़ता है, जो पढ़ना चाहता है, और इसलिए सभी बच्चे मन लगाकर पढ़ते हैं। यह स्कूल इसलिए भी ध्यान आकृष्ट करता है कि पढ़ाई के संबंध में बच्चों के रवैये की दृष्टि से भी और अध्यापन की व्यावहारिक विधियों की दृष्टि से भी वह एक बहुत असाधारण क़िस्म का स्कूल है।

---

* लेव तोलस्तोय के बारे में यास्नाया पोल्याना स्कूल के विद्यार्थी व० स० मोरोज़ोव के संस्मरण, 'पोस्रेद्निक' ('मध्यस्थ'), मास्को, १९१७, पृ० ४४।

न० ग० चेर्निशेव्स्की ने यास्नाया पोल्याना स्कूल से संबंधित तोलस्तोय के कई सैद्धांतिक विचारों से सहमत न होने पर भी लिखा, "बहुत बढ़िया! भगवान करे कि ऐसी अच्छी और उपयोगी 'अव्यवस्था' ज़्यादा से ज़्यादा स्कूलों में हो ... हमारी भाषा में तो इसे 'व्यवस्था' कहा जाना चाहिए, क्योंकि यह अव्यवस्था कहां से हुई, अगर सभी ख़ूब मन लगाकर और अपनी पूरी क्षमता से पढ़ रहे हैं!"*

तूला जिम्नाज़ियम के अध्यापक ये० मार्कोव ने, जो यास्नाया पोल्याना स्कूल के काम से अच्छी तरह परिचित थे, पाठों के दौरान विद्यार्थियों के आचरण का उल्लेख करते हुए लिखा कि सभी बच्चे ख़ुद सोचते हैं, ख़ुद नतीजे पर पहुंचते हैं और ख़ुद सीखना चाहते हैं। उनकी आत्मा की जागरूकता और उनके मस्तिष्क का स्वतंत्र रूप से कार्य मन को हर्षित कर देते हैं।

लेव तोलस्तोय अपने इतिहास अध्यापन के अनुभव के आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि उस समय प्रचलित इतिहास की पाठ्यपुस्तकें शुष्क और नीरस थीं। उनमें सारा ज़ोर राजाओं के नामों के रट लेने पर ही दिया जाता था। वे बच्चों में इतिहास के प्रति कोई रुचि नहीं जगाती थीं।

ऐसा ही तोलस्तोय भूगोल के अध्यापन के बारे में भी सोचते थे। उन्होंने लिखा कि भूगोल के अध्यापन का उद्देश्य बच्चों में सारी पृथ्वी पर प्रकृति की परिघटनाओं के नियमों को समझने की जिज्ञासा पैदा करना, पृथ्वी पर मानवजाति का वितरण कैसे हुआ है, यह जानने की इच्छा जगाना होना चाहिए। मगर अच्छी पाठ्यपुस्तकों के अभाव में अभी भूगोल को इस नये ढंग से पढ़ाना संभव नहीं है। इतिहास की भांति भूगोल के अध्यापन में भी तोलस्तोय ने लीकबद्धता के विरुद्ध चेतावनी दी। भूगोल के अध्यापन की पारंपरिक विधि के विरुद्ध, शुष्क और उबाऊ पाठ्यपुस्तकों के विरुद्ध, जो पहाड़ों, नदियों और नगरों के नाम यांत्रिक ढंग से रटकर याद कर लेने पर ज़ोर देती हैं, उनकी दलीलें ध्यान देने योग्य हैं। उन्होंने भूगोल का अध्यापन बुनियादी तौर पर बदल डालने की आवश्यकता पर ज़ोर दिया और अन्य विषयों के साथ-साथ भूगोल के अध्यापन की विधि के संबंध में भी नये दृष्टिकोणों के पैदा होने में मदद की।

---

* ल० न० तोलस्तोय, संपूर्ण रचनावली, खंड ८, पृ० १०६।

६. पालन और शिक्षा

पहली बार 'यास्नाया पोल्याना' के जुलाई, १८६२ के अंक में प्रकाशित यह लेख अपनी विषयवस्तु की दृष्टि से 'सार्वजनिक शिक्षा के बारे में' शीर्षक लेख की अगली कड़ी प्रतीत होता है।

इसे लिखने की आवश्यकता इसलिए पैदा हुई थी कि पत्र-पत्रिकाओं में तोलस्तोय के शिक्षाशास्त्रीय विचारों के संबंध में कुछ विशेष ढंग के अभिमत तथा लेख छपे थे। लेख की पादटिप्पणी में तोलस्तोय ने लिखा कि शिक्षा के क्षेत्र में "मेरे तीन वर्ष के कार्यकलाप ने मुझे ऐसे निष्कर्षों पर पहुंचाया है, जो सर्वस्वीकृत मान्यताओं से इतने भिन्न हैं कि प्रश्नचिह्न लगाकर, न समझ पाने का बहाना करके उनका परिहास करने से अधिक आसान और कुछ नहीं हो सकता है।"

लेख का मुख्य उद्देश्य रूस की सार्वजनिक शिक्षा प्रणाली की आलोचना करना था। तोलस्तोय ने बताया कि यह प्रणाली उन्हीं भ्रामक मान्यताओं पर आधारित है, जो पश्चिमी यूरोपीय सार्वजनिक शिक्षा प्रणाली की भी बुनियाद थीं, और उसमें जनता की आवश्यकताओं का कोई ध्यान नहीं रखा गया है।

तोलस्तोय जानते थे कि प्राथमिक और उच्च शिक्षा को जनता की पहुंच के भीतर बनाने के लिए शिक्षा के क्षेत्र में बुनियादी परिवर्तन लाना आवश्यक है।

इस लेख में उन्होंने शिक्षा और पालन में स्वतंत्रता की आवश्यकता का प्रतिपादन किया और स्वतंत्र शिक्षा को अपने समकालीन ज़ारशाही रूस के निरंकुश पालन के मुक़ाबले में रखा।

आज के ऐतिहासिक एवं शिक्षाशास्त्रीय साहित्य में लेव तोलस्तोय की इस प्रस्थापना पर बड़ा ध्यान दिया जा रहा है। स्वयं तोलस्तोय ने भी कहा था कि शिक्षाशास्त्र का भविष्य इस प्रस्थापना की स्वीकृति पर निर्भर होगा।

तोलस्तोय का स्वतंत्र पालन का सिद्धांत प्रतिक्रियावादी बुर्जुआ शिक्षाशास्त्र से, पुराने रूसी स्कूल की रटने पर ज़ोर देनेवाली प्रणाली से संघर्ष के दौरान विकसित हुआ। शैक्षिक प्रक्रिया में स्वतंत्रता से संबंधित उनके कथनों में सार्वजनिक शिक्षा को जनता के उत्पीड़कों के हस्तक्षेप से मुक्त देखने की हार्दिक इच्छा प्रतिबिंबित हुई।

तोलस्तोय का मत था कि शिक्षा कार्य का संचालन शोषकों के हाथों में नहीं, बल्कि स्वयं मेहनतकशों के हाथों में होना चाहिए, जिनकी सृजन योग्यता में उन्हें गहरा विश्वास था। उनका कहना था कि जब तक सार्वजनिक शिक्षा का निदेशन रूस के पूंजीपति और ज़मींदार करते रहेंगे, तब तक वह जनता के बीच संस्कृति के विकास में सहायक नहीं होगी।

जब तोलस्तोय ने मांग की कि शिक्षा को स्वतंत्र होना चाहिए और सरकार किसानों द्वारा स्कूल खोले जाने में रुकावटें न डाले, तो वह उन प्रगतिशील विचारों की हिमायत कर रहे थे, जो सार्वजनिक शिक्षा के क्षेत्र में ज़ारशाही सरकार की इजारेदारी पर चोट करते थे।

तोलस्तोय मोंतेन और रूसो की उन रचनाओं से परिचित थे, जिनमें उन्होंने पालन और शिक्षण के क्षेत्र में स्वतंत्रता के सार को उद्-घाटित किया है। इन रचनाओं ने तोलस्तोय को बहुत प्रभावित किया था। मगर ऐसा सोचना क़तई ठीक न होगा कि तोलस्तोय के स्वतंत्र पालन विषयक कथन पूरी तरह इन लेखकों से लिये हुए थे और अरसे से ज्ञात शिक्षाशास्त्रीय विचारों की पुनरावृत्ति मात्र करते थे। स्वतंत्र शिक्षा विषयक तोलस्तोय के विचार, निस्संदेह, उन कठिन परिस्थि-तियों की उपज थे, जिनमें क्रांतिपूर्व रूस का स्कूल अपने को पाता था। तोलस्तोय के विचार मुख्य रूप से बच्चे के व्यक्तित्व के दमन के ख़िलाफ़ प्रतिवाद थे।

तोलस्तोय एक शिक्षाशास्त्रीय मूलतत्त्व के तौर पर स्वतंत्रता को विशेष रूप से बहुत महत्त्व देते थे। उनके अनुसार पालन, शिक्षा और शिक्षण को इस मूलतत्त्व पर आधारित होना चाहिए। उनका कहना था कि स्वतंत्र पालन बच्चे की प्राकृतिक योग्यताओं के विकास में सहायक होता है और अपनी नैतिक मान्यताएं स्वयं ही बनाने में उसकी मदद करता है।

बाध्यतामूलक पालन अवैध और अनुचित है – तोलस्तोय जब पालन की सारवस्तु से संबंधित अपनी इस बुनियादी प्रस्थापना पर बल देते हैं, तो उनके लिए निम्न प्रश्न का उत्तर देना भी आवश्यक हो जाता है: यदि बात ऐसी है, तो स्कूल को क्या होना चाहिए?

तोलस्तोय "स्कूल" शब्द को व्यापक अर्थ में इस्तेमाल करते थे। उनके लिए वह जिस इमारत में पढ़ाई होती है, उसके और शिक्षा

की दिशा के अलावा "शिक्षा देनेवाले का शिक्षा पानेवाले पर सक्रिय प्रभाव"* भी था।

तोलस्तोय के अनुसार विद्यार्थियों के विश्वदृष्टिकोण के निर्माण में स्कूल के अहस्तक्षेप का यह मतलब नहीं कि अध्यापक को अपने विद्यार्थियों पर शैक्षिक प्रभाव डालने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। "मगर बात यह है," तोलस्तोय ने लिखा, "कि विज्ञान के शैक्षिक तत्त्व को बलात् अंतरित नहीं किया जाना चाहिए... विज्ञान द्वारा विद्यार्थी को शिक्षित बनाना चाहते हो, तो अपने विज्ञान को प्यार करो, उसे जानो, तब विद्यार्थी ख़ुद ही तुम्हें तथा विज्ञान को चाहने लग जायेंगे, और तुम उन्हें शिक्षित कर सकोगे। लेकिन अगर तुम्हें ख़ुद विज्ञान से प्यार नहीं है, तो सीखने के लिए कितना भी विवश क्यों न किया जाये, विज्ञान कोई शैक्षिक प्रभाव उत्पन्न नहीं कर पायेगा।"**

तोलस्तोय का मत था कि शिक्षण और पालन के मामले में स्वतंत्रता, जिस अर्थ में कि वह इस शब्द को समझते थे, अध्यापक को बच्चों पर शैक्षिक प्रभाव डालने के अधिकार से वंचित नहीं करती। आवश्यकता केवल इस बात की है कि विद्यार्थी अध्यापक के विचारों तथा विश्वासों को अपना बनाने को विवश न हों।

इसमें संदेह नहीं कि साठ के दशक में तोलस्तोय ने पालन में स्वतंत्रता की जो यह परिभाषा दी थी, उसके मूल में उनका बच्चे के नैतिक गुणों का आदर्शीकरण और पुराने ढंग के स्कूल में बच्चों से करवायी जानेवाली मशक़्क़त का घोर विरोध निहित थे। उनका मानना था कि बच्चे की आत्मा साफ़ स्लेट नहीं होगी, जिसपर आप जो चाहें, लिख सकते हैं। साथ ही वह नवजात शिशु में किसी प्रकार की नकारात्मक विशेषताओं और अवगुणों का होना भी नहीं मानते थे। नवजात मानव की पूर्णता विषयक थीसिस को तोलस्तोय ने बच्चों की प्रकृति विषयक अपने विचारों का आधार बनाया। इस दृष्टिकोण से उन्होंने उन शिक्षाशास्त्रियों की कटु आलो-चना की, जो बच्चे के व्यक्तित्व की इज़्ज़त नहीं करते थे और बच्चों के बारे में अपने रुढ़िबद्ध, घोर बाध्यतामूलक रवैये के कारण

---

* वही, पृ० २४३।
** वही, पृ० २४५।

उनके बालसुलभ सकारात्मक गुणों को ध्यान में रखे बिना उन्हें जल्दी से जल्दी सिखाने को ही अपना कर्तव्य समझते थे।

तोलस्तोय ने बच्चे का आदर किये जाने, उससे प्रेम से पेश आने, उसकी सक्रियता तथा सृजनात्मकता को हर प्रकार से प्रोत्साहित करने का सवाल बड़े सशक्त ढंग से उठाया। उन्होंने बच्चे के व्यक्तित्व के अधिकारों को मान्यता दिये जाने की मांग की, जिसे शैक्षिक प्रक्रिया में बड़ी और सक्रिय भूमिका निभानी चाहिए। तोलस्तोय का कहना था कि अगर बच्चे नैतिक दृष्टि से पूर्ण हैं, तो उनकी उच्च नैतिक विशेषताओं के विकास के लिए सबसे कारगर साधन स्वतंत्र पालन है।

इस लेख में तोलस्तोय ने रूस में विश्वविद्यालयों में दी जानेवाली शिक्षा पर भी बड़ा ध्यान दिया। किंतु उनकी विश्वविद्यालयों की कमियों की आलोचना कुछ हद तक रूस के सांस्कृतिक जीवन में विश्वविद्यालयों की भूमिका का महत्व कम करके आंकने पर आधारित थी।

तोलस्तोय द्वारा जिम्नाज़ियमों और विश्वविद्यालयों की आलोचना में मास्को की सेंसर कमेटी ने शिक्षा की विद्यमान व्यवस्था को उलटने का प्रयास देखा।

५ सितंबर, १८६२ को कमेटी ने लेव तोलस्तोय का लेख सार्वजनिक शिक्षा मंत्री को भेजा और साथ में संलग्न पत्र में कहा कि लेखक रूस ही नहीं, सारे विश्व में स्वीकृत सार्वजनिक शिक्षा की प्रणाली को उलटने पर तुला हुआ है और सैद्धांतिक तर्कों तक ही सीमित न रहकर व्यावहारिक निष्कर्ष भी निकाल रहा है, जिनका संबंध रूस की सभी शिक्षा संस्थाओं से है।

तोलस्तोय के पत्रों और डायरियों से मालूम होता है कि इस लेख के प्रकाशन और सेंसर से बातचीत ने उनके लिए बहुत परेशानियां पैदा की थीं।

१०. सार्वजनिक शिक्षा के क्षेत्र में सामाजिक योगदान

यह लेख सर्वप्रथम 'यास्नाया पोल्याना' के अगस्त, १८६२ के अंक में छपा था। इसे लेव तोलस्तोय ने अध्यापकों और विद्यार्थियों के लिए साक्षरता समिति (१८६१ में स्थापित) द्वारा अनुमोदित पुस्तकों की सूची देखने के बाद लिखा था। तोलस्तोय ने उसमें सुझायी गयी

किताबों की आलोचना की। सूची में अनेक विदेशी पुस्तकें होने का उल्लेख करते हुए उन्होंने ज़ोर दिया कि विद्यार्थियों के लिए न जाने क्यों अ० न० अफ़ानासियेव तथा इ० अ० ख़ुद्याकोव की रूसी लोक-कथाएं, गीत संग्रह, जनश्रुति संग्रह, आदि को शामिल नहीं किया गया है। इस लेख के उत्तर में पीटर्सबर्ग की साक्षरता समिति के अध्यक्ष म० स० लोश्कार्योव ने २५ जनवरी, १८६३ को तोलस्तोय को लिखा कि समिति के सदस्यों पर उनके द्वारा लगाया गया जनता तथा उसकी रुचियों को न जानने का आरोप बिल्कुल सही है।

लेव तोलस्तोय ने इस ओर ध्यान आकृष्ट किया कि कोमेन्स्की और पेस्तालोच्ची के दृश्य शिक्षा सिद्धांत को अत्यधिक तोड़-मरोड़कर इस्तेमाल किया जा रहा है। दृश्य शिक्षा वस्तुमूलक पाठों के रूप में संचालित की जाती थी। इन पाठों के दौरान बच्चों को प्रायः उनकी अरसे से जानी-पहचानी हुई वस्तुएं दिखायी जाती थीं और फिर अध्यापक उनसे बहुत सारे नीरस और कभी-कभी तो एकदम निरर्थक सवाल पूछता था। बच्चों को सिर्फ़ वैसे जवाब देना होता था, जैसे अध्यापक द्वारा बनायी हुई पाठ की योजना में निर्धारित था। इस बंधे हुए ढर्रे से तनिक भी विचलन की आज्ञा नहीं थी और बच्चों की सक्रियता तथा स्वतंत्रता को क़तई प्रोत्साहित नहीं किया जाता था।

लेव तोलस्तोय ने ऐसे शिक्षाशास्त्रियों की कड़ी आलोचना की, जो बच्चों को क्रमबद्ध ज्ञान देने की आवश्यकता को अनदेखा करके वस्तुमूलक पाठों के महत्त्व को बहुत बढ़ा-चढ़ाकर पेश करते हैं।

लेव तोलस्तोय कतिपय रूसी शिक्षाशास्त्रियों द्वारा गणित के अध्यापन की ग्रूबे द्वारा प्रतिपादित विधि का व्यापक उपयोग किये जाने की भी गंभीर आलोचना करते हैं। ग्रूबे विधि में अंकगणितीय संक्रियाएं सिखाने के बजाय राशियों की रचना के अध्ययन को प्राथमिकता दी जाती थी। नतीजे के तौर पर अध्यापक अंकगणित के पाठ के दौरान "दो", "तीन", "चार" आदि राशियों की रचना के संबंध में नीरस बातें ही करते रहते थे। तोलस्तोय ने सिद्ध किया कि अंकगणित की ऐसी शिक्षा कृत्रिम है, बच्चों की सोचने की क्षमता को विकसित नहीं होने देती, परिकलन क्षमता को कुंद बना डालती है और बच्चों को केवल उन बातों की जानकारी देती है, जिन्हें वे बहुत पहले ही जीवन से जान चुके हैं।

कुछ रूसी शिक्षाशास्त्रियों द्वारा जर्मन शिक्षाशास्त्रियों की नक़ल किये जाने का तोलस्तोय ने जो विरोध किया, उससे जर्मनीप्रेमी पत्रिका 'उचीतेल' ('शिक्षक'), जो ६० और ७० के दशकों में पीटर्सबर्ग से निकला करती थी, बौखला उठी। अपने दिसंबर, १८६४ के शिक्षा-शास्त्रीय सिंहावलोकन में पत्रिका ने बहस के असली मुद्दे को अनदेखा करते हुए तोलस्तोय पर गंभीर आक्षेप लगाये कि वह शिक्षाशास्त्र के क्षेत्र में नाशवादी हैं और शिक्षा तथा पालन के सारे कार्य को संयोग पर छोड़ देना चाहते हैं।

किंतु अधिकांश रूसी शिक्षाशास्त्रियों ने, जो तोलस्तोय से वाद-विवाद करते थे, आगे चलकर स्वीकार किया कि तोलस्तोय बहुत सारी बातों में सही थे। उदाहरण के लिए, न० फ़० बुनाकोव ने १६०६ में अपनी 'डायरी' में लिखा कि तोलस्तोय द्वारा की गयी आलोचना से "शिक्षाशास्त्री होश में आ गये ... जो अपनी रौ में आकर जन जीवन की अपेक्षाओं को भूल गये और अति के शिकार बने ... जनता के जीवन के अधिकारों के नाम पर अपने विरोध द्वारा काउंट तोलस्तोय ने रूसी प्राथमिक स्कूल का बहुत भला किया और जीवन की सच्चाई से भरपूर, बहुत सरल, शुद्ध जनता की काव्यमय भाषा में लिखी हुई अपनी रीडरों द्वारा स्कूल में शुष्क, संकीर्ण उपयोगितावाद की घुसपैठ का प्रतिरोध किया।"

११. प्रगति और शिक्षा की परिभाषा

'रूस्की वेस्तनिक' के १८६२ के अंक ५ में छपे ये० ल० मार्कोव के लेख के उत्तरस्वरूप लिखा गया प्रस्तुत लेख पहली बार 'यास्नाया पोल्याना' के सितंबर, १८६२ के अंक में प्रकाशित हुआ था।

इसमें लेव तोलस्तोय ने शिक्षाशास्त्र की कई मौलिक समस्याओं का विश्लेषण किया है।

उन्होंने बताया कि शैक्षिक कार्यकलाप एक ही उद्देश्य – ज्ञान के मामले में समानता – की प्राप्ति की ओर लक्षित शिक्षा देनेवाले और शिक्षा पानेवाले की सक्रियताओं का योग है। ज्ञान के मामले में समानता की आकांक्षा वह उन लोगों के सोचने के ढंग, रूप तथा अंतर्वस्तु को हृदयंगम करने की प्रक्रिया में देखते थे, जिन्हें वह विद्यार्थियों से अधिक जाननेवाला समझते थे।

तोलस्तोय के घनिष्ठ परिचित और जिम्नाज़ियम के अध्यापक ये० ल० मार्कोव तोलस्तोय द्वारा प्रस्तावित स्तर पर बहस न चला सके। अपने बहुत से समकालीनों की भांति वह नहीं समझ सके कि तोल-स्तोय किस चरम उद्देश्य की बात कर रहे हैं। मार्कोव की मुख्य प्रस्था-पना यह थी कि शिक्षा का उद्देश्य समय की अपेक्षाओं से तय होता है। तोलस्तोय ने दिखाया कि शिक्षण और शिक्षा की अंतर्वस्तु की मार्कोव की यह समझ हानिकारक तथा भ्रामक है कि उनका उद्देश्य केवल ज्ञान की एक निश्चित राशि, तथ्यों और वैज्ञानिक प्रस्थापनाओं की एक निश्चित संख्या का अर्जन करना है और इनके अलावा उनका अन्य कोई चरम उद्देश्य नहीं है। तोलस्तोय ने बताया कि ऐसी शिक्षा के दौरान तो केवल आज्ञापालन की आदत, चिड़चिड़ापन और भौतिक लाभों के पीछे भागना सीखा जाता है। उनका विश्वास था कि सभी परिघटनाएं, सभी व्यापार ठोस ऐतिहासिक परिस्थितियों से निर्धारित होते हैं, यह उतना ही स्वाभाविक है जितना यह तथ्य भी कि हम सभी ठोस ऐतिहासिक परिस्थितियों में रह रहे हैं।

तोलस्तोय का मत था कि ज्ञान की पिपासा हर व्यक्ति में होती है। इसलिए शिक्षा देनेवाले और शिक्षा पानेवाले की सक्रियताओं का अध्ययन और इन दो सक्रियताओं को शिक्षा तथा पालन नामक एक सूत्र में पिरोनेवाले कारण की तलाश आवश्यक है। इस संदर्भ में सफल संयुक्त सक्रियता के लिए अनुकूल परिस्थितियों का निर्माण करनेवाले अध्यापक-विद्यार्थी सहयोग के एक रूप के नाते स्वतंत्रता के सिद्धांत का महत्व विशेष रूप से स्पष्ट हो जाता है।

अध्यापक-विद्यार्थी सहयोग संज्ञान की आवश्यकता पर आधारित होता है और इसलिए उसका स्वरूप सृजनात्मक है। लेव तोलस्तोय ने लिखा था, "अंकगणित के अध्यापक का सीधा लक्ष्य केवल यह होता है कि वह गणितीय चिंतन के जो नियम जानता है, उन्हें उसका विद्यार्थी भी आत्मसात् कर ले। फ़्रांसीसी भाषा के अध्यापक, रसायन-शास्त्र और दर्शन के अध्यापक का भी लक्ष्य ऐसा ही होता है, और जैसे ही यह लक्ष्य पा लिया जाता है, सक्रियता खत्म हो जाती है।" *

* ल० न० तोलस्तोय, शिक्षाशास्त्रीय रचनाएं, मास्को, १९५३, पृ० ३१५ (रूसी में)।

मगर आदमी रुकता नहीं, वह स्वतंत्र रूप से नयी, नयी बातें सीखता जाता है, क्योंकि उनकी कुंजी उसके पास है। ज्ञान के मामले में समानता "ज्ञान के निम्नतर नहीं, अपितु उच्चतर चरण पर ही पायी जा सकती है।" *

तोलस्तोय ने अकाट्य रूप से दिखाया कि वैज्ञानिक चिंतन के तरीक़ों और नैतिक आचरण के रूपों को सीखने के माध्यम से शिक्षण और पालन का सफल रहना केवल परस्पर विश्वास के वातावरण में, सृजनात्मकता के वातावरण में और जब अध्यापक और विद्यार्थी की सक्रियता ज्ञान एवं पूर्णता की आवश्यकता पर आधारित होती है, तब संभव होता है। इसके लिए तोलस्तोय को प्रेरणा यास्नाया पोल्याना स्कूल में किसान बच्चों के साथ काम के अनुभव से, इन बच्चों की क्षमताओं तथा सृजन योग्यताओं में, जो सीधे-सीधे शिक्षण के तरीक़े पर निर्भर होती हैं, गहन विश्वास से प्राप्त हुई थी।

'प्रगति और शिक्षा की परिभाषा' लेख में तोलस्तोय पाठक को इस निष्कर्ष पर पहुंचाते हैं कि रूस की वास्तविक प्रगति नयी शिक्षा से जुड़ी हुई है। वह सामाजिक-राजनीतिक संदर्भ से कटी हुई तकनीकी प्रगति को ठुकराते हैं और कहते हैं कि वह उस प्रगति के पक्ष में हैं, जो मानवजीवन के सभी पहलुओं में सुधार लाती है, कि पृथ्वी पर रहनेवाले सभी लोगों के कल्याणार्थ प्रगति के अच्छे और लाभकारी परिणाम बुरे और हानिकारी परिणामों की अपेक्षा अधिक प्रभावी तथा चिरस्थायी सिद्ध होंगे।

मानवजाति के विकास के वर्तमान तथा भावी चरणों के लिए तोलस्तोय के इस लेख के महत्व को जितना भी आंका जाये, कम होगा। एक ओर, यह लेख विश्व के सभी लोगों की शक्ति और सृजन क्षमता में गहन विश्वास से ओतप्रोत है और, दूसरी ओर, इसमें प्रगति तथा शिक्षा जैसी जटिल परिघटनाओं के विश्लेषण में एकांगी रवैया अपनाये जाने पर गहरी चिंता व्यक्त की गयी है।

---

* वहीं।

१२. लिखना कौन किससे सीखे: किसान बच्चे हमसे या हम किसान बच्चों से?

प्रथम बार 'यास्नाया पोल्याना' के सितंबर, १८६२ के अंक में प्रकाशित। यास्नाया पोल्याना स्कूल में तोलस्तोय बच्चों की रचनाओं पर बहुत अधिक ध्यान देते थे, क्योंकि उनका मत था कि वे विद्यार्थियों की सृजनकारी योग्यताओं के विकास में बड़ी सहायक होती हैं। यास्नाया पोल्याना स्कूल में विद्यार्थी कभी बताये हुए विषयों पर लिखते थे, तो कभी विषयों का निर्धारण स्वयं करते थे। कुछ विषयों में बच्चों को निबंध नियमित रूप से, महीने में दो बार लिखने होते थे, यानी ज्यों ही पाठ्यक्रम का एक निश्चित भाग पूरा हो जाता था। इस विधि का उद्देश्य उस ज्ञान को निबंधों में प्रतिबिंबित करना होता था, जो विद्यार्थियों ने अध्यापक के मुंह से सुनकर आत्मसात् किया है।

लेव तोलस्तोय अपने विद्यार्थियों के निबंधों, रचनाओं की ग़ौर से जांच करते, उन्हें एक दूसरे से मिलाते और मूल्यांकन में स्वयं बच्चों को भी भागीदार बनाते। पता चला कि दिये हुए विषयों पर, विशेषतः अगर वे बच्चों के अपने परिवेश से, सामान्य वस्तुओं – झोंपड़ी, पेड़, आदि – के वर्णन से संबंध रखते हैं, तो विद्यार्थियों को लिखने में कठिनाई होती थी, उनके आंसू निकल जाते थे। मगर घटनाओं के वर्णन, निजी संस्मरणों के लेखन में बच्चों को बड़ा आनंद आता था। तोलस्तोय बताते हैं कि इसका कारण अध्यापक की यह भ्रांत धारणा है कि जो आम और साधारण है, वह सरल भी होता है। विद्यार्थी दूसरे ही ढंग से सोचता है: उसके लिए जो जटिल और जीवंत होता है, वही ज़्यादा सरल भी होता है।

तोलस्तोय ने आश्चर्यजनक सूक्ष्मता के साथ बच्चों की मानसिकता की विशिष्टताओं का उद्घाटन किया और बताया कि वे ठोस, मूर्त, दृश्य बिंबों में सोचते हैं और अपने विचारों तथा अनुभूतियों को व्यक्त करने में निष्कपट तथा ईमानदार होते हैं।

अध्यापक के नाते अपनी भूमिका तोलस्तोय सबसे पहले इसमें देखते थे कि निबंध, रचनाएं लिखने में बच्चों की रुचि जगायी जाये। उन्हें सृजन के लिए प्रोत्साहित करते हुए वह बड़ी कुशलता से रचना-प्रक्रिया में उनका मार्गदर्शन करते थे और ऐसा क़तई नहीं सोचते थे

कि बच्चे अकेले ही, अध्यापक की मदद के बिना, रचना लिख सकते हैं।

यह लेख लेव तोलस्तोय की सैद्धांतिक मान्यताओं के साकार बनने की, तोलस्तोय द्वारा यास्नाया पोल्याना स्कूल के बच्चों को सचेतन सृजन में प्रवृत्त करने तथा अपने विचारों को अभिव्यक्ति देना सिखाने की मिसाल पेश करता है।

१३. अध्यापक के लिए सामान्य टिप्पणियां (१८७२)

ये टिप्पणियां पहली बार लेव तोलस्तोय के 'ककहरा' में छपी थीं, जो १८७२ में पीटर्सबर्ग से प्रकाशित हुआ था। 'ककहरों' का उद्देश्य, लेखक के अनुसार, "रूसी विद्यार्थियों को पढ़ना, लिखना, व्याकरण, स्लाव भाषा तथा अंकगणित सिखाने में मार्गदर्शक का काम करना ... और अच्छी भाषा में लिखे हुए कुछ अच्छे लेख प्रस्तुत करना है। इस लक्ष्य को पा सकने के लिए मैंने बहुत वर्षों तक श्रम किया है।"* 'ककहरा' चार खंडों में था, जिनमें कुल मिलाकर कोई ५० फ़र्मे थे। तीन खंडों में ज़्यादातर पढ़ने के लिए साहित्यिक और इतिहास, भूगोल, भौतिकी, प्रकृतिविज्ञान, आदि से संबंधित सरल वैज्ञानिक सामग्री थी। हर खंड में गिरजों में प्रयुक्त स्लाव भाषा के अध्ययन के लिए टेक्स्ट और अंकगणित से संबंधित सामग्री भी थी। विषयवस्तु उत्तरोत्तर कठिन होती जाती थी।

रूस का शिक्षाजगत लेव तोलस्तोय के 'ककहरा' के प्रकाशन की व्यग्रता से प्रतीक्षा कर रहा था। बहुतों को मालूम था कि 'युद्ध और शांति' का विश्वप्रसिद्ध लेखक बच्चों के लिए एक पाठ्यपुस्तक तैयार कर रहा है और उसके लिए कई उत्कृष्ट कहानियां लिख भी चुका है। मगर 'ककहरा' के प्रकाशन के बाद पत्र-पत्रिकाओं में उसकी जो समीक्षाएं निकलीं, उनमें साहित्यकार की शैक्षिक सामग्री की प्रखर आलोचना की गयी और उसके द्वारा प्रस्तावित लिखना-पढ़ना सिखाने की विधि में संदेह प्रकट किया गया।

शिक्षाशास्त्रियों के ऐसे रवैये ने तोलस्तोय को बच्चों को पढ़ना-

---

* ल० न० तोलस्तोय, संपूर्ण रचनावली, खंड ६१, पृ० ३३८-३३६।

लिखना सिखानेवाली नयी पाठ्यपुस्तक लिखने के लिए प्रेरित किया। १८७४ के अंत में उन्होंने 'नया ककहरा' लिखना शुरू किया, जो मई, १८७५ में प्रकाशित हुआ।

नये संस्करण में 'ककहरा' एक स्वतंत्र पाठ्यपुस्तक बन गया और बदली तथा सुधारी हुई कहानियां एक अलग पुस्तक के रूप में प्रकाशित हुईं, जिसे विश्व 'पढ़ने के लिए रूसी पुस्तकें' के नाम से जानता है। 'नया ककहरा' में आगे कोई संशोधन नहीं किया गया।

'ककहरा' के लिए तोलस्तोय ने ६२६ कहानियां लिखी थीं, जिनमें से १३३ प्रकृतिविज्ञान के विषय पर थीं। 'ककहरा' लिखने से संबंधित अपने काम के बारे में स्वयं लेव तोलस्तोय ने १२ मई, १८७२ के पत्र में अ० अ० तोलस्ताया को लिखा था कि उन्हें इस 'ककहरा' पर गर्व है, क्योंकि रूसी बच्चों की पीढ़ियां अपना अक्षरज्ञान और पहले काव्य-अनुभव उससे ही प्राप्त किया करेंगे।

प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री द० द० सेम्योनोव ने १८८० के दशक में तोलस्तोय की बालकथाओं के बारे में यह लिखा: "कितनी ओजस्वी, अभिव्यक्तिपूर्ण भाषा है! कितनी सशक्त, सुगठित, सरल और साथ ही ललित शैली है!.. हर विचार और हर कहानी में एक सीख भी है ... वह एकदम सामने नहीं आती, बच्चों को उबाती नहीं, बल्कि कलात्मक रूपक में छिपी हुई है, और इसलिए बच्चे के दिल को तुरंत छू लेती है और उसमें गहरे घर कर जाती है।"

लेव तोलस्तोय की कहानियों ने बच्चों को बहुत प्रभावित किया। वे कभी उदासी पैदा करती थीं, तो कभी सहज बालसुलभ हंसी। बच्चे बिना किन्हीं सहायक प्रश्नों के महान रूसी लेखक की इन लघु कथाओं की अंतर्वस्तु सुना सकते थे।

सोवियत रूस में 'नया ककहरा' सोवियत सत्ता के पहले ही वर्षों में दो बार छपा।

लेव तोलस्तोय की 'ककहरा' और 'नया ककहरा' के लिए लिखी हुई कहानियां, परीकथाएं और नीतिकथाएं बाल साहित्य में इस महान रूसी लेखक का बहुत बड़ा योगदान हैं। लेव तोलस्तोय की बच्चों के लिए लिखी हुई रचनाएं सोवियत संघ में रूसी तथा अन्य सोवियत भाषाओं में और विदेशी भाषाओं में भी बहुत बार और बड़े-बड़े संस्करणों में छापी गयी हैं।

१९७८ में लेव तोलस्तोय की डेढ़ सौवीं जयंती के अवसर पर मास्को के 'प्रोस्वेश्चेनिये' ('शिक्षा') प्रकाशनगृह ने विस्तृत सूचना सामग्रियों और टिप्पणियों के साथ 'ककहरा' तथा 'नया ककहरा' के प्रतिकृति-संस्करण प्रकाशित किये थे।

१४. सार्वजनिक शिक्षा के बारे में (१८७४)

यह लेख पहली बार सितंबर, १८७४ में 'ओतेचेस्तवेन्नीये ज़पीस्की' पत्रिका में कृषि समाज की साक्षरता समिति की मास्को शाखा के अध्यक्ष इ० न० शतीलोव के नाम पत्र के रूप में छपा था। १८७५ में वह अलग से तीन बार प्रकाशित हुआ। यह लेख मास्को के दो स्कूलों में पढ़ना-लिखना सिखाने की श्रव्य और स्वनिक विधियों की सफलता की प्रयोग द्वारा जांच के सिलसिले में लिखा गया था। एक स्कूल में बच्चों को लेव तोलस्तोय के सहायक प० व० मोरोज़ोव श्रव्य विधि से पढ़ाते थे, जिसे तोलस्तोय ने सुझाया था, और दूसरे में बच्चों को स्वनिक विधि से सिखाया जाता था। सात सप्ताह बाद परीक्षा ली गयी। परीक्षा आयोग के सदस्य किसी एक मत पर नहीं पहुंच सके।

लेव तोलस्तोय ने मास्को साक्षरता समिति द्वारा आयोजित विवाद में जर्मन शिक्षाशास्त्रियों की स्वनिक विधि को यंत्रवत अपनाये जाने का विरोध किया। समिति के अध्यक्ष को शायद तोलस्तोय के शिक्षा-शास्त्रीय विचारों से सहानुभूति थी, इसलिए उन्होंने अंतोक्त से विवाद में अपने आखिरी भाषण को लेख के रूप में लिखने का अनुरोध किया। तोलस्तोय ने लेख को इ० न० शतीलोव के नाम खुले पत्र का रूप दिया और 'ओतेचेस्तवेन्नीये ज़पीस्की' में छपवाया, जिसके संपादक उन दिनों प्रसिद्ध रूसी साहित्यकार न० अ० नेक्रासोव और म० ये० सल्तीकोव (श्चेद्रिन) थे। नेक्रासोव को अपने पत्र में तोलस्तोय ने पढ़ना-लिखना सिखाने की विधियों के संबंध में शिक्षाशास्त्रियों से उनकी बहसों पर ध्यान देने और यथासंभव इस विवाद को सुलझाने का अनुरोध किया।

शिक्षाजगत में इस लेख की व्यापक प्रतिक्रिया हुई। प्राथमिक शिक्षा की विधि के तत्कालीन माने-जाने विशेषज्ञों ने लिखा कि तोलस्तोय के विचार स्वीकार्य नहीं हैं। किंतु कुछ अन्य लोगों की राय थी कि तोलस्तोय के लेख ने शिक्षा-विशेषज्ञों पर लाभकारी, होश में लानेवाला प्रभाव डाला है।

यह लेख न स्वनिक विधि के महत्व को किसी प्रकार कम करता था और न दृश्य शिक्षा के सिद्धांत के विवेकसंगत होने पर प्रश्नचिह्न लगाता था। उल्टे, उसमें सार्वजनिक स्कूल के अध्यापक के लिए विशेष प्रशिक्षण और व्यापक सामान्य शिक्षा के महत्व पर, शिक्षण को विकास-मान स्वरूप प्रदान करने की आकांक्षा पर और विवेकसंगत शिक्षण की संभावना में विश्वास पर जोर ही दिया गया था। लेख जनता के जीवन में झांकने को प्रेरित करता था और याद दिलाता था कि जनता स्कूल के लिए नहीं है, बल्कि स्कूल जनता के लिए है। तोलस्तोय ने सार्वजनिक स्कूल के कार्यकलाप पर, उसकी आवश्यकताओं पर ध्यान देने और उसे समुचित आदर प्रदान करने का आग्रह किया।

१५. रोमां रोलां के नाम पत्र से (अक्तूबर, १८८७)

हस्तश्रम और बौद्धिक कार्यकलाप के बारे में लेव तोलस्तोय के विचारों पर प्रकाश डालनेवाला यह अंश उनके फ़्रांसीसी लेखक रोमां रोलां के नाम ४ अक्तूबर, १८८७ के पत्र से लिया गया है और पहली बार १८८८ में समाचारपत्र 'नेदेल्या' ('साप्ताहिक') में छपा था।

लेव तोलस्तोय शारीरिक श्रम को एक आवश्यकता बनाने को बहुत महत्व देते थे और कहते थे कि इस आवश्यकता को हर मनुष्य के नैतिक विश्वास का रूप ले लेना चाहिए। उन्होंने श्रम की आवश्यकता को "आह्लादकारी" बताया, क्योंकि उसकी तुष्टि से लोगों को शारीरिक ही नहीं, नैतिक और सौंदर्यात्मक आनंद भी प्राप्त होता है।

१६. एक अज्ञात महिला के नाम पत्र
(४ अक्तूबर, १८६६)
(पालन में मिसाल और अनुकरण की भूमिका)

यह पत्रांश 'पालन और शिक्षण के बारे में स्फुट विचार' शीर्षक संग्रह में छपा था, जिसे लेव तोलस्तोय के सचिव और मित्र व० चेर्तकोव ने उनके संस्मरणों और पत्रों के आधार पर १६०२ में प्रकाशित किया था।

१७. प० इ० बिर्युकोव के नाम पत्र से
(१६०१)

यह अंश अपने मित्र प० इ० बिर्युकोव के नाम लेव तोलस्तोय के पत्र से लिया गया है। बिर्युकोव को स्विट्ज़रलैंड में तोलस्तोय द्वारा २१ मार्च, १६०१ को भेजा हुआ पत्र मिला था। उसमें तोलस्तोय ने स्वतंत्र स्कूलों की स्थापना की आवश्यकता पर जोर दिया था, जो शैक्षिक कार्य के आदर्श बन सकते हों। ऐसे स्कूलों के कार्यक्रम का खाका पेश करते हुए तोलस्तोय बिर्युकोव से इस प्रश्न पर अपनी राय बताने का आग्रह किया था। बिर्युकोव से स्वतंत्र स्कूलों की स्थापना में सहयोग का आश्वासन पाकर तोलस्तोय ने उन्हें एक और पत्र लिखा, जिसमें इन स्कूलों के काम के स्वरूप तथा सार के बारे में अपने विचारों को आगे विकसित किया। मई, १६०१ में लिखा हुआ यह पत्र १६१२ में 'स्वतंत्र स्कूल के बारे में' शीर्षक से प्रकाशित हुआ।

१८. पालन के बारे में
(व० फ़० बुल्गाकोव के पत्र का उत्तर)

वलेंतीन फ़्योदोरोविच बुल्गाकोव लेव तोलस्तोय के एक युवा मित्र थे। यह लेख तोलस्तोय ने उनके एक पत्र के उत्तर में लिखा था।

बुल्गाकोव तोलस्तोय के विश्वदृष्टिकोण के बारे में एक किताब लिख रहे थे। उसपर काम के दौरान उन्होंने पाया कि पालन और शिक्षा की समस्याओं के बारे में तोलस्तोय के पहले और बाद के कथनों

में विरोधाभास है। इस तथ्य की ओर ध्यान आकृष्ट किये जाने पर तोलस्तोय से बुल्गाकोव को एक पत्र मिला, जो 'स्वोबोद्नोये वोस्पितानिये' ('स्वतंत्र पालन') नामक पत्रिका के १६०६ के अंक २ में और फिर पूरी तरह १६३६ में संपूर्ण तोलस्तोय रचनावली में प्रकाशित हुआ। यहां इस पत्र का एक अंश दिया जा रहा है।

पत्र से मालूम होता है कि १८६० के वर्षों की तुलना में अपने आखिरी वर्षों में तोलस्तोय विद्यार्थियों की धार्मिक-नैतिक शिक्षा को बहुत अधिक महत्व देने लगे थे।

यास्नाया पोल्याना स्कूल में ईश्वरीय क़ानून के शिक्षण की याद करते हुए १६०२ में तोलस्तोय ने लिखा: "जब मैं स्कूल में पढ़ाता था, चर्च की शिक्षा के बारे में मेरा कोई स्पष्ट दृष्टिकोण न था, मगर उसे कोई महत्व न देते हुए मैं विद्यार्थियों से उसके बारे में बातें करने से कतराता था, और उन्हें जब बाइबिलीय इतिहास तथा इंजील पढ़ाता था, तो मुख्य रूप से ध्यान नैतिक शिक्षा की ओर खींचता था, तथा जो भी सवाल मुझसे किये जाते, उनका हमेशा ईमानदारी से जवाब देता था। अगर मुझे चमत्कारों के बारे में पूछा जाता, तो मैं कहता था कि मैं उनमें विश्वास नहीं करता हूं।" किंतु आगे चलकर तोलस्तोय इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि अध्यापक का काम बच्चों द्वारा पूछे जानेवाले धार्मिक और नैतिक सवालों का "सत्यपरक" जवाब देना है। उन्होंने लिखा: "अगर मुझे अब किसी बच्चे को उस धार्मिक शिक्षा का सार बताना होता, जिसे मैं सत्य मानता हूं, तो मैं उससे कहता कि हम इस दुनिया में अपनी इच्छा से नहीं रहते हैं, बल्कि उसकी इच्छा से आये और रहते हैं, जिसे हम भगवान के नाम से पुकारते हैं, और इसलिए हमारा भला इसी में है कि हम इस इच्छा को पूरा करें। और यह इच्छा यह है कि हम सब सुखी रहें। हम सब सुखी रहें, इसका एक ही साधन है: हर कोई दूसरे से वैसा बर्ताव करे, जैसा बर्ताव वह अपने साथ चाहता है।"

इस प्रश्न के उत्तर की खोज के सिलसिले में कि बच्चों को कैसी बातें सिखाना ठीक और हितकर है, लेव तोलस्तोय ने शिक्षा और स्कूली पढ़ाई की अंतर्वस्तु के बारे में मौलिक बातें कहीं। 'पालन के बारे में' शीर्षक लेख के कच्चे मसौदे में उन्होंने लिखा कि "ले-देकर सवाल एक ही रह जाता है: विद्यार्थियों को कैसी बातें सिखाना ठीक

और उपयोगी होगा? इस सवाल का जवाब देने के लिए चाहे मोटे तौर पर ही सही, ज्ञान के सारे क्षेत्र की कल्पना करना आवश्यक है।"

लेव तोलस्तोय के अनुसार मानवजाति के ज्ञान का सारा क्षेत्र मानव चेतना के एक केंद्रबिंदु से विभिन्न दिशाओं में जानेवाली असंख्य बहुविध और अनंत रेखाओं (त्रिज्याओं) जैसा था। केंद्र से निकलनेवाली त्रिज्याओं की संख्या के अनुसार ज्ञान न्यूनाधिक पूर्ण हो सकता है। चूंकि त्रिज्याओं की संख्या भी और लंबाई भी अनंत हैं, लेव तोलस्तोय का तर्क था, तो पूर्ण या लगभग पूर्ण भी कोई ज्ञान नहीं हो सकता। वह केवल न्यूनाधिक लयात्मक और आंतरिक संगतियुक्त ही हो सकता है। सर्वाधिक आंतरिक संगतियुक्त वह ज्ञान होगा, जिसमें केंद्र से निकलनेवाली त्रिज्याएं न्यूनाधिक सघन होंगी और एक दूसरी से समान दूरी पर स्थित होने के कारण संज्ञान के सभी पहलुओं से संबंध रखते हुए न्यूनाधिक सही वृत्त का निर्माण करेंगी। ज्ञान का ऐसा वितरण, जिसमें त्रिज्याएं समान दूरी पर होते हुए वृत्त का निर्माण करती हैं, पालन तथा शिक्षा में सर्वाधिक सहायक होगा। यदि ज्ञान असमान रूप से बंटा हुआ है, अगर त्रिज्याएं वृत्त के एक भाग में छोटी हैं तथा दूसरे भाग में लंबी, तो पालन तथा शिक्षा की सारी प्रक्रिया मिथ्या तथा अप्रभावी होगी।

१६. पालन के बारे में स्फुट विचार

ये उद्धरण लेव तोलस्तोय के १८८७ और १८६५ के बीच के पत्रों और डायरियों से लिये गये हैं और पहली बार १६०२ में 'लेव तोलस्तोय की शिक्षाशास्त्रीय रचनाएं' में छपे थे।

नाम-निर्देशिका

अज्ञेयवादी और भौतिकवादी प्रवृत्तियां प्रतिबिंबित हुईं। – ५४, ५६

कैसियोडोर (लगभग ४८७-५७८) – मध्ययुगीन विद्वान, राजनेता; मध्ययुगीन स्कालेस्टिक शिक्षा प्रणाली की नींव रखनेवाली अनेक रचनाएं लिखीं। – २३३

कोवालेव्स्की, येगोर पेत्रोविच (१८११-१८६८) – रूसी यात्री, लेखक और शिक्षामंत्री येव्ग्राफ़ पेत्रोविच कोवालेव्स्की के भाई। – २१, ३६

कोवालेव्स्की, येव्ग्राफ़ पेत्रोविच (१७९०-१८६७) – १८५८ से १८६१ तक रूस के सार्वजनिक शिक्षा मंत्री। – २१

खुद्याकोव, इवान अलेक्सांद्रोविच (१८४२-१८७६) – रूसी लोक गीतों, कथाओं, पहेलियों और कहावतों के संकलनकर्त्ता। – १२८, १३०, १३६

गांधी, मोहनदास कर्मचंद (१८६९-१९४८) – भारत के स्वाधीनता संग्राम के एक प्रमुख नेता और विचारधारा-प्रवर्तक। – १२

गुटेनबर्ग, योहान्न (लगभग १३९९-१४६८) – मुद्रणयंत्र के जर्मन आविष्कारक। – १७०

गेटे, योहान्न वोल्फ़गांग (१७४९-१८३२) – जर्मन साहित्यकार, विचारक, प्रकृति-अध्येता और नवीन युग के जर्मन साहित्य के शिलान्यासकर्ता। – २६७, २६९

गोगोल, निकोलाई वसीलियेविच (१८०९-१८५२) – रूसी साहित्यकार, रूसी साहित्य में आलोचनात्मक यथार्थवाद के विकास, व्यंग्य की विधा की जड़ें जमाने और जनवादी तथा मानवतावादी सिद्धांतों के प्रस्थापित होने में निर्णायक भूमिका अदा की। – १२९

ग्राकस, टाइबेरियस (१६२-१३३ ई० पू०) और **गायस** (१५३-१२१ ई० पू०) – भाई, प्राचीन रोम के राजनीतिक नेता और प्रवक्ता। – १६९

ग्रूबे, आगस्ट-विल्हेल्म (१८१६-१८८४) – जर्मन शिक्षाशास्त्री। इनकी

पुस्तक 'अंकगणित' की लेव तोलस्तीय ने कड़ी आलोचना की। – २२२-२२४

चेर्निशेव्स्की, निकोलाई गव्रीलोविच (१८२८-१८८९) – रूसी क्रांतिकारी-जनवादी, विद्वान और समीक्षक। मार्क्स, एंगेल्स और लेनिन ने चेर्निशेव्स्की के कार्यकलाप का उच्च मूल्यांकन किया है। – २३

जोलोतोव, वसीली अंद्रेयेविच (१८०४-१८८२) – रूसी शिक्षाशास्त्री, अनेक बहुप्रचलित पाठ्यपुस्तकों के लेखक। रूस में दृश्य शिक्षा पद्धति के प्रसार में योग दिया। – ७९, ८८, ८९, ९५, १३७

टामस अक्वीनस (१२२५-१२७४) – मध्ययुगीन दार्शनिक, धर्मशास्त्री। – २३३

डीस्टरवेग, अडोल्फ़ (१७९०-१८६६) – जर्मन जनवादी शिक्षाशास्त्री, योहान्न हेनरिख़ पेस्तालोच्ची के अनुयायी। – १८८

ड्यूमा, अलेक्ज़ैंडर (ज्येष्ठ ड्यूमा) (१८०२-१८७०) – फ़्रांसीसी साहित्यकार, ऐतिहासिक उपन्यासों के लेखक। – ५२

'नरोद्नोये च्तेनिये' ('जन पाठ') – १८५८-१८६२ में पीटर्सबर्ग से प्रकाशित पत्रिका। यह किसान तबक़े के पाठकों के लिए निकाली जाती थी। – १३१

पाउलसोन, इयोसिफ़ इवानोविच (१८२५-१८९८) – रूसी शिक्षाशास्त्री, पीटर्सबर्ग शिक्षाशास्त्र समाज के एक संस्थापक। – २२३, २२४

पामरस्टन, हेनरी जान टेम्पुल (१७८४-१८६५) – अंग्रेज़ राजनेता, १८५५-१८५८ में ग्रेट ब्रिटेन के प्रधानमंत्री। लंदन में तोलस्तोय ने संसद में पामरस्टन के भाषण सुने थे। – ११२, २४१, २४८

पुश्किन, अलेक्सांद्र सेर्गेयेविच (१७९९-१८३७) – रूसी साहित्यकार, आधुनिक रूसी साहित्य और रूसी साहित्यिक भाषा के जन्मदाता। – ३१, १२९, १३६, १७८, १७९, १८०

पेरेव्लेस्स्की, प्योत्र मिरोनोविच (मृत्यु – १८६६) – शिक्षाशास्त्री, रूसी

हर्ज़ेन, इ० स० तुर्गेनेव, फ़० म० दोस्तोयेव्स्की और अन्य लेखकों का सहयोग लिया। १८५४ से न० ग० चेर्निशेव्स्की और फिर रूसी लेखक और समीक्षक न० अ० दोब्रोल्यूबोव भी 'सोव्रेमेन्निक' से सक्रिय रूप से जुड़ गये, जिनके निदेशन में वह क्रांतिकारी जनवाद के विचारों का प्रचार करनेवाली एक सबसे अधिक प्रगतिशील पत्रिका बन गयी। पत्रिका १८६२ में चेर्निशेव्स्की की गिरफ़्तारी के बाद कुछ वर्ष तक और निकलती रही। १८६६ से ज़ारशाही सरकार ने उसे बंद करवा दिया। – ३३६

स्नेगिर्योव, इवान मिख़ाइलोविच (१७९३-१८६८) – मास्को विश्व-विद्यालय में प्रोफ़ेसर, रूसी इतिहास, रूसी भाषा तथा साहित्य के बारे में अनेक किताबें लिखीं, रूसी कहावतों के कोश तैयार किये। – १३७, २६१, २६२

हर्ज़ेन, अलेक्सांद्र इवानोविच (१८१२-१८७०) – रूसी साहित्यकार, दार्शनिक और राजनीतिक नेता। यूरोपीय राजनीति और रूस की आंतरिक दशा के बारे में अनेक रचनाएं लिखीं। ज़ार के एकतंत्र, नौकरशाही तथा भूदास प्रथा के घोर विरोधी थे और ज़ारशाही पर जनता की विजय के लिए संघर्ष किया। – १३

हेगेल, गेओर्ग विल्हेल्म फ़्रीडरिख़ (१७७०-१८३१) – महान जर्मन दार्शनिक; विषयनिष्ठ प्रत्ययवाद के आधार पर द्वंद्ववाद के सुव्यवस्थित सिद्धांत का प्रतिपादन किया। – ५४, २२६

होमर – प्राचीन यूनानी महाकवि, जिसे परंपरा 'इलियड' और 'ओडिसी' का रचनाकार बताती है। – २३७, २४५

पाठकों से

प्रगति प्रकाशन इस पुस्तक की विषय-वस्तु, उसके अनुवाद और डिज़ाइन के बारे में आपके विचार जानकर अनुगृहीत होगा। आपके अन्य सुझाव प्राप्त करके भी हमें बड़ी प्रसन्नता होगी। कृपया हमें इस पते पर लिखिये:

प्रगति प्रकाशन,
१७, ज़ूबोव्स्की बुलवार,
मास्को, सोवियत संघ।